हिन्दी

निबंध

यज्ञदत्त

हिन्दी लघु निबंध

यज्ञदत्त शर्मा

लाइब्रेरी बुक सेन्टर

HINDI LAGHU NIBANDHA

By

YAGYA DUTT SHARMA

Rupees Sixty only

मूल्य : 60 रुपये मात्र / संस्करण : प्रथम / प्रकाशन वर्ष : 1985 / मुद्रक : मानस प्रिंटिंग प्रेस, 9/4753 पुराना सीलमपुर, दिल्ली / पुस्तक बंध : गौतम बुक बाईन्डर्स विश्वासनगर, दिल्ली / आवरण : कला संगम, कालका जी, नई दिल्ली / प्रकाशक : लाइब्रेरी बुक सेन्टर, मालीवाड़ा, दिल्ली।

हिन्दी लघु निबंध यज्ञदत्त शर्मा

अनुक्रमणिका

वीरगाथा काल का साहित्य-1

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-पण्डितों ने भाषा के इतिहास को चार भागों में विभाजित किया है। वीरगाथा-काल, भक्ति-काल, रीतिकाल तथा आधुनिक काल। इस प्रकार वीरगाथा-काल का स्थान इन चार कालों में ऐतिहासिक दृष्टिकोण में सर्वप्रथम आता है। इस काल का समय संवत् 1050 से 1375 तक माना गया है और भाषा के उत्थान और क्रमिक विकास के विचार से यह बहुत महत्त्वपूर्ण काल है।

जिस समय से यह काल प्रारम्भ होता है उस समय भारतवर्ष में व्यवस्थित राज्य-सत्ता का अभाव था और समस्त देश छोटे-छोटे मनचले राजाओं के राज्यों में विभाजित था। प्रत्येक राज्य का पृथक्-पृथक् निरंकुश राजा था और वह अपनी मनमानी आकांक्षाओं के अनुसार राज्य करता था। राजे भी सभी प्राय: वीर थे परन्तु संगठन न होने के कारण देश बहुत दुर्बल बना हुआ था और इसलिए विदेशियों की लालच से भरी दृष्टि भारत की धन-सम्पति पर जमी हुई थी। भारत के राजाओं की शक्ति का ह्रास आपस में लड़-भिड़कर होता जा रहा था और एक दूसरे की कन्याओं को बलपूर्वक स्वयंवरों में से भगा लाना मात्र ही केवल उनके युद्ध-कौशल के प्रदर्शन का क्षेत्र था। इस प्रकार आपस में वैमनस्य बढ़ाकर अपनी शक्ति का अपव्यय करना ही उनका गौरव बन गया था।

हिन्दी कविता इस काल में केवल दरबारों में पलती थी और कवि लोग विशेष रूप से चारण होते थे। जिनका उद्देश्य अपने आश्रयदाता वीर राजाओं का गुणगान गाना होता था। देश में फूट थी, विलासिता थी, आलस्य था परन्तु फिर भी वीर राजाओं का एकदम ह्रास नहीं हो गया था। इसी समय वीर पृथ्वीराज दिल्ली का राज्यधिकारी हुआ परन्तु स्वयंवरों से डोला लाने वाली प्रथा से अपने को मुक्त वह भी न कर सका। संयोगिता का डोला उठाकर लाने का मूल्य उसे क्या देना पड़ा, यह भारत-निवासी युग-युग तक नहीं भुला सकेंगे।

इस काल में हिन्दी का जितना भी साहित्य-सृजन हुआ वह विशेष रूप से दो ही रसों से ओत-प्रोत था—एक शृंगार तथा दूसरा वीर रस। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस काल में वीरता का प्रदर्शन भी शृंगार के आश्रित

ही होकर चलता था, अर्थात् श्रृंगारिक भावनाओं की पूर्ति के लिए ही वीरता का प्रदर्शन किया जाता था और कवियों ने भी अपने नायकों में दोनों ही गुणों की प्रधानता दिखलाई है। इसलिए इस काल के कवियों के नायक रसिक भी हैं और वीर भी। रसिकता उनका प्रधान गुण है और उस रसिकता के क्षेत्र में आने वाली बाधाओं को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए उन्होंने अपने बल-कौशल तथा पराक्रम का प्रयोग किया है। इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थ नाम-मात्र के सुनने तथा देखने से ऐतिहासिक-से प्रतीत होते हैं परन्तु यदि उनको आद्योपांत पढ़कर देखा जाय तो उनमें ऐतिहासिकता का अभाव पाया जाता है। इन ग्रन्थों की कथाओं में केवल नाम के लिए ऐतिहासिकता रहती तो है—परन्तु वास्तव में सब कथाएँ आख्यायिकाओं पर आधारित हैं। कल्पना और कवि-स्वच्छंदता को उनमें विशेष स्थान दिया गया है। इन ग्रन्थों में अतिशयोक्तियों की इतनी भरमार है कि कहीं-कहीं पर तो पाठक संसार को भूलकर आकाश में उड़ने लगता है और वास्तविकता उस समय उसे कोरा उपहास-मात्र प्रतीत होती है।

इस काल के ग्रन्थों में वीरतापूर्ण युद्धों के बहुत सजीव चित्रण मिलते हैं और उन वर्णनों में जिन छन्दों तथा जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह वीर रस को व्यक्त करने में बहुत उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। एक विशेष बात इस काल के ग्रन्थों में यह है कि कई-कई प्रकार की भाषाओं का प्रयोग है और उसमें यह भी भ्रम हो जाता है कि वह ग्रन्थ उस समय और उस लेखक का लिखा हुआ भी है अथवा नहीं, कि जिस काल में जिस लेखक द्वारा लिखित उन्हें माना जाता है। यही कारण है कि इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता जाँचने के लिए काफी खोज करनी पड़ी है।

प्रायः सभी ग्रन्थ वीरगाथा काल में देशज और अपभ्रंश भाषा में लिखे गये हैं। दोहा, छप्पय, कवित्त तथा कुण्डलियाँ इत्यादि छन्दों का प्रयोग इन सब ग्रन्थों में है। काव्य प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों ही प्रकार के पाये जाते हैं। उर्दू और फारसी भाषा के शब्द भी इस समय की कविता में पाये जाते हैं।

इस काल के कवि केवल कवि ही नहीं होते थे वरन् वह तलवार के भी वैसे ही धनी थे जैसे लेखनी के। इन चारण कवियों का ध्येय साहित्य-सेवा उतना नहीं होता था जितना स्वामी-सेवा और इसलिए यह रणक्षेत्र में जाकर युद्ध की आग में कूदना और जंग में तलवारें नचाना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे। इनकी ओजस्विनी कविता वीरों में उत्साह का संचार करती थी और उन्हें युद्ध-क्षेत्र में सीना तानकर मतवाला बना देती थी। उनकी कविता को सुनकर योद्धाओं के भुजदण्ड फड़कने लगते थे और वह सिर पर कफन बाँधकर रण-भूमि में जूझ जाते थे।

हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका इस काल के अपभ्रंश काव्य हैं तथा

विद्यापति की पदावली, खुसरो की पहेलियाँ, जयचन्द-प्रकाश, पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो इत्यादि देशज भाषा में लिखे गये प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इस काल का सबसे प्रसिद्ध कवि पृथ्वीराज रासो का लेखक चन्दबरदाई है। पृथ्वीराज तथा चन्दबरदाई इस काल के प्रतीक हैं। इन्हीं दो व्यक्तियों पर केन्द्रित होकर इस काल का निर्माण हुआ है।

भाषा, इतिहास और साहित्य तीनों ही दृष्टिकोणों से वीरगाथा-काल बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह हिन्दी भाषा का प्रारम्भिक काल है जिसमें राष्ट्र-भाषा का निर्माण और वीरता-पूर्ण काव्य का सृजन हुआ है। परन्तु खेद की बात है कि वीरगाथा-काल होते हुए भी इस समय का कोई पूर्ण ग्रन्थ हमें ऐसा नहीं मिलता जिसमें स्वतन्त्रता या राष्ट्रीय भावना से पूर्ण विचार मिलते हों इसका प्रधान कारण यही है कि इस काल में राष्ट्रीयता का सर्वथा अभाव था और कवि अपना उत्तरदायित्व देश अथवा राष्ट्र के प्रति न समझकर उन शृंगारिक राजाओं के प्रति ही समझते थे जिनकी वीरता का प्रदर्शन भी राजकुमारियों के डोलों पर ही अटका हुआ रहता था।

हिन्दी में निर्गुण-साहित्य धारा-2

भारत में सम्पूर्ण रूप से मुसलमान शासन-सत्ता स्थापित हो जाने पर हिन्दू गौरव और वीरता के लिए बहुत कम स्थान रह गया था। स्थान-स्थान पर देव-मन्दिर गिराये जा रहे थे, और उनके स्थान पर मस्जिदें बन रही थीं। मुसलमान पूरी तरह भारत-भूमि में बसते चले जा रहे थे; शासक और शासित होते हुए भी दो जातियों का एक दूसरी से पृथक् रहकर जीवन-निर्वाह करना कठिन था। इसलिए दिन-प्रतिदिन इन दोनों को एक दूसरे के निकट आना पड़ा और आपस के मिलने की भावना को प्रचारित करने के लिए कुछ सन्त-कवियों ने इस काल में जन्म लिया।

ऐसी परिस्थिति में देश के अन्दर एक 'सामान्य भक्ति-मार्ग' का विकास हुआ जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों ने ही सहयोग दिया। इस 'सामान्य भक्ति-मार्ग' के विकास का मार्ग वीरगाथा-काल में ही सिद्ध और नाथपन्थी योगी निर्धारित कर चुके थे; परन्तु उस काल में उसे देश की अव्यवस्थित राजनीति होने के कारण कोई व्यवस्थित रूपरेखा नहीं दी जा सकी थी सिद्ध और नाथ योगियों के मत से वेद, शास्त्र, पूजा, अर्चना, सब व्यर्थ था; ईश्वर को वह घट-घट में मानते थे। हिन्दू और मुसलमान इनके निकट एक थे और वह जाति-पाँति के भेद-भाव में विश्वास नहीं रखते थे। इसी समय दक्षिण से आने वाली शक्ति की लहर ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतिपादन किया और (सं०1328-1408) महाराष्ट्र

के प्रसिद्ध भक्त नामदेव ने भी इसी मत का प्रचार किया।

हिन्दी-साहित्य में इस विचार को लेकर एक युग का निर्माण करने वाला व्यक्ति सन्त कबीर था। कबीर ने एक ओर तो निराकार ब्रह्म के निरूपण में भारतीय वेदान्त को अपनाया और दूसरी ओर भक्ति के क्षेत्र में प्रेम-तत्त्व का निरूपण करने के लिए सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। नाथपन्थियों के नीरस उपदेशों से शुष्क पड़े जनता के हृदयों में कबीर ने सूफी प्रेम-भावना का स्रोत बहाकर उन्हें परिप्लावित कर दिया। कबीर ने अपनी कविता में मानवता के महान् आदर्शों का निरूपण किया और जनता के हृदयों से जातीयता की संकुचित भावना को नष्ट करके प्रेम-भावना भरने का भरसक प्रयत्न किया।

कबीर तथा अन्य निर्गुण-पन्थी सन्तों ने भक्ति तथा योग का संयोग करके कर्म के क्षेत्र में नाथपन्थियों के ही सिद्धान्तों को अपनाया। सन्तों के लिए ईश्वर का स्वरूप ज्ञान और प्रेम तक ही सीमित रहा। धर्म के क्षेत्र में वह पदार्पण नहीं कर सके। ईश्वर के जिस धर्म-स्वरूप को लेकर लोकरंजन की महान् भावना के साथ रामभक्ति-शाखा का निर्माण गोस्वामी तुलसीदास जी ने किया उसका सन्त-साहित्य में सर्वथा अभाव ही बना रहा।

सन्त कबीर का एकेश्वरवाद इस प्रकार एक अनिश्चित रूप को लेकर खड़ा हुआ, जिसमें कभी ब्रह्मवाद की झलक दिखाई देने लगती है और कभी पैगम्बरों को खुदावाद की। सन्त कबीर का यह पन्थ निर्गुण-पन्थ कहलाया। इस पन्थ में जो प्रधान प्रगति पाई जाती है वह है एकता की भावना, जाति-भेद; समाज-भेद, स्थान-भेद और काल-भेद रहित। निर्गुण पन्थ में हिन्दु और मुसलमानों ने समान रूप से आस्था रखी है। 'राम-रहीम' की एकता का वर्णन सन्त कवियों ने उन्मुक्त कण्ठ से किया है।

सन्त कवियों की वाणी इतनी स्पष्ट नहीं है जितनी कि वैष्णव कवियों की कविता में मिलती है। इसका प्रथम कारण यही है कि वह लोग ज्ञान और प्रेम को मिलाकर जो विचार प्रकट करते थे उसे अटपटी भाषा में कहना उनके लिए कठिन हो जाता था। इस मत के प्रतिपादकों में विद्वत्ता का अभाव रहा है इसलिए साहित्यिक दृष्टि से उसमें उतना सौन्दर्य नहीं आ पाया है जितनी विचारों की गहनता। सन्त कबीर ने रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा अपने भावों का प्रदर्शन किया है। और कहीं-कहीं पर भाव इतने गहन हो गये हैं कि उनका सही अर्थ लगाना भी कठिन हो जाता है।

कबीर, रैदास, धर्मदास, गुरु नानक, दादू दयाल, सुन्दरदास, मलूकदास इत्यादि इस धारा के प्रधान कवि हैं।

हिन्दी में सूफी-साहित्य धारा-3

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर 17 वीं शताब्दी के अन्त तक हिन्दी साहित्य में निर्गुण तथा सगुण दोनों ही धाराओं का प्रचार समान रूप से चलता हुआ दृष्टिगोचर होता है। निर्गुण भक्ति के क्षेत्र में जहाँ सन्त साहित्य का प्रसार दिखाई देता है वहाँ तक उसी के साथ-साथ विशुद्ध प्रेम की भावना से ओत-प्रोत साहित्य भी मिलता है। इसे और अधिक स्पष्ट शब्दों में यों समझना चाहिए कि निगुर्ण भक्ति-धारा के दो पृथक्-पृथक् रूप बन गये, जिसके पहले रूप का नाम ज्ञानाश्रयी शाखा पड़ा और दूसरी का प्रेमाश्रयी शाखा।

प्रेमाश्रयी शाखा विशुद्ध सूफी सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी कवियों ने अपनायी जिसके फलस्वरूप हिन्दी में प्रेम-आख्यायिकाओं के साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। इस शाखा के कवियों ने अपने प्रेम-मार्ग और उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन कल्पित कहानियों द्वारा किया। इन कवियों के लौकिक प्रेम में इश्वरीय झलक डालने का प्रयत्न किया है और अपनी कविताओं में 'प्रेम की पीर' पर विशेष रूप से लिखा है। इन कहानियों में राजकुमार और राजकुमारियों के प्रेम को लेकर ही कवि चलता है। राजकुमार राजकुमारी के अलौकिक सौन्दर्य पर आसक्त होकर संसार की सब बिभूतियों, यहाँ तक कि अपनी स्त्री और घर-बार से भी नाता तोड़ देता है, और पागल वैरागी बनकर उस राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए निकल पड़ता है। उस राजकुमारी को प्राप्त करने में अनेकों कष्ट उठाता है और अन्त में उसके लिए अपने प्राणों तक को त्यागने को उद्यत हो जाता है। इस त्याग के फलस्वरूप वह उस राजकुमारी को प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार कवि के विचार से आत्मा और परमात्मा का मिलन हो जाता है।

इन सूफी कवियों ने प्रायः वही कहानियाँ ली हैं जिनकी कथाएँ हिन्दू-गाथाओं में प्रसिद्ध हैं और इस प्रकार हिन्दू-कथाओं में सूफी सिद्धान्तों की पुट देकर उन्होंने अपने काव्यों को हिन्दू-मुस्लिम समन्वय के योग्य बनाने का प्रयत्न किया है। सन्त कवियों की ही भाँति इन कवियों में भी जाति-भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं पाया जाता।

प्रेम-मार्गी शाखा के कवि सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक सहृदय थे। इनकी कविताओं में भी स्थान-स्थान पर योग की रूढ़ियाँ मिलती अवश्य हैं परन्तु फिर भी कविता के अधिकांश भाग सरसता-पूर्ण ही हैं। प्रेम-चित्रण कवियों ने खूब किया है और स्थान-स्थान पर मनुष्य के साथ-साथ, पक्षी, पेड़-पौधों तक के साथ सहानुभूति और उससे कविता का महत्त्व उथलेपन के साधारण स्तर से उठकर विचार-क्षेत्र के इन कवियों की विशेषता है।

इन सूफी कवियों के प्रेम-काव्यों में सन्त कवियों जैसी खण्डन और मण्डन

की प्रवृत्ति नहीं मिलती। इनकी कविता आद्योपांत मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने वाली होती थी। प्रेम का जितना सजीव चित्रण इन कवियों ने किया है उतना हिन्दी-साहित्य में अन्य कवि नहीं कर पाये। सरस कविता के बीच-बीच में जो इन्होंने रहस्यमय परोक्ष की भावना का समावेश किया है वह कविता को बहुत रहस्यमय बना देता है और उससे कविता का महत्त्व उथलेपन के साधारण स्तर से उठकर विचार-क्षेत्र के ऊँचे धरातल पर पहुँच जाता है।

प्रेम-मार्ग की इस शाखा का प्रतिनिधि कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं और 'पद्मावत' इस काल का सर्व-प्रसिद्ध एवं सुन्दर ग्रन्थ है। हिन्दी साहित्य के प्रबन्ध काव्यों में रामचरितमानस के पश्चात् पद्मावत का ही स्थान है। प्रेमाश्रयी शाखा के रहस्यवाद में भावनात्मकता का अभाव नहीं पाया जाता। जायसी के अतिरिक्त कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख नबी कासिमशाह और नूरमुहम्मद इस धारा के अन्य प्रसिद्ध कवि हैं।

4-हिन्दी में राम-साहित्य धारा

सं० 1073 के आस-पास स्वामी रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद का वह रूप जनता के सम्मुख रखा जिसके अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सब प्राणी हैं और यह सब उसी में लय हो जाते हैं। इसलिए इन जीवों को अपने उद्धार के लिए नारायण की भक्ति करनी चाहिए। इस सिद्धान्त के आधार पर रामानुजाचार्य ने श्री सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसने देश में फैलकर नारायण की उपासना और भक्ति का प्रचार किया। इनके पश्चात् इस वैष्णव श्री सम्प्रदाय में प्रधान आचार्य श्री राघवानन्द जी हुए और फिर उन्होंने रामानन्द जी को दीक्षा दी। भक्तमाल के अनुसार रामानन्द जी के बारह शिष्य कहे गए हैं—सनंतानन्द, सुखानन्द, सुरसुरानन्द, नरहर्यानन्द, भवानन्द, पीपा, कबीर, सेन, धना, रैदास, पद्मावती और सुरी। इन सभी ने राम-नाम की महिमा गाई है।

हिन्दी-साहित्य में निर्गुण धारा के साथ-साथ 15 वीं शताब्दी के अन्त से लेकर 17 वीं शताब्दी के अन्त तक सगुण-भक्ति शाखा तथा कृष्ण भक्ति-शाखा दोनों ही आती हैं। यहाँ हम केवल राम-भक्ति शाखा पर ही प्रकाश डालेंगे, परन्तु इनके राम में और वैष्णव-सम्प्रदाय के राम में सर्वदा अन्तर रहा है। कबीर इत्यादि ने जिस मत का प्रतिपादन किया है वह निर्गुण ब्रह्म की उपासना है।

यह सत्य है कि श्री रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा-द्वारा भक्ति की देश में पुष्टि होती चली आ रही थी और भक्तों ने अपनी छोटी-मोटी कविताओं द्वारा सरसता के साथ राम-नाम को देशवासियों के हृदय में उतारने का प्रयत्न

किया था और बहुत-कुछ अंशों में वह उसमें सफल भी हुए थे, परन्तु हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में राम महिमा का सजीव गान करने वाला सर्वप्रथम सफल कवि तुलसी ही हुआ है। 17 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदास जी की प्रतिभा हिन्दी-भाषा में प्रस्फुटित हुई। अपनी सर्वमुखी प्रतिभा तथा कलाओं के साथ कवि ने भारत में अपने इष्टदेव राम को लेकर जनता के हृदयों पर सिंहासन जमाया। कवि की कविता का चमत्कार अब अपने पूर्ण ओज और माधुर्य के साथ भक्तों के प्राणों में समा गया। "राम-भक्ति का परम विषद् साहित्यिक संदर्भ भक्तशिरोमणि कविवर तुलसीदास द्वारा ही संघटित हुआ, जिससे हिन्दी-काव्य की प्रौढ़ता के युग का आरम्भ हुआ।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

गोस्वामी तुलसीदास ने राम-भक्ति का जो स्वरूप जनता के सम्मुख रखा उसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सर्वाङ्ग-पूर्णता है। जीवन के सभी पक्षों पर कवि ने पूरी सहृदयता के साथ प्रकाश डाला है, कवि का न कर्म तथा धर्म से विरोध है और न ज्ञान से। तीनों ही विचारावलियों में आपने सामंजस्य स्थापित किया है और यही कारण है कि तुलसी का राम सबके हृदय का राम बन सका। तुलसी की भक्ति में कर्म और धर्म दोनों की रसानुभूति है। योग का भी सर्वथा लोप उसमें नहीं मिलता परन्तु केवल इतना जितना ध्यान को एकाग्र करने के लिए आवश्यक है।

हिन्दी-साहित्य में जिस राम-भक्ति-धारा को कवि ने प्रवाहित किया है उसमें सब धर्मों के लिए समान स्थान है, विरोध किसी का भी नहीं मिलता। अपनी सामंजस्य-प्रवृत्ति द्वारा कवि ने शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को रोका। कवि ने एक तरफ़ लोक-धर्म और भक्ति-भावना का मेल कराया है तो दूसरी ओर कर्म, ज्ञान और उपासना में सामंजस्य स्थापित किया है। भक्ति को चरम सीमा तक पहुँचाने पर भी कवि ने लोक को सर्वथा छोड़ा नहीं है। लोक-संग्रह तुलसीदास की भक्ति का प्रधान गुण है। यह लोक-संग्रह की भावना न तो कृष्ण-भक्ति शाखा के ही अन्तर्गत मिलती है और न प्रेम और ज्ञान मार्गियों के अन्दर ही। कवि केवल उपास्य तथा उपासक ही सीमित नहीं रह गया है वरन् उसने लोक-व्यापक अनेक समस्याओं पर भी ध्यान दिया है और अपने काव्य को सब प्रकार से कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि राम-भक्ति-शाखा की वाणी अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक मंगलका-रिणी होने से भारत की जनता में सबसे ऊँचा स्थान बना सकी है। भारतीय जनता कृष्ण-उपासना भी कम नहीं करती परन्तु जो सम्मान रामचरितमानस को प्राप्त हुआ है वह सूर-सागर को प्राप्त नहीं हो सका।

इस शाखा के प्रधान कवि तुलसीदास हैं और इनके अतिरिक्त हृदयराम इत्यादि भी हुए हैं। इस धारा में हमें अधिक कवि नहीं मिलते। इसका कारण

स्पष्ट ही है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस साहित्य में जिस परम्परा को अपनाया है उसमें कवि के लिए उतनी स्वच्छन्दता नहीं है जितनी कृष्ण-भक्ति-शाखा में है । कवि को परिमार्जित क्षेत्र में ही रचना करनी होती है और उसकी कल्पनाओं को उड़ान लेने में कठिनाई होने के कारण रचना करने का साहस अन्य कवि नहीं कर पाते ।

यों राम साहित्य पर लेखनी उठाने वाले दो अन्य कवियों को भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि साहित्यिक दृष्टिकोण से उनके ग्रन्थ भी अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। इनमें पहला कवि केशवदास है जिसने 'रामचंद्रिका' लिखी। रामचन्द्रिका पृथक्-पृथक् लिखे हुए पदों का संग्रह-सा जान पड़ता है और उसमें कथा-प्रवाह का अभाव है। यह ग्रन्थ जनता में प्रसिद्धि नहीं पा सकता, क्योंकि इसे समझना साधारण पाठक के लिए कठिन है। राम-विषयक होते हुए भी यह ग्रन्थ राम-भक्ति से सम्बन्धित है ऐसा नहीं जान पड़ता। दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साकेत' है जिसे वर्तमान युग के प्रख्यात कवि श्री मैथिलीशरण जी ने लिखा है। इस ग्रन्थ में भी मानस का गाम्भीर्य नहीं आ पाया और इसके पठन-पाठन का क्षेत्र भी स्कूल के विद्यार्थियों से आगे नहीं बढ़ सका ।

राम-भक्ति शाखा का प्रभाव हिन्दी साहित्य में सभी दिशाओं में हुआ है । राम साहित्य न तो किसी शैली विशेष तक ही सीमित रहा और न किसी छन्द अथवा काव्य विशेष तक ही। प्रायः समय की सभी प्राचीन शैलियों में इस साहित्य का सृजन हुआ है। वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंग आदि भाटों की कविता या सवैया-पद्धति, कबीरदास की दोहा-पद्धति, चौपाई पद्धति सभी का प्रयोग राम साहित्य में प्रचुरता के साथ मिलता है । काव्य-क्षेत्र में मुक्तक और प्रबन्ध सभी प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए हैं और रामचरितमानस हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ आज तक माना जाता है। राम-भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में नौ के नौ रसों का प्रयोग सरसता से किया है और प्रायः सभी प्रकार के अलंकार भी इनकी रचनाओं में खोजने से मिल जाएँगे । इस प्रकार हर तरह से राम-भक्ति-शाखा ने हिन्दी-साहित्य के भंडार की पूर्ति की है और हिन्दी-साहित्य को इस भक्ति-धारा का महान् ऋणी होना चाहिए ।

5-हिन्दी में कृष्ण-साहित्य धारा

15 वीं और 16 वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का प्रचार भारत में बड़े जोर के साथ हुआ और उस समय के प्रचारकों में श्री वल्लभाचार्य का नाम विशेष उल्लेखनीय है । यह वेद शास्त्र में पारंगत और धुरंधर विद्वान थे । शंकराचार्य

के मायावाद ने भक्ति को जिस अविद्या की कोटि में रख दिया था और इसी से रामानुजाचार्य से लेकर वल्लभाचार्य तक सब अपने को उसी से मुक्त करना चाहते थे। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म में शंकराचार्य के मतानुसार न केवल निर्गुण सत्ता को ही माना वरन् सर्व गुण और धर्मों का समावेश उसमें किया और सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्मकृति कहा। आपने माना कि श्रीकृष्ण जो परब्रह्म हैं, जो सब दिव्य गुणों से युक्त होकर 'पुरुषोत्तम' बने हैं, उन्हीं में सत्चित् और आनन्द का समन्वय है। "कृष्ण अपने भक्तों के लिए 'व्यापी' बैकुण्ठ में (जो विष्णु के बैकुण्ठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ करते रहते हैं। 'गोकुल' इसी व्यापी बैकुण्ठ का एक खण्ड है जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि हैं। भगवान् की इस 'नित्य लीला-सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।"

—रामचन्द्र शुक्ल

रामानन्द की भाँति श्री वल्लभाचार्य ने भी देशाटन करके अपने मत का प्रचार किया, परन्तु हिन्दी-साहित्य में वैष्णव-सम्प्रदाय के इस पुष्टि मार्ग को सफलतापूर्वक लाने का श्रेय सूरदास को ही प्राप्त है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार संवत् 1580 के आस-पास सूरदास जी गऊघाट पर श्री वल्लभाचार्य के शिष्य बने और तभी उन्होंने सूरदास को अपने श्रीनाथ मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौंपी। श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलदास ने इस धारा के कवियों का संगठन करके 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। अष्टछाप में आठ कवि थे—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। कविवर सूरदास इस धारा के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं जिन्होंने सूरसागर, सूर-सरावली, साहित्य-लहरी इत्यादि कई ग्रन्थ लिखे। कवि-वर सूरदास के बाद नन्ददास का नाम आता है।

कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने रामभक्ति-शाखा के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत लोकरंजन की भावना को भुलाकर कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति के आधार पर ही प्रेम-तत्त्व का विस्तार के साथ वर्णन किया है। प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए कृष्ण का आनन्दमय स्वरूप ही अष्टछाप के कवियों ने पाया है। इन कवियों ने अनन्त सौन्दर्य और हास-विलास के समुद्र में ही गोते लगाये हैं, प्रजा-रक्षक और प्रजा-पालक कृष्ण के रूप का निरूपण नहीं किया। यह कृष्ण-भक्त कवि अपने रंग में मस्त रहने वाले प्रेमी जीव थे। संसार से मुक्त, तुलसी-दास के समान लोक का इन्हें कोई ध्यान नहीं था। इन्हें यह भी ध्यान नहीं था कि समाज किधर जाएगा? यह तो अपने भगवद्प्रेम में मस्त थे और उसकी भक्ति के लिए श्रृंगारिक कविता द्वारा रसोन्मत्त कर देना चाहते थे। यही कारण है कि जिस राधा और कृष्ण को इन विशुद्ध भक्त कवियों ने अपनी कृष्ण-भक्ति का साधन बनाया वही राधा और कृष्ण रीतिकालीन कवियों के

लिए केवल नायक और नायिका के रूप में रह गये।

राधा-कृष्ण के चरित्रों के गान ने जो गीत-काव्य की परम्परा जयदेव और विद्यापति ने चलाई थी वही अष्टछाप के कवियों ने भी अपनायी। इस प्रकार इस भक्ति और शृंगार के क्षेत्र में मुक्तक पदों का ही प्रचार हुआ, प्रबन्ध की ओर कवियों का ध्यान नहीं गया। इस धारा के कवि इतनी स्वच्छन्द प्रकृति के थे कि वह प्रबन्ध-काव्य के झमेले में पड़कर अपने को बन्धन में बाँधना भी पसंद नहीं करते थे। बहुत बाद में संवत् 1909 में ब्रजवासीदास ने दोहा-चौपाई में एक ग्रन्थ मानस की तरह लिखा भी परन्तु वह साहित्य में विशेष स्थान नहीं पा सका। कवि-स्वच्छन्दता के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य न लिखा जाने का दूसरा प्रधान कारण यह भी था कि कृष्ण भगवान् के चरित्र का जितना अंश इन कवियों ने अपनी कविताओं में चित्रित किया है, वह अच्छे प्रबन्ध काव्य के लिए पर्याप्त भी नहीं था। मानव-जीवन की अनेकरूपता का समावेश उसमें नहीं हो सकता था। कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने अपने काव्य में केवल कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीलाओं को ही लिया है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों ने वात्सल्य और शृंगार-रस के वर्णनों को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया।

सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत की कथा को गाया है। सूर-सागर में भागवत के दशम स्कन्ध की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है। उसमें कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा जाने तक का वर्णन है। कृष्ण की भिन्न-भिन्न लीलाओं पर अनेकों सुन्दर पद लिखे हैं। कवि ने सरल ब्रजभाषा का बहुत सरसता के साथ प्रयोग किया है। "जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले कवियों में गोस्वामी तुलसी-दास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्ण-चरित् का गान करने वाले भक्त कवियों में भक्त सूरदास का। वास्तव में यह हिन्दी-काव्य-गगन के सूर्य और चन्द्र हैं। हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ और इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।"

—रामचन्द्र शुक्ल।

वात्सल्य के ही समान शृंगार, संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों पर इस धारा के कवियों ने अनूठी कविताएँ की हैं। जब तक कृष्ण गोकुल में रहते हैं उस समय तक तमाम जीवन संयोग-पक्ष में रहता है और मथुरा चले जाने पर वियोग-पक्ष प्रारम्भ हो जाता है। दान-लीला, माखन-लीला, चीरहरण-लीला, राम-लीला इत्यादि पर सहस्रों सुन्दर पद इस धारा के कवियों ने लिखे हैं। शृंगार-वर्णन में भाव और विभाव पक्ष दोनों का ही विस्तृत और अनूठा वर्णन कवियों ने किया है। राधाकृष्ण के रूप-वर्णन का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। कवियों ने काव्य-सुलभ सभी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्तियों को समाप्त कर दिया है। प्रकृति-चित्रण भी कवियों ने किया है परन्तु वह स्वतन्त्र

रूप से नहीं आ पाया है। कालिन्दीकूल पर शरत-चाँदनी का सजीव चित्रण मिलता है। कुँज वन का भी अच्छा वर्णन किया गया है। वियोग-पक्ष में सूर और नंददास के भ्रमरगीत काव्य-क्षेत्र में अपनी विशेषता रखते हैं।

अष्टछाप के कवियों के अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति-शाखा में अन्य कई उल्लेखनीय कवि आते हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ परमावश्यक है। हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, मीराबाई, सूरदास, मनमोहन, श्री भट्ट, व्यास जी, रसखान इत्यादि का इनमें विशेष स्थान है। मीरा और रसखान की सरसता सूर के अतिरिक्त अन्य विषयों में नहीं पाई जाती। इस प्रकार कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों ने अपनी अमूल्य रचनाओं द्वारा हिन्दी-साहित्य के भंडार को भरा है।

हिन्दी में रीति-साहित्य धारा-6

हिन्दी-साहित्य के इतिहासज्ञों ने रीति-काल का प्रारम्भ सम्भवत् 1700 से माना है। हिन्दी काव्य अब प्रौढ़ हो चुका था। मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगार-सागर' श्रृंगार सम्बन्धी और करुणेश कवि ने 'कर्णाभरण' और 'श्रुति-भूषण' इत्यादि अलंकार सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार रस-निरूपण होने पर केशव ने शास्त्र के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। परन्तु हिन्दी-साहित्य में केशव की 'कवि-प्रिया' के पश्चात् 50 वर्ष तक कोई अन्य ग्रन्थ नहीं लिखा गया और 50 वर्ष बाद भी जो रीति-ग्रन्थों की अविरल परम्परा चली वह केशव के आदर्शों से सर्वथा भिन्न एक पृथक् आदर्श को लेकर चली।

केशव काव्य में अलंकारों का प्रधान स्थान मानने वाले चमत्कारवादी कवि थे। काव्यांग-निरूपण में उन्होंने हिन्दी पाठकों के सम्मुख मम्मट और उद्भट के समय की धारा को रखा। उस समय रस, रीति और अलंकार तीनों के ही लिए अलंकार शब्द का प्रयोग होता था। केशव की 'कवि-प्रिया' में अलंकार का यही अर्थ मिलता है। केशव के 50 वर्ष पश्चात् हिन्दी-साहित्य में जो परम्परा चली उसमें अलंकार्य का भेद परवर्त्ती आचार्यों के मतानुसार माना गया और केशव की अपनायी हुई धारा को वहीं पर छोड़ दिया गया। हिन्दी के अलंकार ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' के आधार पर लिखे गये और कुछ ग्रन्थों में 'काव्य-प्रकाश' तथा 'साहित्य दर्पण' का भी अनुकरण किया गया। इस प्रकार संस्कृत का संक्षिप्त उदाहरण हमें हिन्दी-साहित्य में मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में रीति-युग का प्रवर्तक हम इसलिए केशव को न मानकर चिन्तामणि त्रिपाठी को मानते हैं। इन्होंने काव्य के सभी अंगों का निरूपण अपने तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-विवेचन', 'कवि-कुल कलपतरु' और 'काव्य-प्रकाश' द्वारा किया। इन्होंने छन्द-शास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी है। चिन्तामणि

त्रिपाठी जी के पश्चात् तो एक प्रकार से हिन्दी-साहित्य में रीति-ग्रन्थों की बाढ़ ही आ गई और कवियों ने कविता ही केवल इसलिए आरम्भ कर दी कि उन्हें रीति-ग्रन्थ लिखकर उनमें उदाहरण देने होते थे। अलंकारों अथवा रसों के लक्षण उन कवियों ने अधिकतर दोहों में लिखे हैं और उनके उदाहरण कवित्त या सवैयों में दिये हैं। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य पृथक्-पृथक् रहे हैं परन्तु हिन्दी-साहित्य में कवियों ने ही आचार्य बनने का दावा किया और फल यह हुआ कि उनमें से अनेकों आचार्य तो बन नहीं पाये और उन्हें अपनी कविता के यश से भी हाथ धोने पड़े। दूसरी ओर आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचना की आवश्यकता होती है उसका उचित विकास साहित्य में नहीं हो पाया। यही कारण है कि इस काल में न तो कोई तुलसी और सूर की गरिमा का कवि ही हो पाया और न ही कोई प्राचीन संस्कृत आचार्यों के स्तर का आचार्य। इस काल में गद्य का विकास न होने के कारण भी आचार्य लोगों को नये-नये सिद्धान्तों के निरूपण पद्य में करने में कठिनाई होती थी और इसीलिए विषयों की उचित मीमांसा न हो पाई और न ही उन पर उचित तर्क-वितर्क ही हुआ।

इसलिए इस काल के सभी कवियों को जिन्होंने रीति-ग्रन्थ लिखे हैं हम आचार्यों की श्रेणी में नहीं रख सकते। पूर्ण आचार्य न होने के कारण इन कवियों के ग्रन्थ भी अपर्याप्त लक्षण-साहित्य-शास्त्र का ज्ञान कराते हैं। कहीं-कहीं पर तो अलंकार, रस और रीतियों का स्वरूप भी ठीक-ठीक प्रकट नहीं होता। काव्य के दो भेदों, श्रव्य और दृश्य में से दृश्य को तो आचार्यों ने छोड़ ही दिया है।

काव्यांगों का विस्तृत विवेचन दास जी ने 'काव्य-निर्णय में किया है। दास जी ने अलंकारों पर भी प्रकाश डाला है और अंत्यानुप्रास पर, जो कि संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलता और हिन्दी-साहित्य में प्रारम्भ में मिलता है, अपनी पुस्तक में विचार किया है। रीति-ग्रन्थों के लेखक भावुक कवि थे इसलिए उनके द्वारा एक महत्त्वपूर्ण कार्य भी इस क्षेत्र में प्रतिपादित हुआ है। उन्होंने रस और अलंकारों के बहुत सरस और सुन्दर उदाहरण अपनी कविताओं में प्रस्तुत किये हैं। इस दशा में इन कवियों ने संस्कृत-साहित्य को पीछे छोड़ दिया है। इन कवियों का झुकाव अलंकारों की अपेक्षा नायिका-भेद की ओर अधिक रहा है। श्रृंगार-रस की मुक्त रचना इस समय में पराकाष्ठा को पहुँच गई और इस काल ने बिहारी जैसा अनूठा कवि हिन्दी-साहित्य को प्रदान किया। इस काल के प्रायः सभी ग्रन्थ नायिका-भेद के ग्रन्थ हैं और उनमें कृष्ण तथा राधा को ही लेकर कविता लिखी गई है। श्रृंगार-रस का आलम्बन, नायिका और वह भी विशेष रूप से राधा ही रही है। इस काल में केवल नख-शिख-वर्णन पर बहुत ग्रन्थ लिखे गये हैं।

इस काल में साहित्य का विस्तृत विकास नहीं हो पाया। प्रकृति की अनेकरूपता और जीवन की विस्तृत व्याख्या की ओर कवियों का ध्यान गया ही

नहीं। कवि केवल नायक और नायिका के शृंगार में ही सीमित हो गया। कृष्ण भक्ति-शाखा के कवि लोक को तो पहिले ही भुला चुके थे परन्तु इस काल में आकर कृष्ण-भक्ति के आलम्बनों को लेकर शृंगारिक वासना की पूर्ति के लिए उन्हें विस्तृत क्षेत्र मिल गया। काव्य का क्षेत्र सीमित हो गया; काव्यधारा बँध गई, जीवन की अनेकरूपता नष्ट हो गई। भाषा, शैली और विचार रूढ़ हो गये।

रीति-काल में सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर भाषा पहुँची थी, उसे उस समय व्याकरण द्वारा व्यवस्थित हो जाना चाहिए था, परन्तु यह नहीं हो पाया। भाषा में कोई स्वच्छता नहीं आई और यहाँ तक कि वाक्य-दोष भी दूर नहीं हुए। शब्दों का तोड़ना-मरोड़ना भी ज्यों-का-त्यों चलता रहा। इस काल के प्रायः सभी कवियों की भाषा सदोष है। इस काल के कवि ब्रज और अवधी का अपनी इच्छा द्वारा सम्मिश्रण कर देते थे। इस सम्मिश्रण के कारण भी भाषा परिमार्जित और व्यवस्थित रूप धारण नहीं कर सकी।

चिन्तामणि त्रिपाठी, महाराज जसवन्तसिंह, बिहारी, मण्डन, मतिराम, कुल-पति, सुखदेव, कालदास, त्रिवेदी, देव, दास, तपोनिधि, पद्माकर भट्ट इत्यादि इस परम्परा के प्रधान कवि हैं। इनके अतिरिक्त भी इस काल में बहुत से कवि हुए हैं जिन्होंने अन्य विषयों पर भी कविताएँ की हैं परन्तु इस काल में प्रधानता इसी प्रकार के कवियों की रही है। इसीलिए इस काल को रीति-काल का नाम दिया है।

हिन्दी साहित्य में रहस्यवाद-7

भारतीय चिन्तन में रहस्यवाद कोई नई वस्तु नहीं है। यह सत्य है कि हिन्दी-साहित्य में इसका प्रादुर्भाव कबीर और जायसी के साहित्य द्वारा ही सर्व-प्रथम आया परन्तु धार्मिक क्षेत्र में इसका पूरा-पूरा ब्यौरा हमें मिलता है। ऋग्वेद के 'नासिदेयसूत्र' और 'पुरुष बलि' की कथा में सर्वप्रथम रहस्यवाद की झलक मिलती है। उपनिषदों में तो इस प्रकार की उक्तियों की भरमार है।

रहस्यवाद ईश्वर, जीव के चिन्तन का एक ढंग है, जो कि निर्गुणपंथियों ने अपनाया। इसका एक प्रकार का चिन्तन वह है जो भागवत् इत्यादि रूपक ग्रन्थों में मिलता है और दूसरा वह है जो उपनिषदों में प्राप्त होता है। एक में प्रेम को आधार माना है तथा दूसरे में ज्ञान को। हिन्दी-साहित्य में दोनों ही प्रकार के रहस्यवाद के दर्शन होते हैं।

रहस्यवाद की प्रारम्भिक धारा उपनिषदों की है, जिसका प्रचार सिद्ध-साहित्य द्वारा हुआ। फिर उसे नाथपंथियों ने अपनाया और अन्त में वह कबीर

के निर्गुणपंथ का प्रधान-चिन्तन का विषय बन गया। कबीर और दादू इस धारा के सबसे प्रसिद्ध कवि हैं, जिन्होंने अपने रहस्यवाद द्वारा ही अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। रहस्यवादी कवि जीव और ईश्वर को अभिन्न मानते हैं। उनका मत है कि जीव और ईश्वर में यदि कुछ भेद दृष्टिगत होता है तो वह माया के ही कारण हैं। माया को पहिचानने पर यह भेद स्वयं नष्ट हो जाता है। जीव ईश्वर हो जाता है और ईश्वर जीवात्मा। कबीरदास जी लिखते हैं—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तथ कथा गियानी।

कबीर अपने को ही ब्रह्म मानते हुए लिखते हैं—

ना मैं बकरी ना मैं भेढ़ी, ना मैं छुरी-गँडास में।
ढूंढ़ना होय तो ढूंढ़ लै बन्दे, मेरे कुटी मवास में॥

यहाँ कवि ने आत्मा और परमात्मा का भेद-भाव सर्वथा नष्ट कर दिया है। अपनी उलटवासियों में आपने कहा है—नदी समुद्र में जा मिली या समुद्र नदी में आ मिला—दोनों कवि के लिए समान हैं क्योंकि दोनों में माया के दूर हो जाने पर कोई भेद-भाव नहीं रहता।

ऊपर जिस रहस्यवाद का वर्णन हमने किया है उससे प्रेमाश्रयी शाखा का रहस्यवाद समानता नहीं रखता। प्रेमाश्रयी शाखा में सूफी धर्म का प्रभाव है। सैद्धांतिक रूप से उसमें भागवत की प्रेम-मूलकता के दर्शन होते हैं। इस विचार-धारा के अंतर्गत जब जीवात्मा को प्राप्त करने के सब प्रयत्न समाप्त करके उसे अपने हृदय में स्थान देता है और प्रेम-भावना द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है तभी रहस्यवाद का उद्घाटन होता है। यह रहस्यवाद मस्तिष्क की वस्तु न होकर हृदय की वस्तु है। जीव अपने हृदय में ईश्वर की मधुर कल्पना करके उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और उसकी प्राप्ति में अनेकों कष्ट उठाता है। परस्पर आकर्षण और मिलने की आकांक्षा केवल एक ही ओर नहीं होती वरन् दोनों ओर एक ही तत्त्व होने के कारण दोनों ओर समान रूप से वर्तमान रहती है। जायसी ने पद्मावत में दिखलाया है कि यदि राजा रत्नसेन पद्मावती को प्राप्त करना चाहता था तो रत्नसेन की परीक्षा कर लेने के पश्चात्, पद्मावती के हृदय में भी रत्नसेन के लिए उतनी प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है। इस धारा के अन्तर्गत स्त्री-पुरुष के लौकिक प्रेम को ही अन्त में पारिलौकिक कहा गया है और सच्चे हृदय से प्रेमिका को प्राप्त कर लेने पर ही ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि वह प्रेमिका में ईश्वरीय शक्ति का आभास पाकर ही उसे प्राप्त करने के लिए दीवाना होता है और अपनी समस्त शक्तियाँ उसके लिए लगा देता है। कबीरदास ने एक जगह जायसी के विपरीत अपने को इष्टदेव राम की बहुरिया कहा है—

हरि मोर पीऊ मैं राम की बहुरिया ।

यही प्रेम-भावना भागवत में भी मिलती है, परन्तु मलिक मुहम्मद जायसी ने इसका जो रूप दिया है वह उससे मेल नहीं खाता । भारतीय साहित्य में स्त्री प्रेम-दीवानी होकर अपने इष्टदेव के लिए कष्ट सहती है और उसमें लय होने का प्रयत्न करती है । कबीर की ऊपर दी गई पंक्ति में इस भावना का आभास मिलता है । गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में पागल हो जाती हैं । परन्तु जायसी की सूफी विचारावलि में रोमांटिक भाषाओं की प्राचीन प्रणाली मिलती है । वहाँ जीवात्मा पुरुष है और परमात्मा स्त्री । भारतीय लोककथा के आधार पर काव्य-रचना करके भी जायसी ने सिद्धान्त रूप से अपनी ही प्रणाली को अपनाया और सूफी प्रेममय रहस्यवाद के आधार पर बहुत सुन्दर व्यंजनाओं के साथ काव्य में मार्मिक स्थल उपस्थित किये हैं । पद्मावती के सौन्दर्य-वर्णन में कवि ने ईश्वरीय सौन्दर्य की कल्पना की है । विरह का बहुत सुन्दर चित्रण हमें जायसी की पद्मावत में मिलता है और वह हृदय-स्पर्शी भी है । प्रेमात्मक रहस्यवाद का प्रादुर्भाव वास्तव में सूफी सिद्धांतों के सम्मिश्रण से ही हुआ है ।

सगुण भक्ति-काव्य में भागवत के रहस्यवाद की झलक नहीं मिलती । भक्त-कवियों ने मुक्त-कण्ठ से उस भगवान का गान किया है जिसमें कोई रहस्य नहीं है, जो उनका सखा है, साथी है और जिसके साथ वे हँस-खेल सकते हैं । सूर-साहित्य में रूपकों को स्थान अवश्य मिला है, परन्तु उसमें भी कृष्ण का जो चित्रण है उसमें दर्शन का वह गाम्भीर्य नहीं आ पाया जो कबीर की कविता में पाया जाता है । वहाँ तो ईश्वरीय सत्ता दृष्ट है, उनके सामने है फिर क्यों वह रहस्य की कल्पनाओं में अपने मस्तिष्क को परेशान करें ? उनका इष्टदेव रहस्य की वस्तु नहीं, भक्ति की वस्तु है और भक्ति के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं । वहाँ तो सच्चा और सरल हृदय चाहिए । फिर भी सूर के साहित्य में कहीं-कहीं पर रहस्य की साधारण-सी झलक अवश्य मिल जाती है, परन्तु उसके कारण हम सूर को रहस्यवादी कवि नहीं कह सकते ।

इस रहस्यवाद का स्रोत सूर और तुलसी के काल में भी धीरे-धीरे बहता रहा और सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक इसका प्रवाह कभी कहीं, तो कभी कहीं दिखलाई दे जाता था । कबीरदास और जायसी के अतिरिक्त सुन्दरदास, मलूकदास, कुतबन, नूरमुहम्मद इत्यादि ने भी रहस्यवादी प्रणाली का ही अपनी-धारा में अनुसरण किया है ।

सत्रहवीं शताब्दी में आकर भक्ति-साहित्य का एकदम लोप होता चला गया और रीतिकालीन कवियों ने लौकिक साहित्य की रचना की । इस साहित्य में राधा-कृष्ण के नाम तो प्रयोग में अवश्य आये परन्तु साधारण नायक और नायिकाओं के रूप में । रहस्यवाद का वह अलौकिक सौन्दर्य कवियों के जीवन

से पृथक् ही हो गया, जिसके आनन्द में विभोर होकर भक्त-कवियों ने राज-दरबारों को ठुकरा दिया था—

सन्तन को कहा सीकरी सौं काम।
आवत जात पन्हहिया टूटीं, बिसरि गयो हरि नाम।

कवि और सन्त जीवन का यह महानादर्श रीति-काल में समाप्त हो गया। अठारहवीं शताब्दी में पूर्ण-रूप से शृंगारिक कविताएँ हुईं, अध्यात्मवाद का पूरी तरह लोप हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी में जो साहित्य-रचना हुई उस पर अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव पड़े बिना न रहा। ऊपर हम हिन्दी के प्राचीन साहित्य में रहस्यवाद का दिग्दर्शन करा चुके हैं। अब हमें देखना है कि वर्तमान युग में रहस्यवाद का क्या स्वरूप रहा? बीसवीं शताब्दी में हिन्दी के साहित्य पर अंग्रेज़ी के उन्नीसवीं शताब्दी के रोमांटिक साहित्य का प्रभाव पड़ा। उस काव्य में भी रहस्यवाद की झलक थी। इसी समय बंग प्रदेश के प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र की गीतांजलि प्रकाशित हुई। गीतांजलि पर कबीर का प्रभाव स्पष्ट है और थोड़ा-थोड़ा वैष्णव तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य का भी प्रभाव है। इस रचना द्वारा पूर्व तथा पश्चिम का मिलन हुआ और आगे आने वाले हिन्दी-साहित्य पर भी इसका काफी प्रभाव पड़ा। इस प्रकार रहस्यवाद का यह नया रूप साहित्य में आया।

प्राचीन रहस्यवाद में और इस वर्तमानकालिक रहस्यवाद में स्पष्ट अन्तर है। प्राचीन कवि पहले आध्यात्मिक विचारक थे और बाद में कवि। उन्होंने कविता को, अपने विचारों को प्रचारित करने के लिए साधन-स्वरूप अपनाया परन्तु वर्तमान-कालिक रहस्यवादी कवियों ने कविता को कला के रूप में लिया और कविता की साधना का महत्त्व उनके नज़दीक, रहस्यवाद-प्रतिपादन से किसी भी प्रकार कम नहीं रहा। इससे यह स्पष्ट ही है कि प्राचीनकालिक रहस्यवाद, यह माना कि बहुत ऊँचे धरातल पर था, परन्तु उसमें वह काव्य-सौन्दर्य नहीं आ पाया जो वर्तमान साहित्य में है।

आज का रहस्यवाद कल्पना-प्रधान है। उसमें धार्मिक अनुभूति नहीं है। कहीं-कहीं पर उसकी झलक है भी तो वह गौण-रूप से वर्तमान है। साधना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वह कोरी काव्य की एक शैली है। भक्ति-काल में रहस्यवाद के जिन प्रतीकों को लेकर कवियों ने रचनाएँ कीं वह प्रतीक आज के प्रतीक नहीं रहे। यही कारण है कि आज का रहस्यवाद साधारण लोगों में प्रचारित नहीं हो पाया। प्रौढ़ भाषा में नवीन छन्दों के साथ काव्य का सौन्दर्य तो उसमें आया परन्तु क्षेत्र विस्तृत होने की अपेक्षा संकुचित हो गया। इस काल के रहस्यवाद को हिन्दी के विद्वानों ने 'छायावाद' का नाम दिया है।

आधुनिक 'रहस्यवाद' अथवा 'छायावाद' में प्रकृति-सौन्दर्य, प्रेम-विरह इत्यादि पर अध्यात्म-रूप से नहीं लौकिक रूप से कवियों ने लेखनी उठाई है।

आज के युग में धर्म गौण होता जा रहा है इसलिए धार्मिक रहस्यवाद का आज के युग में पनपना भी सम्भव नहीं हो सकता। वर्तमान काल में इस काव्य के अन्तर्गत कई शैलियों में साहित्य-रचना हुई। इनमें सर्व-प्रधान शैली गीति-काव्य की है। हिन्दी के प्राचीन और वर्तमान सभी रहस्यवादी साहित्य पर विदेशियों का प्रभाव रहा है, इस सत्य को हमें मानना ही पड़ता है। सूफी और अंग्रेजी प्रभाव इनमें अपना विशेष स्थान रखते हैं। भारतीय चिन्तन सर्वदा से समन्वय की भावना को लेकर चला है इसलिए इसने सर्वदा ही विशाल हृदय से सबको सम्मान के साथ अपनाया है और अपने काव्य की रचना में उचित स्थान दिया है। रोमांटिक काव्य का उदय विरह से होता है। आधुनिक रहस्यवाद में इसी-लिए रचनाओं के विषय हैं—मिलन, विरह, प्रतीक्षा, प्रकृति-सौन्दर्य में प्रेम की कल्पना, प्रकृति की विविध वस्तुओं में आकर्षण, प्रेयसी-प्रणय इत्यादि। जय-शंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा इत्यादि इस काल के प्रधान रहस्यवादी कवि हैं। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य का रहस्यवाद आध्यात्मिक क्षेत्र से चलकर लौकिक क्षेत्र में आ गया।

हिन्दी साहित्य में छायावाद-8

हिन्दी-साहित्य में छायावाद का उदय जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' और सुमित्रानन्दन पंत की 'वीणा' से होता है। इन कविताओं के पाठकों ने इनमें रवीन्द्र बाबू की गीतांजली और अंग्रेज़ी के मिस्टक (Mystic) कवियों की छाया पाई। इसलिए प्रारम्भ में व्यंग्यस्वरूप इस नई धारा की कविता को 'छायावादी' कविता कहा गया जिसने बाद में जाकर वही नाम ग्रहण कर लिया। बँगला-साहित्य में इसी प्रकार का साहित्य रहस्यवादी साहित्य कहला रहा था।

हिन्दी में इसी छायावायी धारा का विकास धीरे-धीरे बँगला से भी आगे हो गया, इसमें एक-से-एक सुन्दर रचना प्रकाश में आई। धीरे-धीरे छायावाद में से व्यंग्य का भाव बिल्कुल लुप्त हो गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद साहित्य को 'कायावृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण' कहा है, जिसकी विशेषता इसकी लाक्षणिकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्री नन्ददुलारे जी का मत दूसरा ही है। वह कहते हैं "छायावाद में एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की आयोजना भी। पूर्ववर्ती काव्य से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।" यह मत रामचन्द्र शुक्ल जी के मत से बिल्कुल मेल नहीं खाता। कविवर जयशंकर प्रसाद छायावाद को अद्वैत रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास मानते हैं। इसमें परोक्ष की अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा 'अहम्' का 'इदम' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न

पाया जाता है ।

छायावाद हिन्दी-साहित्य की नवीन धारा का वह स्वरूप है जिसमें भारतीय दर्शन, प्रकृति और बुद्धिवाद को एक नवीन दृष्टिकोण से परखा गया है । इसमें आध्यात्मिक रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ, सौंदर्यनिष्ठा, लाक्षणिकता और मानव-जीवन के नवीन दृष्टिकोण के साथ विवेचना मिलती है । छायावाद शब्द बहुत व्यापक है इसलिए इसे किसी विशेष परिभाषा के दायरे में बांधने का प्रयास व्यर्थ है । छायावाद की निम्न-लिखित विशेषताएँ कवियों ने अपने काव्य में रखी हैं—

(1) छायावादी कविता में आत्माभिव्यक्ति अधिक मिलती है ।

(2) आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अद्वैतवाद का आश्रय लेकर छायावादी रहस्यवाद का विकास होता है । इसमें प्रेम विरह और करुणा की प्रधानता रहती है । 'पंत', 'महादेवी', 'निराला', 'प्रसाद', सभी कवियों की रचनाओं में इनके उदाहरण प्रत्यक्ष मिल सकते हैं ।

(3) छायवादी कवि वैचित्र्य और सौंदर्य के उपासक पाये जाते है । उनमें कुछ खोया-खोयापन-सा रहता है और कविता भी कुछ अटपटी करने का प्रयास मिलता है ।

(४) कविता में शब्द-माधुर्य को प्रधानता दी जाती है और भावों को स्वच्छन्दता । पाण्डित्य को बाँधकर चलाने का प्रयास वह नही करते । इस धारा के इस गुण में कविवर निराला अपवादस्वरूप आते हैं ।

(5) प्रकृति का सुन्दर चित्रण मिलता है, स्वतन्त्र भी और नायक-नायिकाओं के साथ भी । इस धारा के कवियों ने श्रृंगार का सुन्दर चित्रण किया है परन्तु उसे पढ़कर वासना जागृत नहीं होती । रीतिकालीन श्रृंगारिकता के प्रति इसमें विद्रोह मिलता हैं ।

(6) छायावादी शैली की प्रधानता उसके शब्दों में लाक्षणिक प्रयोग की है । अन्योक्ति, वक्रोक्ति और प्रतीकों का आश्रय लेकर यह कविता रहस्यमय भावना साथ पाठक के सम्मुख आती है । पाठक तनिक सतर्कता के साथ पढ़ने पर इसके समझने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं करता ।

(7) छायावादी कवियों की प्रकृति ही उनके रहस्य का प्रधान विषय है, जिसमें जीवन कल्पना करके कवि उसकी विभूतियों में तन्मय होकर रहस्योद्घाटन करता है ।

(8) मानव-जीवन का निराशामय चित्रण इस धारा की कविता में उपलब्ध होता है । इस निराशा में लौकिकता के अन्दर स्थान-स्थान पर अलौकिक पुट मिलता है । सूफी प्रेम-मार्गी शाखा की प्राचीन प्रणाली का इसमें आभास मिल जाता है ।

हिन्दी-साहित्य इस छायावादी धारा को चाहे विदेशी (Mysticism)

रहस्यवादी कविता का प्रभाव कहें या बंगाली रहस्यवादी कविता का परन्तु यह हिन्दी-साहित्य में एक नवीन दृष्टिकोण के साथ आई है और इसने सौ वर्ष के कठिन परिश्रम के पश्चात् एक अपना स्वरूप खड़ा किया है। जनता तक पहुँचने में इस बहुत समय लगा और वह लगता भी, क्योंकि एक बिल्कुल नये दृष्टिकोण को समझने में इतना समय लग ही जाता है। नये-नये आलोचना के मानदण्डों द्वारा समालोचकों ने इस कविता को पाठकों के सामने रखकर समझाने का प्रयत्न किया, तब कहीं जाकर हिन्दी-पाठक इसे समझने में सफल हो सका।

"कोई भी काव्य अपने युग में ऊँचा नहीं उठ सकता। छायावादी काव्य पर अस्पष्टता, अलौकिकता, अव्यावहारिकता, अनैतिकता, ईमानदारी की कमी और अश्लीलपन, ये कितने ही दोष लगाये जाते हैं; परन्तु यदि सच पूछा जाय तो यह अपने युग का श्रेष्ठ प्रतिबिम्ब है। मध्य-युग का मध्य-वर्ग जिस बौद्धिकता के ह्रास, भावुकता के प्राबल्य और मन, वाणी के सामाजिक और राजनैतिक नियन्त्रणों में से गुजर रहा था उसी के दर्शन इस काव्य में भी मिलेंगे। गाँधीवाद के दुःख, कष्ट-सहन और पराधीनता को राष्ट्रीय साधना के रूप में स्वीकार कर लिया था। समाज में प्रेम कहना पाप था। मध्यवर्ग में से साकार उपासना पर से विश्वास उठ रहा था, परन्तु वैष्णव-भावना को बिलकुल अस्वीकार करना असम्भव था। आर्थिक और राजनैतिक संकटों ने कमर तोड़ दी थी, महायुद्ध के प्रारम्भ का प्रभात या स्वप्न युद्ध-समाप्ति पर कुहरे का धरोहर बन गया। ऐसे समय काव्य का रूप ही और क्या होता? रवीन्द्र के काव्य ने इस प्रदेश की मनोवृत्ति के अनुकूल होकर उसकी काव्य-चिन्ता को यह विशिष्ट रूप दे दिया था।"—**डॉक्टर रामरतन भटनागर।**

हिन्दी-साहित्य में प्रगतिवाद-9

छायावादी साहित्य की पलायनवादी प्रवृत्तियों के विपरीत विद्रोह-स्वरूप प्रगतिवाद का हिन्दी-साहित्य में प्रादुर्भाव हुआ। संसार के राजनैतिक दृष्टिकोण में आध्यात्मिकता का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। रूस के कम्यूनिज्म ने इस प्रवृत्ति को बल दिया और धीरे-धीरे इसका प्रभाव मध्य-वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों पर पड़ा। छायावादी कविता में जो शृंगारिक भावना थी वह तो मानव-हृदय को अवश्य अपनी ओर आकर्षित कर रही थी, परन्तु उसमें अद्वैतवाद की पुट देकर जो पलायन की प्रवृत्ति आने लगी थी उसने छायावादी कवि को जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर धकेल दिया। ऐसी परिस्थिति में जीवन की उन वास्तविकताओं को भुलाकर नहीं चला जा सकता था, जो लौकिक जगत में नित्य हमारी आँखों के सम्मुख आती हैं।

प्रगतिवादी कवि ने सोचा कि क्या कविता का विषय आत्मा, परमात्मा और शृंगार ही हो सकते हैं ? क्या सड़क पर खड़ा हुआ पसीने से लथपथ मज़दूर कविता का विषय नहीं बन सकता ! यह विचार आते ही कवि ने उसे चित्ररूप दे दिया—

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर ।

फिर उसने एक भिखारी को देखा और लेखनी उठाकर रचना की—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता
पेट पीठ मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक ।
मुट्ठी भर दाने को
भूख मिटाने को ।
मुँह फटी-पुरानी झोली को फैलाता ।
वह आता ।

प्रगतिवाद के अन्तर्गत हमें उस साहित्य की झलक मिलती है जिसमें मानवीय प्रवृत्तियों का पूरा-पूरा सन्निवेष हो । इसमें जीवन के लौकिक तथ्यों का यथार्थ चित्रण होता है । हिन्दी-साहित्य में यह धारा नवीन होते हुए भी प्रगति की ओर अग्रसर है । जीवन प्रगति का नाम है और यदि जीवन में प्रगति नहीं है, तो जीवन-जीवन ही नहीं रहता । वस्तु जगत् से मुँह मोड़कर स्वप्न या अध्यात्म की ओर दौड़ना प्रगतिवादिता के सर्वथा विरुद्ध है । प्रगतिवाद चाहता है जीवन में साम्य हो, समाज में साम्य हो और राजनीति में साम्य हो । पुरातन रूढ़िवाद नष्ट करके प्रगतिवाद नवीन मानवता का निर्माण करना चाहता है । वहाँ बड़े-छोटे का भेद-भाव नहीं है । धनवान और निर्धन का भेद नहीं है । वहाँ मानव-मानव के बीच किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं माना जाता । इस साहित्य में शोषक वर्ग का विरोध और शोषित वर्ग के प्रति साहित्यकार की सहानुभूति होती है । चरित्र-चित्रण और स्पष्टवादिता इस साहित्य का प्रधान गुण है । प्रगतिवादी कवि के सम्मुख निर्बल सबल की अपेक्षा अधिक यथार्थ है । अश्लील कहलाने वाले तत्त्वों का भी प्रगतिवाद में स्पष्ट चित्रण किया गया है ।

हिन्दी का वर्तमान प्रगतिशील साहित्य दो पृथक्-पृथक् धाराओं में बह रहा है—एक वह जिसमें राष्ट्रीयता-प्रधान कविताएँ हैं और दूसरा वह जिसमें शृंगार प्रधान कविताएँ हैं । समाज की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को रोकने के लिए यौवन सम्बन्धी साहित्य का निर्माण भी आवश्यक है । प्रगतिवादी कवियों में साम्यवाद की प्रधानता है । राष्ट्रीयता-प्रधान कवियों ने भी दो प्रकार की कवि-

ताएँ की हैं। उनकी रचनाओं के आधार पर उनके दो वर्ग बनते हैं। एक वह जो अपनी रचनाओं में संयम, शान्ति, प्रेम, उन्नति, निर्माण और आशा का पाठ पढ़ाते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत 'नवीन' और 'पन्त', आते हैं। दूसरा वर्ग वह जिस पर रूस के साहित्य का प्रभाव है। इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं 'नरेन्द्र', 'दिनकर', भगवतीचरण वर्मा इत्यादि। यह दूसरा वर्ग विध्वंस, खण्डन और विनाश में विश्वास रखकर चलता है।

राष्ट्रीय भावना से प्रवाहित कवि-शृंखला के अतिरिक्त इनमें दूसरी धारा वह है जो शृंगार-प्रधान है। इस धारा के वर्णित शृंगार में काल्पनिक सौंदर्य का सजीव चित्रण करने पर उतारू रहता है। यह वर्ग अपने चित्रण को बिलकुल आचरणहीन कर डालता है और इस आवरण-हीनता को वह अपनी कला, अपने काव्य का सौन्दर्य और अपनी वास्तविकता के अन्दर पैठ समझता है। फ्रायड के काम-विज्ञान का इन पर प्रभाव है।

प्रगतिवाद का साहित्य-सिद्धांत के क्षेत्र में जितना अग्रसर हुआ है उतना व्यवहार के क्षेत्र में प्रस्फुटित नहीं हो पाया। इसका प्रधान कारण यही है कि प्रगतिवाद के सिद्धांत से बहुत कम सम्बन्ध है। 'पन्त' में केवल एक बौद्ध प्रगतिवादिता है। 'नरेन्द्र' में कुछ वास्तविकता की झलक मिलली है। शेष कवि प्रगतिवादी कविता केवल इसलिए लिखते हैं कि साहित्य में प्रगतिवादी लहर चल पड़ी है। वीरगाथा-काल में हर कवि वीरगाथा-लेखक था, सन्त-युग में हर कवि निर्गुण-ब्रह्म का उपासक था, राम-कृष्ण-भक्ति-काल में हर कवि वैष्णव-भक्त था, रीति-काल में हर कवि आचार्य था, छायावादी युग में हर कवि छायावादी और उसी प्रकार प्रगति के युग में कवि के लिए प्रगतिवादी बनना अनिवार्य हो गया है।

प्रगतिवादी धारा के अन्तर्गत जिस साहित्य की अभी तक रचना हुई है उसे बहुत उच्च कोटि के साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, न तो उसमें साहित्यिक सौन्दर्य ही आ पाया है और न भावों की कोमलता ही। कवि 'पंत' यदि साहित्य में अमर होगा तो 'ग्राम्या' के कारण नहीं, 'पल्लव' के कारण होगा। प्रगतिशील साहित्य का सृजन समाज और देश के निर्माण के लिए होना चाहिए, न कि जो कुछ आज बना हुआ है उसे भी किसी विदेशी प्रभाव में पड़कर अपनी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। ऐसा करने से देश का कल्याण न होकर अहित ही होगा। इसका उत्तरदायित्व लेखकों के ऊपर है। उन्हें अपना कर्त्तव्य देश और समाज के प्रति समझना है। केवल भावनाओं और समय की प्रगतियों में बहकर ऐसे साहित्य का निर्माण करना उनका लक्ष्य नहीं होना चाहिए जिससे देश और समाज का पतन हो। प्रगतिवाद उचित मार्ग पर ही चलकर अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। वर्तमान प्रगतिवाद के साहित्य से हमें देश और समाज के हित की बहुत कम सम्भावना दिखलाई देती है।

10-हिन्दी साहित्य में प्रकृत्ति-चित्रण

साहित्य में प्रकृति का प्रधान स्थान है। प्रकृति में सौन्दर्य है और सौन्दर्य साहित्य का प्रधान गुण है, इसलिए साहित्य में सौन्दर्य लाने के लिए प्रकृति-चित्रण अत्यन्त आवश्यक है। साहित्यकारों ने प्रकृति का चित्रण स्वतन्त्र रूप से और मानव-जीवन के साथ-साथ दोनों प्रकार से किया है। मानव-जीवन प्रकृति से प्रभावित होकर कवि का वर्ण्य-विषय बनता है। वह स्थान-स्थान पर उससे प्रभावित होकर अपना रूप बदलता है और कवि उसका अपनी पैनी दृष्टि द्वारा निरीक्षण करके सुन्दर साहित्य का सृजन करता है।

भारत के सुन्दर-सुन्दर प्रकृति-खण्डों ने आदिकवि वाल्मीकि और महाकवि कालिदास के काव्यों को रमणीयता प्रदान की। प्रकृति के अनेकों सुन्दर संश्लिष्ट चित्र इन कवियों ने अपने काव्यों में प्रस्तुत किये हैं। परन्तु यह प्रयोग हिन्दी-साहित्य-काल तक नहीं चल सका। कवियों ने संश्लिष्ट दृश्यखण्ड उपस्थित करना छोड़कर प्रकृति को केवल उपमा-उत्प्रेक्षा इत्यादि के लिए ही प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। ऋतु-वर्णन केवल उद्दीपन की सामग्री बन गया। कालिदास ने सर्वप्रथम ऋतुसंहार मे छः ऋतुओं का चित्रण किया है।

दुर्भाग्यवश हिन्दी का जन्म उस समय हुआ जब संस्कृत और हिन्दी साहित्य पतन की ओर अग्रसर थे। प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण सन्त-साहित्य में नही मिलता। केवल अपनी अन्तर-साधना को प्रकट करने के लिए उन्होंने प्रकृति का आश्रय अवश्य लिया है। साधक स्वयं ब्रह्मांड है बौर उसके अन्दर प्रकृति की विविध लीलाएँ होती हैं। कबीर और दादू के साहित्य में वर्षा, फाग, वसन्त इत्यादि के चित्रण हैं अवश्य, परन्तु आध्यात्मिक तत्त्वों के निरूपण-मात्र के लिए। जायसी ने काव्य में स्वतन्त्र तथा मानव-प्रवृत्तियों के साथ दोनों रूप से प्रकृति का चित्रण किया है। जायसी का प्रकृति-चित्रण कबीर और दादू की अपेक्षा अधिक सफल तथा कलापूर्ण है। उसमें कवि-हृदय की सुन्दर झाँकी मिलती है।

भक्ति-साहित्य में प्रकृति का स्थान बहुत गौण है। भावों के उद्दीपन उपमान प्रस्तुत करने के लिए कवियों ने प्रकृति का आश्रय लिया है। पुराणों में वर्षा और शरद्-वर्णन की शैली पाई जाती है। तुलसी ने अपने मानस में भी उसी शैली का कुछ परिवर्तित रूप में अनुसरण किया है। कृष्ण-साहित्य में प्रकृति केवल श्रृंगार में उद्दीपन-स्वरूप आई है। नायिका-अभिसार प्रथम है और प्रकृति बाद में। रीतिकाल में भी कवियों ने प्रकृति के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं पहचाना और पहचानते भी किस तरह, उन्हें तो अपनी नायिकाओं के ही गिनने से अवकाश नहीं था। 'षडऋतु वर्णन' में प्रकृति के दर्शन होते अवश्य हैं प्ररन्तु प्रधानता वहाँ नायिका की ही रहती है। यह षडऋतु-वर्णन की प्रथा

हिन्दी-साहित्य में वीरगाथा-कार्य से मिलती है। बीसलदेव रालसो, पद्मावतऔर फिर रीति-काल में तो इस पर ग्रन्थ के ग्रन्थ लिखे गये। रीति-काल में आकर तो ऐसा लगता है कि मानो विधाता ने समस्त सृष्टि का सृजन ही नारी के उपमानों के लिए किया हो। प्रकृति का अस्तित्व रीतिकालीन कवियों के लिए नारी तक सीमित था। संक्षेप में इस काल तक प्रकृति का चित्रण मिलता है उपमान के रूप में, रीति भाव उद्दीपन स्वरूप और कहीं-कहीं पर कुछ साधारण चित्रण। श्लिष्ट चित्रण केवल तुलसी और जायसी ने ही दिये हैं अन्य किसी कवि ने नहीं दिये। प्रकृति के कुछ स्वतन्त्र चित्रण वीर-काव्यों में भी मिलते हैं; परन्तु उनमें वह सौन्दर्य और सजीवता नहीं है। संस्कृत-साहित्य में प्रकृति के जो उपमान लगा लिये गये वह अब हमारे व्यावहारिक जीवन से निकल चुके हैं और उनका नया रूप साहित्य में कवियों ने प्रस्तुत कर दिया है। यही कारण है कि आज साहित्य में प्रयोग करने पर भी पाठक पर उनका उतना प्रभाव नहीं पड़ता।

साहित्य की प्रगतियाँ बदलती रहती है। वर्तमान साहित्य संस्कृत-साहित्य की देन कहलाने पर भी सब प्रकार से स्वतन्त्र है और उसने स्वतन्त्रतापूर्वक ही अपना निर्माण किया है। प्रकृति का जो चित्र संस्कृत-कवियों के सम्मुख था, जब भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक घने बन और ज़ंगल थे, वह आज के कवियों के सम्मुख होना असम्भव है, जब स्थान-स्थान पर कल-पुर्जों की नवीनता से भारत का वातावरण आच्छादित हो चुका है। वास्तविक कवि जिसके अन्दर वास्तव में कवि का दृष्टिकोण है, संसार को केवल प्राचीन पुस्तकों के संकीर्ण शीशे में नहीं देख सकता। वह प्रकृति को अपनी आँखों से देखता है और उसका प्रतिबिम्ब उसके साहित्य पर पड़ता है। मानव ने जड़ पर चेतन को प्रधानता दी है तो साहित्य भी उसे ठुकराकर केवल प्रकृति के अन्दर ही उलझा हुआ नहीं रह सकता। आज के कवि के लिए मानव प्रधान है और बाद में वह सभी वस्तु आती हैं जिनका मानव पर प्रभाव पड़ता है अथवा मानव से जो प्रभावित होती हैं।

हिन्दी-साहित्य में अध्यात्मवाद की प्रधानता रही है और इस अध्यात्मवाद में प्रकृति गौण रूप से आकर भी परब्रह्म की श्रेष्ठतम सृष्टि होने के कारण कवियों का प्रधान विषय रही है। रहस्यवाद, प्रेम-मार्गी, सूफी-धारा, राम और कृष्ण-भक्ति, रीतिकाल, छायावाद और यहाँ तक कि प्रगतिवाद में भी प्रकृति को भुलाकर चलना कवि के लिए असम्भव हो गया है। यदि प्रकृति को माया या भ्रम भी मान लिया जाय तब भी आध्यात्मिक साहित्य के क्षेत्र में उसका सुन्दर-से-सुन्दर रूप कवि को प्रस्तुत करना होता है और उसमें अनुपम काव्य की सृष्टि हुई है। हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के प्रकृति-चित्रणों से भरा पड़ा है। छायावादी कवियों ने प्रकृति का सुन्दरतम चित्रण किया है और उसमें अंग्रेजी

रोमांस (Mysticism) बँगला-रहस्यवाद और भारतीय अद्वैतवाद की सुन्दरतम झलक मिलती है। कवि 'पंत', 'प्रसाद' 'निराला', 'महादेवी वर्मा' इत्यादि ने प्रकृति के सुन्दर चित्रण किये हैं। 'गुप्त' की पंचवटी, 'पन्त का आंसू और 'प्रसाद' की कायामनी में प्रकृति के हृदय-स्पर्शी चित्रण हिन्दी-साहित्य की अमर थातियाँ हैं। आधुनिक साहित्य में संस्कृत-साहित्य की प्रणाली का अनुसरण किया गया है देखिए स्वतन्त्र प्रकृति का कितना सुन्दर चित्र 'कामायनी' में हमें देखने को मिलता है।

उषा सुनहले तीर बरसती जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हँसने फिर से;
बर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद विकास नए सिर से।

× × ×

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल,
मिलेंगे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।

इसी काल में पं० श्रीधर पाठक ने काश्मीर-सुषमा इत्यादि कविताएँ लिखीं। आपके काव्य पर अंग्रेजी-कवि गोल्डस्मिथ का प्रभाव है। उपाध्याय जी ने भी काव्य में प्रकृति को स्थान दिया है परन्तु उसमें प्रकृति का अलंकृत प्रयोग देखने को मिलता है। स्वतन्त्र प्रकृति को वह अपने काव्य में नहीं अपना सके है। प्रकृति के सामान्य रूपों पर ही वह उलझे हुए हर जगह पाये जाते हैं। बाबू मैथिलीशरण ने 'पंचवटी', 'साकेत, इत्यादि काव्यों में प्रकृति के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। पंचवटी का एक चित्र देखिए—

इतने में पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति नटी का रंग।
किरण-कंटकों से श्यामाम्बर फटे दिवा के दमके अंग॥
कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब भूसा थी।
पंचवटी का द्वार खोलकर स्वयं खड़ी वह ऊषा थी॥

सीता को प्रकृति की सुन्दर ऊषा बनाकर कवि ने खड़ा कर दिया है। मानव और प्रकृति का जो घनिष्ट सम्बन्ध है उस पर 'गुप्तजी' की लेखनी खूब चली है। इस काल के छायावादी कवियों ने रीतिकालीन प्रकृति को एक दम उलट-फेर कर अंग्रेजी रोमांटिक कवियों की भाषा में कहा, "प्रकृति की ओर लौटो"। कीट्स, वर्ड्स्वर्थ, शैली की कविताओं की छाया हमें 'लहर', 'पल्लव' और 'परिमल' में मिलती है। प्रकृति का विशाल सौन्दर्य देखकर 'पन्त' आश्चर्य से भर जाता है, 'निराला' उसके सुन्दर चित्र उपस्थित करने का प्रयास करता है और 'प्रसाद' तथा 'महादेवी' ने उनमें 'रहस्य' की अनुभूति पाई है। नैपाली ने भी प्रकृति के सहानुभूति-पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। इस काल के कवियों ने प्रकृति को अत्यन्त निकट से देखा है। प्रकृति का अंग बनकर उसका निरीक्षण

किया है। महादेवी के नारी-हृदय में प्रकृति-चित्रण में वह प्रवीणता पाई है जो मीरा के भक्ति-चित्रण में मिलती है। हमारे अधिकाँश कवि शहरों के रहने वाले हैं और उन्होंने प्रकृति के रहस्य को बहुत कम देखा है। शहरी जीवन से ऊबकर उनका आकर्षण प्रकृति की ओर होना एक स्वाभाविक आकर्षण की प्रेरणा है। चित्रण स्वाभाविक करने का प्रयास वर्तमान कवियों में मिलता है और कवि-सुलभ अनुभूति से उन्होंने इस साहित्य को अमरत्व प्रदान किया है।

इस युग के स्पष्ट प्रकृतिवादी कवि 'दिनकर', 'गुरु भक्तसिंह' और 'नैपाली' हैं जिनकी कविता में विशुद्ध प्रकृति की छाया मिलती है। गुरु भक्त सिंह को 'नूरजहाँ' में प्रकृति का जैसा सजीव चित्रण मिलता हैं वैसा इस काल के अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। आज के युग ने संस्कृति काल की भाँति प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। प्रकृति-विलासिता का साधन अथवा अभिसार के रूप-युक्त स्थान ही न होकर कविता का स्वच्छन्द विषय बनी है और नगर वालों के समक्ष अपनी स्वर्णिम आभा लेकर प्रस्तुत हुई है। मानव की कोरी कल्पनाओं का अध्यात्मवाद के आदर्शों से बाहर निकल-कर उन्हें प्रकृति के असीम सौन्दर्य में रहस्यवाद की वह झलक दिखाई दी जिसे पाकर कबीर जैसे सन्तों ने रहस्यवादी कविता लिखी और रवीन्द्र बाबू ने 'गीतांजलि की रचना की। आज के प्रकृति-चित्रण में यथार्थवाद की स्पष्ट झलक है और और उसमें महान् सौन्दर्य का सन्देश है। भविष्य में आशा है हिन्दी कविता में प्रकृति का विशेष स्थान रहेगा।

खड़ी बोली और गद्य का विकास-11

हिन्दी-साहित्य के इतिहासज्ञों ने जो काल-विभाजन किया है उसके आधार पर हिन्दी-साहित्य में गद्य-युग का प्रारम्भ संवत् 1900 से होता है। यह अंग्रेजी शासन-काल था, इसलिए जब अन्य देशों में युग-परिवर्तन हुआ और पद्य का स्थान गद्य ने लिया तो हिन्दुस्तान भी अपनी भाषा हिन्दी के लिए ऐसा करने में इस समय लगा। इसका प्रधान कारण यह था कि सभी सरकारी कामों में अंग्रेजी का प्रयोग होता था और इसलिए नौकरी पाने के इच्छुक विद्यार्थी केवल अंग्रेजी ही पढ़ना पसन्द करते थे। शासन-सत्ता हिन्दी का कोई महत्त्व नहीं समझती थी और प्रजा भी इसे लाभदायक न मानकर इसकी ओर ध्यान न देती थी। हिन्दी और उर्दु के कुछ मदरसे यहाँ थे अवश्य, परन्तु यह अनाथा-श्रमों से कम नहीं थे। लॉड मैकाले ने भारत में अंग्रेजी का प्रचार किया। 1835 ई० में अदालतों की भाषा उर्दू बनी। इससे जनता को अपनी भाषा के निकट आने का अवसर तो प्राप्त हुआ परन्तु अपनी वास्तविक भाषा का ज्ञान

नहीं हो सका। उर्दू से जनता की अपनी भाषा पृथक् थी' इसलिए वह भी जनता द्वारा अंग्रेजी की भाँति केवल काम निकालने के लिए अपनाई गई।

खड़ी बोली, जिस पर उर्दू और फ़ारसी का प्रभाव था, 'रेखाता' कहलाई। मुग़ल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर दिल्ली-आगरे का प्रभुत्व नष्ट हो गया। यहाँ के कवियों ने लखनऊ और मुर्शिदाबाद में जाकर आश्रय लिया। इनके साथ खड़ीबोली भी वहाँ पहुँची और प्रचारित हुई। यह उर्दू न होकर साधारण बोलचाल की भाषा थी। रीतिकाल की कविता का युग जीवन की रंगीनियों के साथ समाप्त हुआ और वास्तविकता ने अपना पैर जमाया। वास्तविकता के स्पष्टीकरणों के लिए एक स्वच्छ भाषा की आवश्यकता थी और वह भी गद्य के रूप में। आने वाले युग में परिवर्तित विचारों का अवधी और ब्रज साथ न दे सकी।

यों तो खड़ीखोली और गद्य के उदाहरण यत्र-तत्र पिछले युग में भी मिलते हैं, परन्तु उस समय यह भाषा काव्य-भाषा न होने के कारण साहित्यिकों द्वारा नहीं अपनाई गई। हिन्दी गद्य के चार प्रवर्तक माने जाते हैं। सदासुखलाल जी, लल्लूलाल जी, सदल मिश्र और इंशा अल्लाखाँ। इन विद्वानों ने हिन्दी में सर्व-प्रथम गद्य लिखी; किसी की भाषा में पूर्वीपन और संस्कृत में मिश्रित पदावली तो किसी ने उसमें ब्रज की पुट दे रखी थी; किसी ने फ़ारसी के शब्दों की झड़ी लगा रखी थी, तो किसी ने उसमें मुहाविरे और अंत्यानुप्रास भरकर उसे रोचक बनाने का प्रयत्न किया था।

इन चार महानुभावों के अतिरिक्त गद्य के प्रचार में ईसाईधर्म और आर्य-समाज ने भी काफ़ी सहयोग दिया। ईसाई पादरियों को अपने मत के प्रचार के लिए हिन्दी सीखनी पड़ी और इस प्रकार हिन्दी का भी प्रचार हुआ। बाइबिल का खड़ीबोली में अनुवाद हुआ। स्वामी दयानन्द जी ने अपना प्रधान ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश, हिन्दी-गद्य में लिखा इसके पश्चात् राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह जी का समय आता है। इस काल में भी हिन्दी प्रचार पर काफ़ी बल दिया गया।

इस समय तक केवल खड़ी बोली गद्य का प्रारम्भिक काल चल रहा था, जिसमें कोई विशेष साहित्यसृजन नहीं हुआ और न ही कोई प्रतिभाशाली लेखन ही उस काल का मिलता है। जो कुछ नमूने मिलते हैं वह गद्य के उत्थान-काल के होने के कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अब हिन्दी-गद्य के उत्थान में दूसरा युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चद्र का आता है। भारतेन्दु जी ने भाषा क्षेत्र में जिस मार्ग का अनुसरण किया है वह राजा शिव प्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह का मध्यवर्ती भाग था। इन्होंने भाषा में उन सभी शब्दों का प्रयोग किया जिन्हें भाषा पचा सकती थी। न इन्हें फ़ारसी से कोई द्वेष था और न भाषा को संस्कृतगर्भित बनाने में कोई रुचि। तत्सम शब्दों की
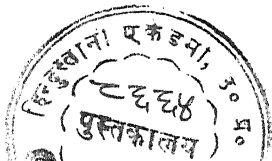
अपेक्षा तद्भव शब्द आप अधिक प्रयोग में लाये हैं। भारतेन्दु जी की प्रतिभा सभी दिशाओं में समान थी इसलिए आपने सभी प्रकार के साहित्य का सृजन किया है। नाटक, गद्य-लेख, कविता और विविध विषयों पर आपने लिखा है। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बाबू बालमुकन्द, बद्रीनारायण चौधरी तथा अम्बिकाप्रसाद व्यास इस काल के प्रमुख लेखक हैं। यह काल भाषा-निर्माण के लिए जितना उल्लेखनीय है उतना ही साहित्य-निर्माण के लिए भी है। शुद्ध व्यवस्थित भाषा न होने के कारण ठोस साहित्य का सृजन इस काल में भी कम अवश्य हुआ, परन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। इस काल में बँगला और अंग्रेजी साहित्यों से काफी अनुवाद हुए। गद्य-लेख भी इस काल में लिखे गए और पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलीं जिनमें गद्य लेखों का जोर रहा। यह समय हिन्दी-प्रचार के आन्दोलन का समय था, इसलिए इस काल से हम ठोस साहित्य की आशा भी नहीं कर सकते।

इसके पश्चात् हमारे सामने महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का काल, जिसे नवीन युग कहते हैं, आता है। इस काल में हिन्दी गद्य ने व्यवस्थित रूप धारण किया और द्विवेदी जी के परिश्रम द्वारा भाषा को परिमार्जित करने में बहुत सहयोग मिला। भाषा को शुद्ध सुसंस्कृत रूप दिया। व्याकरण की अशुद्धियाँ दूर कीं, वाक्य-दोषों को निकाला, विचारशील लेखकों को हिन्दी लिखने पर मजबूर किया, भाषा के कोष में शब्दावली की कमी पूरी की, हिन्दी में नये लेखकों को जन्म दिया। वह सभी दिशाओं में अबोध-रूप से होना प्रारम्भ हो गया। नाटक, कहानी और उपन्यास, समालोचना, निबन्ध, जीवनियाँ, इतिहास, गद्य-काव्य, नागरिकशास्त्र, यात्राएँ दर्शनशास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा सभी विषयों पर ग्रन्थ लिखे गये। गद्य का परिमार्जन और व्यवस्था होने की देर थी कि लेखकों ने अपनी लेखनियों को उठा लिया और साहित्य-भण्डार को भर दिया। जयशंकर 'प्रसाद' जैसे नाटककार, देवकीनन्दन खत्री और मुंशी प्रेमचन्द जैसे कहानीकार और उपन्यासकार, पं० पद्मसिंह तथा रामचन्द्र शुक्ल जैसे समालोचक, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल और गुलाबराय एम०ए० जैसे निबन्धकार हिन्दी-साहित्य में पैदा हुए जिन्होंने सुन्दर गद्य लिखकर पठन-पाठन के लिए पर्याप्त पुस्तकें हिन्दी-सासित्य को प्रदान कीं। इस प्रकार यह नवीन काल भाषा और साहित्य दोनों की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस काल में गद्य साहित्य अपनी सभी दिशाओं में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ और आज हिन्दी जब कि यह राष्ट्र-भाषा घोषित हो चुकी है इसमें सभी प्रकार का साहित्य दिन प्रतिदिन दिन दूनी और रात चौगुनी प्रगति के साथ लिखा जा रहा है। हिन्दी का गद्य-साहित्य आज किसी भाषा से पिछड़ा हुआ नहीं कहा जा सकता। उसमें सभी विषयों की पुस्तकें अच्छे-अच्छे विचारवान लेखकों द्वारा लिखी हुई मिलती हैं और जिन विषयों पर अभी पुस्तकों की कमी है, उस कमी को हिन्दी के प्रकाशक बहुत

शीघ्र पूरा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है निकट भविष्य में हिन्दी का गद्य-साहित्य अंग्रेजी और रूसी साहित्य के समान विश्व-साहित्यों की श्रेणी में रखा जा सकने योग्य बन जायेगा। प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी को इसके लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

12-हिन्दी कविता का नवीन युग

हिन्दी-साहित्य का नवीन युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के काल से प्रारम्भ होता है। इस युग को वर्तमान युग का गद्य-युग भी कहते हैं। गद्य-युग कहने का यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिए कि इस काल में पद्य का सर्वथा लोप हो गया और उसका स्थान गद्य ने ले लिया। इस युग में गद्य-साहित्य के साथ पद्य-साहित्य भी अबाध रूप से प्रवाहित होता चला आ रहा है। इतिहास के विद्वानों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि साहित्य काल का प्रतिबिम्ब होता है। जिस काल में जो साहित्य लिखा गया है उसकी व्यापक परिस्थितियों का प्रभाव प्रधान रूप से उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता। हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालकर देखिए कि राजपूतों के उच्छृंखल काल में वीरगाथाओं का साहित्य प्रस्फुटित हुआ, मुसलमानी राज्य-काल में निराश्रित जनता ने भक्ति का आश्रय लिया और देश में भक्ति-साहित्य का प्रसार हुआ, और फिर वर्तमान काल में जब संसार बदल रहा था तो भारत भी दास नहीं रह सकता था, इस मूल्य को पहिचान कर भारत के आत्मसम्मानी नेताओं ने भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन प्रारम्भ किये, जनता में देश प्रेम और स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत हुई, जिसके फलस्वरूप साहित्य में भी राष्ट्रीयता की लहर उठी और वह कवियों की वाणी बनकर जनता के हृदयों में छा गई। यह पहली प्रवृत्ति है वर्तमान युग की कविता की। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत भारतेन्दु-युग से लेकर आज तक अनेकों कवियों ने सुन्दर काव्य की रचना की है। यहाँ हम मैथिलीशरण जी की 'भारत-भारती', सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी' और माखनलाल चतुर्वेदी की 'सुमन के प्रति' कविता को नहीं भुला सकते।

प्राचीन युग से इस युग में दूसरा परिवर्तन भाषा के दृष्टिकोण में है। इस काल की कविता का साहित्य खड़ीबोली में लिखा गया है। एक प्रसिद्ध प्राचीन मत था कि खड़ीबोली में सरल कविता नहीं लिखी जा सकती। वर्तमान युग के प्रसिद्ध कवि 'जयशंकर प्रसाद', 'मैथिलीशरण गुप्त', आचार्य 'निराला', सुमित्रा नन्दन 'पंत', 'महादेवी वर्मा', कविवर 'बच्चन' इत्यादि ने इस प्राचीन मत की धज्जियाँ बिखेरकर उसे एक उपहास की वस्तु बना दिया। गीत-गोविन्द की सरसता लेकर हिन्दी खड़ीबोली में पद लिखे गये और कविताएँ रची गईं।

यहाँ कामायनी का एक सरस पद देखिए—

तुमुल कोलाहल में, मैं हृदय की बात रे मन !
विकल होकर नित्य चंचल, खोजति जब नींद के पल,
चेतना थक-सी रही तब, मैं मलय की बात रे मन—
जहाँ मरूँ ज्वाला धधकती, चातकी, धन को तरसती,
उन्हीं जीवन-घाटियों में, मैं सरस बरसात रे मन !

इस काल में कविता विभिन्न धाराओं में बही है। कुछ प्राचीन प्रणाली के भी कवि इस काल में हुए हैं परन्तु कोई विशेष महत्त्वपूर्ण पुस्तक या कविता उन कवियों की नहीं मिलती। इसलिए विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। रत्नाकर इस काल के प्राचीन प्रणाली के उल्लेखनीय कवि हैं। खड़ीबोली-साहित्य के इस युग में कई नवीन वादों का प्रादुर्भाव हुआ। इन वादों में दो वाद छायावाद और प्रगतिवाद उल्लेखनीय हैं। कुछ फुटकरवाद भी सामने आये परन्तु उनकी कोई महत्त्वपूर्ण रूपरेखा नहीं बन सकी।

यह काल बुद्धिवाद के विकास का है, इसमें रूढ़िवाद के लिए कोई स्थान नहीं। अंग्रेजी साहित्य के पठन-पाठन से स्वतन्त्रता के विचारों का प्रचार हुआ। हिन्दी-कविता केवल शृंगार, भक्ति और रीतिकालीन प्रवृत्तियों के सीमित क्षेत्र से निकलकर स्वतन्त्र मानव-विश्लेषण के क्षेत्र में आ गई। मानव-जीवन की कठिनाइयों और परिस्थितियों के अन्दर साहित्य ने झाँका और उनके विश्लेषण की ओर अग्रसर हुआ। अंग्रेजी राज्य इस समय व्यवस्थित था, इसलिए जनता के विचारों में भी वीरगाथा काल की उच्छृंखलता नहीं थी। साहित्य में भी स्थिरता आई और काव्य में जीवन की अनेक समस्याओं के साथ अनेकरूपता भी आई। साहित्य का क्षेत्र परिमित न रहकर विस्तृत हो चला। जातीयता और समाज-सुधार की ओर लेखकों का ध्यान गया। काव्य ने सादगी, सौन्दर्य को पहिचाना जिससे रीतिकालीन प्रवृत्ति का एक दम ह्रास हुआ।

खड़ीबोली कविता की कुछ विशेषताएँ हैं जो पुरानी किसी भी भाषा में नहीं पाई जातीं। इसमें हमें संस्कृत-छन्दों का प्रयोग मिलता है। ब्रजभाषा के छन्द इसके लिए उपयुक्त नहीं हो सके। शब्दों के तद्भव रूप प्रयोग में न लाकर कवि तत्सम रूप प्रयोग में लाये हैं। कविताओं में जो तुकों की प्रधानता आ गई थी इस युग के कवियों ने अपने को उनसे मुक्त कर लिया और बहुत सुन्दर अतुकान्त कविताएँ लिखीं। इस धारा को प्रवाहित करने का श्रेय महा-कवि 'निराला' को है।

नाथूराम शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त इस एक धारा के कवि हैं। इन कवियों ने विविध विषयों पर सफलतापूर्वक लेखनी उठाई है और हिन्दी-साहित्य को 'साकेत' 'प्रिय-प्रवास' और 'भारत-भारती' जैसी अमूल्य रचनाएं प्रदान की है। माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन'

सुभद्रा कुमारी चौहान इत्यादि ने राष्ट्रीय कविताएँ लिखी हैं।

तीसरी धारा के कवियों में जयशंकर 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त', 'महादेवी वर्मा' इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'कामायनी' और 'यामा' इस धारा की अमूल्य देन हैं और हिन्दी-साहित्य की और अनेकों अन्य पुस्तकें भी। पल्लव, गुंजन, अनामिका, यह सभी सुन्दर कविताओं के संग्रह हैं। जिनमें अपनी-अपनी विशेषता विद्यमान है।

कविवर 'बच्चन' ने 'हालावाद' की अपनी पृथक् धारा प्रवाहित की परन्तु वह उसी तक सीमित न रहे अतः उन्होंने प्रगतिवादी कविताएं तथा कुछ-कुछ छायावादी कविताएँ भी लिखीं।

इस काल का कवि भक्ति-काल की स्वतन्त्रता अपने में रखता है और वीरगाथा काल की स्वच्छन्दता तथा रीति-काल की रसिकता। इस प्रकार तीनों काल का निचोड़ हमें इस काल में मिलता हैं। इस काल का कवि किसी का आश्रित नहीं, उसे किसी की प्रशंसा नहीं करनी है। वह अपनी इच्छा का स्वच्छन्द पुजारी है। जैसा चाहता है, लिखता है। उस पर किसी का अंकुश नहीं। यही कारण है कि आज का साहित्य बन्धन-विहीन साहित्य है जो किसी काल, विषय अथवा भावना के साथ नहीं बांधा जा सकता। यह मुक्त है और पूर्ण वेग के साथ अबाध रूप से सर्वन्नोमुखी होकर प्रसारित हो रहा है। संसार के सभी उच्चतम साहित्यों के साथ-साथ आशा है कि निकट भविष्य में ही हिन्दी कवि का साहित्य आगे बढ़ता जायगा।

13-हिन्दी साहित्य में नाटकों का विकास

हिन्दी-साहित्य में नाटक मौलिक रचनाओं द्वारा न आकर अनुवादों द्वारा प्रस्फुटित हुए हैं। मुस्लिम-काल में लेखकों का ध्यान इस साहित्य की ओर इसलिए नहीं गया कि देश का वातावरण अव्यवस्थिति होने के कारण इसके प्रतिकूल था। मुसलमानों ने धार्मिक दृष्टि से भी इस प्रकार के साहित्य को नहीं पनपने दिया। केवल कुछ रियासतों में अवश्य नाटकों का प्रचार था और वहाँ पर रंगमंच भी थे। गद्य का विकास न होने के कारण भी नाटक लिखने की ओर लेखकों की अधिक रुचि नहीं हुई।

यों भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से पहले भी दो-चार नाटक हिन्दी में उपलब्ध हैं परन्तु वह रंगमंच पर सफलतापूर्वक नहीं लाये जा सकते थे। इसलिए भारतेन्दु को ही हिन्दी का प्रथम नाटककार मानते हैं। आपके छोटे-बड़े १८ नाटक मिलते हैं। यह मौलिक तथा अनुवाद दोनों प्रकार के हैं। 'मुद्राराक्षस' और 'भारत दुर्दशा' आपके प्रधान नाटक हैं। भारतेन्दु बाबू ने अपने नाटक

प्राचीन नाट्यशास्त्र के आधार पर लिखे हैं। उन पर संस्कृत के अतिरिक्त बँगला की प्रणाली का भी प्रभाव स्पष्ट है। रंगमंच के विचार से भी यह सफल नाटक सिद्ध हुए हैं।

'केटोकृतांत' के लेखक श्री तोताराम, 'रणधीर प्रेम' के लेखक श्री लाला श्रीनिवासदास, केशोराम, गदाधर, भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी, राधाकृष्णदास जी, अम्बिकादत्त व्यास, सत्यनारायण कविरत्न, राजा लक्ष्मणसिंह, राधेश्याम कथावाचक इत्यादि इस काल के प्रमुख नाटककार हैं।

अन्य क्षेत्रों की भाँति नाटक की भी प्राचीन प्रणालियाँ परिवर्तित होने लगीं। दूसरा युग आया और नाटकों के पात्र देवताओं के स्थान पर साधारण सांसारिक मनुष्य बनने लगे। नाट्यशास्त्र के व्यर्थ के नियमों से भी नाटकारों ने अपने को मुक्त किया। रंगमंच के महत्त्व को समझकर नाटक ऐसे लिखे जाने लगे जिन्हें मंच पर प्रदर्शित किया जा सके। पद्य की अपेक्षा नाटकों में गद्य का अधिक प्रयोग हुआ। लेखकों ने सामाजिक कथाओं के आधार पर रचनाएँ लिखीं और राष्ट्रीयता का उनमें समावेश किया। इस काल में समस्यात्मक नाटक भी लिखे गए।

इस दूसरे युग के प्रतिनिधि नाटककार हैं श्री जयशंकर 'प्रसाद' जी। आपने प्राचीन रुढ़िवाद के विरुद्ध लेखनी उठाई और पूर्ण सफलता के साथ प्राचीन संस्कृति का प्रतिपादन करते हुए नाट्यशास्त्र के रुढ़िवाद को अपने नाटक में स्थान नहीं दिया। आपके नाटकों के अधिकतर कथानक भारत के प्राचीन इतिहास पर आधारित हैं। काल्पनिक नाटकों में भी प्राचीन भारत की सभ्यता झाँकती दिखलाई देती है। अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त इत्यादि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। जयशंकर 'प्रसाद' जी के साथ भी नाटक-साहित्य में सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा कि उनके नाटक मंच के विचार से सफल नहीं बन पाये। उनका महत्त्व केवल साहित्यिक क्षेत्र में ही प्रसारित होकर रह गया। जयशंकर 'प्रसाद' जी ने पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया है और उनके नाटकों में अंतर्द्वन्द्वों का समावेश प्रचुरता के साथ मिलता है।

इस काल में नाटक-साहित्य की एक प्रकार से काया ही पलट गई और एक नई विचारधारा के साथ मुक्त कवियों ने नाटक रचना में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लिया। नाट्यशास्त्र के बंधन ढीले पड़ने पर नाटक-साहित्य में स्वाभाविकता को स्थान मिला और रंगमंच को विचार में रखते हुए रचनाएं की गईं। इस कार्य में नाटक कम्पनियों ने भी सहयोग दिया किन्तु उसका सहयोग मंच तक ही सीमित रह गया, साहित्यिक क्षेत्र में नहीं जा पाया। इसका प्रधान कारण यही रहा है कि नाटक कम्पनी तथा सिनेमा वालों ने अच्छे साहित्य को नहीं अपनाया और अच्छे साहित्यिकों ने उस गंदगी में जाने से संकोच किया। जो गये भी, वह उस वातावरण को अपने अनुकूल नहीं बना सके।

बदरीनारायण भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, 'मिलिन्द' गोविन्द बल्लभ पंत, हरिकृष्ण प्रेमी, जी० पी० श्रीवास्तव, रामकुमार वर्मा, सुमित्रानन्दन पन्त सेठ गोविन्ददास तथा उदयशंकर भट्ट इत्यादि इस काल के प्रमुख नाटककार हैं। आज का नाटक-साहित्य काफी उन्नति कर रहा है और भविष्य में उन्नति की सम्भावना है। बँगला और अंग्रेजी के अनुवादों ने भी हिन्दी साहित्य को सुन्दर पुस्तकें प्रदान की हैं। और उनका यहाँ की मौलिक रचनाओं पर काफी प्रभाव पड़ा है। सजीव सामाजिक चित्रण, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, अभिनय-योग्य कथानक, सरल भाषा, सरलता के साथ गीतों का माधुर्य, बस यही इस युग के नाटकों की विशेषताएँ हैं जिनके कारण इस साहित्य को आज के पाठकों ने प्रोत्साहन दिया। हिन्दी नाटक-साहित्य का भविष्य बहुत आशा-पूर्ण है। नई-से-नई रचना साहित्य में आ रही है। लेखक अपनी-अपनी विशेषताओं के साथ नाटक-साहित्य का सृजन कर रहे हैं और गद्य के विकास ने उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सहयोग दिया है। सिनेमाओं में भी अच्छे लेखक पहुँचने लगे हैं। हरिकृष्ण प्रेमी, सुदर्शन, नरेन्द्र शर्मा, प्रदीप इत्यादि के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

14-हिन्दी में गल्प और उपन्यास साहित्य

हिन्दी में गद्य का उत्थान हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने तीन कालों के अन्तर्गत विभाजित किया है। भारतेन्दु से पहिले काल, भारतेन्दु-काल और फिर द्विवेदी-काल। गल्प और उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ हमें निबन्धों की भांति भारतेन्दु से पूर्व के काल में न मिलकर उन्हीं के काल से मिलता है। भारतेन्दु बाबू से पूर्व जो कथाएँ मिलती भी हैं उनका साहित्यिक महत्त्व कुछ नहीं है।

नाटक-साहित्य की भाँति कथा-साहित्य भी हिन्दी में सर्वप्रथम मौलिक रचनाओं द्वारा न आकर अनुवादों के ही रूप में आया। संस्कृत-साहित्य में उपन्यास या कहानी के प्रकार का साहित्य नहीं मिलता। इसलिए संस्कृत से अनुवाद होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। प्रथम अनुवाद बँगला और अंग्रेजी से हुए, परन्तु इनकी भाषा अधिक रोचक नहीं बन पाई, क्योंकि उस समय तक भाषा में रोचकता का अभाव था और वह धीरे-धीरे सुधर रही थी। गदाधर-सिंह, रामकृपाल वर्मा और कार्तिक प्रसाद खत्री इस काल के प्रधान अनुवादक थे।

लाला श्रीनिवास को हम हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास-लेखक मानते हैं। आपके 'परीक्षा गुरू' उपन्यास का शिक्षित समाज में काफ़ी आदर हुआ।

इसके पश्चात् तो मौलिक तथा अनुवादों की हिन्दी में झड़ी लग गई। बाबू राधाकृष्ण जी का 'निःसाहय हिन्दू', बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी', गोपाल राम गहमरी के बँगला के अनुवाद, अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'वेनिस का बाँका' तथा देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' इस काल की प्रमुख रचनाएँ हैं।

इस काल में उपन्यास केवल दिलचस्पी के लिए या चमत्कारप्रधानता के लिए ही लिखे गये। उनमें न तो चरित्र-चित्रण ही किसी काम का था और न सामाजिक समस्या और उन पर विवेचना ही। भाषा में प्रवाह अवश्य था और कथा की तारतम्यता तो उनकी विशेषता थी। इस काल के मौलिक उपन्यास उच्च कोटि के साहित्य की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। उनकी विदेशी अनुवादों से कोई तुलना नहीं। देवकीनन्दन खत्री के अतिरिक्त किसी अन्य लेखक ने जनता को अपनी ओर आकर्षित नहीं किया।

इस काल के पश्चात् हिन्दी-उपन्यासों तथा कहानियों का नवीन काल प्रारम्भ होता है। और यह काल बहुत महत्त्वपूर्ण भी है। युग का संचालक तथा प्रतीक हम मुंशी प्रेमचन्द को मानते हैं। मुंशी प्रेमचन्द हिन्दी-साहित्य के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने तिलस्म और अय्यारी को छोड़कर सामाजिक समस्याओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर ध्यान दिया। आपने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य के अभाव को पहिचाना और अपने प्रयत्नों द्वारा उस अभाव की पूर्ति की। यहाँ हम कथा के इस युग को शैली की विचार-धाराओं में विभक्त करते हैं। इन तीनों के प्रवर्त्तक मुंशी प्रेमचन्द, जयशंकर 'प्रसाद' तथा पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं।

प्रथम धारा, जो प्रेमचन्द ने बहाई, उसकी भाषा विशुद्ध होते हुए भी अपने अन्दर में उर्दू के शब्दों बिलकुल नहीं खो पाई। यह मुहावरेदार कुछ उर्दू-मिश्रित हिन्दुस्तानी का चलता स्वरूप है जो उपन्यासों के लिए उपयुक्त भी रहा और लोकप्रिय भी बन गया। इस भाषा में रवानी है और गाम्भीर्य भी। इस धारा के लेखकों में नवीनता अवश्य पाई जाती है परन्तु प्राचीनता का भी सर्वथा अभाव नहीं। सामाजिक समस्याओं को लेकर इस धारा के लेखकों ने लेखनी उठाई और काफी सफलतापूर्वक उन समस्याओं पर प्रकाश डाला, परन्तु फिर भी इनकी लेखनी द्वारा समाज का वह स्पष्ट और सत्य चित्रण नहीं हो पाया, जो आज का समालोचक चाहता है। इस धारा के लेखकों के चित्रण बहुत लम्बे होते हैं और उनमें वर्णनों की भरमार रहती है। अंग्रेजी-साहित्य के विक्टोरिया-काल की झलक इनके साहित्य में मिलती है। संक्षेप में कुछ कहे जाने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। इन लेखकों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति भी थी। मानो लेखक होने के नाते उपदेशक होने का भार भी इन्होंने अपने सिर पर ले लिया था। इस धारा के प्रधान लेखक मुँशी प्रेमचन्द, विश्वनाथ कौशिक तथा पं० सुदर्शन इत्यादि हैं।

दूसरी धारा को प्रचलित करने वाले थे बाबू जयशंकर 'प्रसाद'। इनके उपन्यास और कहानियों में आदर्शवाद को प्रधानता दी गई है। इनके चित्रण बहुत सजीव और मार्मिक हैं परन्तु इनकी भाषा उपन्यासों और कहानियों के अनुकूल नहीं है। इनकी भाषा में तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग मिलता है, इसलिए कम हिन्दी जानने वाले पाठकों में आपकी रचनाएँ अधिक प्रसारित नहीं हो सकीं। भावुकता इनकी रचनाओं में कूट-कूटकर भरी है। कहीं-कहीं पर तो कहानियों में कविता का मिठास आ जाता है और साथ-ही-साथ गाम्भीर्य भी। इनकी कथाओं में बुद्ध-कालीन संस्कृति का चित्रण मिलता है। ग्रामीण दृश्यों का भी चित्रण है, परन्तु बहुत कम। कथाओं में कथोपकथन अधिक मिलते हैं, चरित्र-चित्रण बहुत सजीव हैं। चंडीप्रसाद जी 'हृद्येश' इत्यादि इस धारा के अन्य लेखक हैं। इस धारा में प्रवाहित होने के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता थी और कथा लेखकों में इसका अभाव होता है। इसलिए इस धारा में बहने वाले बहुत कम लेखक साहित्य में पैदा हो सके। इस धारा के साहित्य का मूल्य रचनात्मक साहित्य की दृष्टि से बहुत अधिक है।

तीसरी धारा, जिसके प्रवर्त्तक 'उग्र' जी थे, बहुत चटपटी भाषा तथा विचारों के साथ साहित्य में आई। मनचले नौजवानों और प्रेम के पुजारियों ने इसका हाथों-हाथ आगे बढ़कर स्वागत किया और इस धारा का प्रचार भी बहुत हुआ; परन्तु यह धारा हिन्दी-साहित्य का कुछ अधिक हित नहीं कर सकी। इस धारा का साहित्य उच्चकोटि के साहित्य की श्रेणी में नहीं आ सका और समाज के चरित्र को सुधारने तथा सामाजिक समस्याओं को सुलझाने में भी इसने कोई सहयोग नहीं दिया। इस धारा के लेखकों ने समाज के नग्न चित्र प्रस्तुत किये हैं और जीवन की कमजोरियों को ज्यों-का-त्यों खोलकर रख दिया है। लेखकों ने कमजोरियों को केवल खोलकर रख देना ही अपना कर्त्तव्य समझा है, कोई सुझाव वह प्रस्तुत नहीं कर सके। इस धारा की रचनाओ में गाम्भीर्य का अभाव रहा है। यही कारण था कि इसकी रचनाएँ केवल एक ही वर्ग द्वारा अपनायी गईं। पाण्डेय बेचन 'उग्र' आचार्य चतुरसेन शास्त्री इत्यादि इस धारा के प्रमुख लेखक हैं।

इस प्रकार इन धाराओं में बहता हुआ साहित्य (उपन्यास तथा कहानी) उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ। आज के युग का हिन्दी-कथा-साहित्य बहुत समुन्नत दशा में है और वह किसी भी अच्छे साहित्य के सम्मुख तुलना के लिए रखा जा सकता है। आज हिन्दी में बहुत अच्छे लेखक हैं जो इस साहित्य को निरंतर उन्नति देने में जुटे हुए हैं और अपनी एक-से-एक अच्छी रचना पाठकों को प्रदान कर रहे हैं। इस साहित्य का भविष्य बहुत उज्जवल है।

हिन्दी में समालोचना-साहित्य-15

यों तो समालोचनाएँ अपने पुरातन ढंग पर बहुत दिन से हिन्दी-साहित्य में चलती आ रही थीं, परन्तु आज के युग में समालोचना ने जो रूप धारण कर लिया है उसकी प्रथम झलक हमें भारतेन्दु-युग में मिलती है। प्रारम्भिक समालोचनाएँ पुस्तकाकार रूप में न मिलकर पत्र-पत्रिकाओं में मिलती हैं।

बद्रीनारायण चौधरी ने 'आनन्द-कादम्बिनी' में अपने कई समालोचनात्मक लेख लिखे। भारतेन्दु-युग में केवल यही समालोचनाएँ उल्लेखनीय हैं। इसके पश्चात् द्विवेदी जी का काल आता है, जब उन्होंने खोज-खोजकर हिन्दी में लेखक और समालोचक पैदा किये। पं० पद्मसिंह जी हिन्दी-समालोचना-क्षेत्र में एक नवीन शैली लेकर आये। उन्होंने इस क्षेत्र में एक क्रांति पैदा कर दी और समालोचकों को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। पं० पद्मसिंह जी हिन्दी, उर्दू, फारसी, संस्कृत और अंग्रेजी के अच्छे विद्वान् थे। यही कारण था कि आपने सभी साहित्यों का अच्छा अध्ययन किया था। आपने प्रथम बार हिन्दी-साहित्य को तुलनात्मक समालोचना की झाँकी दिखलाई और वह बाद में इतनी प्रचारित हुई कि अनेकों समालोचकों ने उसे अपनाया। आपने 'बिहारी सतसई' की टीका की।

इसके पश्चात् कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी', ला० भगवानदीन ने 'देव और बिहारी', विश्वप्रसाद मिश्र ने 'बिहारी की वाग्विभूति', बस बिहारी पर समालोचनाओं की झड़ी लग गई। इसी काल में भुवनेश्वर नाथ 'मिश्र' ने 'मीरा की प्रेम-साधना' नामक एक समालोचनात्मक पुस्तक भी लिखी।

समालोचना का नया युग आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से आरम्भ हुआ। वर्तमान हिन्दी-समालोचकों में शुक्ल जी का सर्वप्रथम स्थान है। तुलसीदास और जायसी की पद्मावत पर जो कुछ आपने लिखा है, वहाँ विराम लगा दिया है। दूसरे समालोचक उलट-पुलट कर उसी के चारों ओर घूम जाते हैं, कोई नवीन विचार प्रस्तुत नहीं कर पाते। शुक्ल जी की समालोचनाओं पर विदेशी प्रभाव है। आपका विषय का विश्लेषण पुराने ढंग का न होकर नवीन ढंग का होता है। आपने लेखक का कर्त्तव्य और उसके काव्य की सफलता दोनों विषयों की तुलनात्मक रूप से विवेचना की है। गम्भीर विषयों को सुलझाने के लिए भाषा का प्रयोग किया है।

आज के युग में हिन्दी का समालोचना-साहित्य दिन-प्रतिदिन उन्नति करता जा रहा है और भविष्य में बहुत उन्नति की सम्भावना है। प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थों पर विद्वानों ने लेखनी उठाई है और उनकी समालोचनाएँ करके उन्हें इस योग्य कर दिया है कि पाठक इन्हें पढ़कर उचित अर्थ समझ सकें। बाबू श्यामसुन्दरदास जी, हजारीप्रसाद 'द्विवेदी', श्री व्यास जी, शांतिप्रिय द्विवेदी

जी, नरोत्तम प्रसाद नागर, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इत्यादि लेखकों ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

आज के युग में समालोचना विश्लेषणात्मक ढंग की होती है जिसमें रचना के प्रति किसी विशेष प्रतिपादन की दृष्टि को लेकर नहीं चला जाता वरन् उसके गुण और दोष पर समुचित रूप से विचार किया जाता है। समालोचक का कर्त्तव्य है कि वह रचना को पाठकों के निकट पहुँचाने में सहयोग प्रदान करे और आज के हिन्दी-साहित्य के समालोचक अपने इस कर्त्तव्य को निभाने में पूर्ण रूप से कटिबद्ध हैं। आशा है इस से हिन्दी-साहित्य की उन्नति में सहयोग मिलेगा।

16-पृथ्वीराज रासो

पृथ्वीराज रासो वीरगाथा-काल का उसी प्रकार प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिस प्रकार चन्दबरदाई इस काल का प्रतिनिधि कवि। पृथ्वीराज रासो 69 समय (अध्याय) का एक बृहद ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ दोहा, तोमर, त्रोटक तथा रोला इत्यादि आर्य-छन्दों में लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ के लेखक के रूप में जिस कवि का नाम आता है वह महाकवि चन्दवरदाई ही है; परन्तु इस विषय में बहुत से मतभेद भी हैं। पहले हम ग्रन्थ की विवेचना करके फिर उसकी प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता पर विचार करेंगे।

इस ग्रन्थ में आद्योपांत कवि द्वारा महाराज पृथ्वीराज के यश का ज्ञान किया गया है। यह इस काल के ग्रन्थ के लिए कोई नई बात नहीं थी। किसी-न-किसी का यह वर्णन होना तो उसमें आवश्यक भी था और फिर इसमें तो हिन्दुत्व के उस काल के प्रतीक का चरित्र-चित्रण था, फिर क्यों न यह हिन्दू जनता में प्रसिद्धि पाता? कल्पना की उड़ानों के साथ-साथ उक्तियों और अलंकारों का इस ग्रन्थ में विशेष प्रयोग किया गया है। अनेकों स्थलों पर युद्ध-कला का बहुत सजीव चित्रण मिलता है तथा वीर और वीभत्स का बहुत सुन्दर प्रवाह इस पुस्तक में है।

समस्त ग्रन्थ पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ एक ही काल में नहीं लिखा गया। इसकी भाषा में भी स्थान-स्थान पर बहुत अन्तर है। कहीं पर विशुद्ध संस्कृति-गर्भित हो जाती है तो कहीं पर उसमें ग्रामीणता आ जाती है, कहीं पर उर्दू का-सा ठाठ दिखलाई देने लगता है तो कहीं पर कबीरकालीन शब्दावली मिल जाती है।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता एक ऐसा विषय है जिस पर हिन्दी के विद्वानों में सर्वदा से मतभेद रहता चला आया है। दोनों ही पक्ष

में टक्कर के विद्वान हैं, इसलिए हम दोनों ही मतों को यहाँ पर प्रकट करेंगे। पहिला मत जो इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानता है उसे प्रतिपादित करने वाले प्रधान व्यक्ति पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, श्यामलदान और मुरारीदान हैं। यह अपने मत की पुष्टि में उसी काल के काश्मीरी कवि जयानक-रचित पुस्तक 'पृथ्वीराज-विजय' को प्रस्तुत करते हैं। इस पुस्तक के आधार पर यदि देखा जाय तो चन्दवरदाई उस काल के कवि ही नहीं ठहरते। जयराज ने अपने काल के सभी प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है, परन्तु उसमें कहीं पर भी राज-कवि पृथ्वीराज का नाम नहीं आया। दूसरा प्रमाण जो वह देते हैं, वह यह है कि उस काल के शिला लेखों और दान-पात्रों पर जो संवत् दिया है वह रासो के संवतों से मेल नहीं खाता। तीसरी बात जो रासो में लिखी है, कि पृथ्वीराज ने गौरी को सात बार रण में हराया, वह ऐतिहासिक सत्य नहीं है। चौथा प्रमाण इसकी भाषा है। ग्रन्थ की भाषा स्थान-स्थान पर बदलकर ऐसी जान पड़ती है कि इस ग्रन्थ की पूर्ति कई कालों में जाकर हुई और जब-जब यह लिखी गई उस काल की भाषा की छाप इसमें आ गई। पाँचवा प्रमाण जो पहलों से अधिक प्रबल है वह यह है कि इस ग्रन्थ में चंगेज़ तथा तैमूर के भी नाम आते हैं और यह लोग भारत में इस काल के पश्चात् आये हैं। छठा प्रमाण यह है कि 'पृथ्वीराज-विजय' के आधार पर संयोगिता-हरण और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना दोनों ही बातें असत्य हैं। सातवाँ प्रमाण यह है कि हाँसी के शिलालेख और 'पृथ्वीराज-विजय' के अनुसार पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूर देवी है। यह बात रासो द्वारा प्रतिपादित नहीं होती।

जिस प्रकार अप्रामाणिक मानने वाले विद्वान् तर्क देते हैं, उसी प्रकार प्रामाणिक मानने वाले भी उनके पीछे नहीं हैं। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले प्रधान व्यक्ति हैं पं० मोहनलाल विष्णुलाल जी, मिश्रबन्धु और बाबू श्यामसुन्दरदास जी। इनका मत है कि यह ग्रन्थ पूर्णरूप से प्रामाणिक है। हाँ, इतना अवश्य है कि अधिक पुराना होने के कारण साहित्य-प्रेमियों द्वारा गाया जाने के कारण, इसकी भाषा में कुछ अन्तर अवश्य आ गया है। कश्मीरी कवि जयानक ने अपने ग्रन्थ 'पृथ्वीराज-विजय' में जो चन्दवरदाई के विषय में कुछ नहीं लिखा इसका कारण कलाकारों का आपस का द्वेष हो सकता है। संवतों के अन्तर के विषय में मोहनलाल विष्णुलाल जी कहते हैं कि अन्तर सब संवतों में 90 वर्ष का है और प्रत्येक स्थान पर यह अन्तर निश्चित होने से यह सिद्ध होता है कि कवि ने इसे जान-बूझ कर रखा है। नन्द-वंशीय-शूद्र राजाओं का 90 वर्ष का काल कवि ने अपने संवतों में नहीं गिना। मिश्रबन्धु कहते हैं, शाहबुद्दीन गौरी का सात बार हराया जाना, मुसलमान इतिहासज्ञों द्वारा स्वीकार न करना उनकी कमजोरी है। बाबू श्यामसुन्दरदास जी चन्द

को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, परन्तु उनका यह मत है कि इस ग्रन्थ का अंश प्रक्षिप्त अवश्य है; कितना है, इसका आज निर्णय करना कठिन है। फ़ारसी शब्दों के विषय में ओझा जी की शंका का समाधान मिश्रबन्धु इस प्रकार करते हैं कि मुसलमान यहाँ पहले से ही आये हुए थे और चन्द क्योंकि लाहौर के निवासी थे इसलिए उनकी भाषा पर उनका प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार दोनों ही मत प्रबल हैं। पृथ्वीराज रासो इस काल की ही नहीं, हिन्दी-साहित्य की एक अनुपम कृति है, जिस पर साहित्य को गर्व है और रहेगा।

17-पद्मावत

पद्मावत हिन्दी-साहित्य की प्रेमाश्रयी शाखा का प्रधान ग्रन्थ है। इस शाखा के सभी सिद्धान्तों का समावेश हमें पद्मावत में मिलता है। इस ग्रन्थ के लेखक मलिक मुहम्मद जायसी हैं, जिन्होंने विशुद्ध अवधी भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की है। इनकी भाषा मानस जैसी परिष्कृत अवधी नहीं है, इसमें ग्रामीणता की झलक आ जाती है। हिन्दी-साहित्य में मिलने वाले प्रबन्ध-काव्यों में रामचरितमानस के पश्चात् पद्मावत का ही स्थान है और प्रेम-काव्यों में इसका स्थान सर्वप्रथम है। हिन्दी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों का मत है कुछ दृष्टिकोणों से देखने पर यह हिन्दी-साहित्य का सर्वप्रथम ग्रन्थ ठहरता है।

प्रेम-तत्त्व का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में सूफी-सिद्धान्तों के आधार पर किया गया है और आत्मा का सम्बन्ध स्त्री-प्रेम के रूप में ही ईश्वरीय शक्ति के साथ कवि ने प्रदर्शित किया है। कवि का मत है कि सच्चा प्रेम यही ईश्वरीय प्रेम में परिवर्तित हो जाता है, यदि मनुष्य माया से अपने को मुक्त कर ले। पद्मावत का नायक रत्नसेन अपनी रानी नागमती-रूपी माया से अपने को मुक्त करके अनेकों कष्टों को सहन करता हुआ पद्मिनी को प्राप्त करने के लिए जाता है और उसके प्रेम में योगी हो जाता है। पद्मावती उसकी परीक्षा करके अपना प्रेम उसके ऊपर अर्पित कर देती है। यह सब सूफ़ी-सिद्धांतों के आधार पर होता है। कवि ने भौतिक प्रेम में सफलतापूर्वक पारिलौकिक प्रेम प्रदर्शित किया है।

ग्रन्थ की कथा ऐतिहासिक है, परन्तु कवि ने कल्पना के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लिया है और काव्यात्मक सौंदर्य लाने में वह बहुत सफल हुआ है। विरह का वर्णन जायसी की विशेषता है। रत्नसेन के चले जाने पर नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग की अनोखी रचना है। इसकी तुलना केवल सूर के किये गये गोपियों के विरह-वर्णन से ही की जा सकती है, परन्तु प्रबन्धात्मकता में बँधकर भी जिस मुक्त प्रवाह के साथ जायसी

ने वर्णन किया है वह सराहनीय है। सूर और जायसी के किये वर्णन में साहित्यिक सौन्दर्य का अन्तर नहीं, अन्तर केवल यह है कि सूर का वर्णन पूर्ण रूप से भारतीय ढंग पर हुआ है और जायसी का उर्दू ढंग पर। विरह-वर्णन में अत्युक्तियाँ अवश्य हैं परन्तु जायसी की शैली और वातावरण के दृष्टि-कोण से वह दोष प्रतीत नहीं होता।

पद्मावत आद्योपांत भाव और भावनाओं के निर्मल साँचे में ढला हुआ है। शब्द, अलंकार और भाषा का चमत्कार कवि ने काव्य में पैदा करने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसा न करने का एक प्रधान कारण यह भी था कि जायसी कवि पहले थे और विद्वान् बाद में। कवि ने स्वयं विद्वान् होने का दावा नहीं किया। उन्होंने लिखा है "हौं पण्डितन केर पछ लगा"...।

कवि ने स्वाभाविक अनुभूति और हृदय की मार्मिकता का निचोड़ पद्मावत में आदि से अन्त तक भरने का प्रयत्न किया है। जिस विषय को भी लिया है उसका पूर्ण रूप से रसास्वादन वह अपने पाठकों को कराने में हर प्रकार से सफल हुआ है।

ज्योतिष, योग, शतरंज इत्यादि के सुन्दर वर्णन इस काव्य में मिलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि को उन विषयों का पूर्ण ज्ञान था। कवि के वर्णन बहुत सजीव और सुन्दर हैं। ज्ञान और प्रेम का जो सम्मिश्रण इस काव्य-ग्रन्थ में किया गया है वह हिन्दी के अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

कबीर के काव्य में जिस प्रकार ज्ञान को प्रधान स्थान दिया गया है उसी प्रकार जायसी ने अपने काव्य में प्रेम को प्रधानता दी है। ज्ञान, योग और प्रेम के सम्मिश्रण से यह विषय भी चिन्तन का बन गया है और इसलिए इसे भी विद्वान् रहस्यवाद के अन्तर्गत ही गिनते हैं। कवि का दर्शन इस रहस्य में छिपा हुआ है। वह दर्शन कबीर-पन्थी ज्ञान, वैष्णव-भक्ति और सूफ़ी-प्रेम का मिला-जुला स्वरूप है। भावनाएँ बहुत स्पष्ट हैं। रूपकों को समझने में अधिक कठि-नाई नहीं होती। यह सब होते हुए प्रेम-तत्त्व को समझने में कठिनाई होती ही है। सूफ़ी-सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान हुए बिना प्रेम-तत्त्व को समझना कठिन है।

पद्मावत सुन्दर साहित्यिक ग्रन्थ होते हुए भी जनता में अधिक प्रचारित नहीं हो सका। इसका प्रधान कारण यही था कि उस काल में जनसाधारण साहित्य को साहित्य के लिए न पढ़कर धार्मिक दृष्टिकोण से अधिक पढ़ते थे। जायसी का धार्मिक दृष्टिकोण उसकी अपनी कल्पना थी, जो भारतीय जनता का धर्म सिद्धांत नहीं बन सकी। यही प्रधान कारण था कि इस ग्रन्थ का भी अधिक प्रचार नहीं हो सका। परन्तु उस काल में इसका प्रचार न होते हुए भी आज का साहित्यिक समुदाय इस महान् ग्रन्थ के मूल्यांकन में भूल नहीं कर सकता। हिन्दी-साहित्य में इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा मूल्य है और इसने एक युग की एक विशेष धारा का प्रतिनिधित्व किया है।

18-रामचरितमानस

प्राचीन भाषाओं में कालिदास-कृत 'रघुवंश', 'वाल्मीकीय रामायण,' होमर-कृत 'ईलियड', वर्जिल-कृत 'ईनियड', फिरदौसी-कृत 'शाहनामा' और आधुनिक भाषाओं में मिल्टन का 'पैराडाइज़ लॉस्ट' दाँते का, 'डिवाइन कॉमेडी,' माइकेल मधुसूदन दत्त का मेघनाद-वध' इत्यादि प्रमुख काव्य माने जाते हैं। रामचरित-मानस को हम बहुत सुगमता से उक्त काव्य ग्रन्थों की श्रेणी में रख सकते हैं। भाषा, भाव, काव्य-सौन्दर्य, दूरदर्शिता दर्शन, हृदयग्राहिता, पाठकों में सम्मान और व्यापकता सभी दृष्टिकोणों से मानस एक अलौकिक ग्रन्थ है जिसकी तुलना संसार के किसी भी महाकाव्य से की जा सकती है। मानस मानव संसार के उन अमर ग्रन्थों में से है जिसमें क्षण-भंगुर काव्य का सृजन कवि ने नहीं किया बल्कि मानव के उन मूल भावों का विवेचन किया है जिनके द्वारा कवि ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से मानव-समाज का जीता-जागता स्वरूप सामने रख दिया।

महाकाव्य भाषा और भाव का संयोग है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' में प्रेम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इत्यादि मानव के सभी विकारों का सुन्दर भाषा में चित्रण किया है। मानस की भाषा भारत के अधिकांश वासियों की भाषा है इसलिए इस ग्रन्थ का लाभ केवल कुछ इने-गिने साहित्य-प्रेमी ही न उठाकर सभी काव्य-प्रेमी तथा भक्तों ने उठाया है। हिन्दी-साहित्य के इस ग्रन्थ ने जितनी ख्याति प्राप्त की है उतनी अन्य कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं कर सका। यह भारत की जनता के हृदय का ग्रन्थ बना और गले का कण्ठ-हार। इसके बिना आज हिन्दू जाति की गति नहीं। फिर हो भी भला क्यों नहीं, आप मानस को आद्योपांत पढ़िए और बाल्यावस्था से लेकर वृद्धा-वस्था तक का आनन्द-लाभ करिये। बचपन में राम हमारे भाई है, कौशल्या हमारी माता हैं, दशरथ हमारे वृद्ध पिता हैं। गुरु के साथ जाने को आज्ञा देने पर दशरथ को उसी प्रकार दुःख होता है जिस प्रकार वृद्ध पिता को होना स्वाभाविक है परन्तु पुत्र आज्ञा-पालन में संकोच नहीं करता। राम धनुर्विद्या सीखते है, वन-वन विचरते हैं, यौवनावस्था में कुमारी के प्रेम-पाश में फँसते हैं, सीता-दर्शन होने पर राम और लक्षमण का वार्तालाप सुन्दर है। यह सौन्दर्य स्वयं वाल्मीकि भी अपनी रामायण में नहीं ला पाये हैं। राम का गार्हस्थ्य-जीवन कष्टमय है, सम्भवतः इसलिए क्योंकि इस जीवन के प्रति कवि स्वयं भी उदासीन था। राम की वन यात्रा का कवि ने बहुत सजीव चित्रण किया है। लंकाकाण्ड में युद्ध-वर्णन पुराने ढंग का है और बहुत योग्यता के साथ किया गया है। यहाँ मन्दोदरी का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक है। तुलसीदास ने मानसिक चित्र खींचने में जितनी निपुणता बाल-काण्ड और अयोध्याकाण्ड में दिखलाई है उतनी अन्य किसी काण्ड में नहीं दिखला पाये हैं। उत्तरकाण्ड तो बालकों और युवकों की समझ में ही आना

कठिन है, ज्ञान का वर्णन है त्यागी मनुष्यों के लिए। इस प्रकार यह ग्रन्थ आद्योपांत अपने-अपने स्थान पर सुन्दर है।

इस महाकाव्य में कवि ने समाज के प्रायः सभी पात्रों का सृजन किया है। पुत्र के रूप में राम, लक्ष्मण, भरत, पुत्री सीता, पिता दशरथ, जनक, माता कौशल्या, सुमित्रा; कैकेयी; भाई राम, लक्ष्मण, भरत, विभीषण, सुग्रीव; मित्र सुग्रीव, विभीषण; स्त्री सीता, जनता अयोध्या की जनता; राजा दशरथ, शत्रु रावण; देशद्रोही विभीषण, दुष्ट भाई वाली इस प्रकार समाज में जितने प्रकार के भी चरित्र उपलब्ध हो सकते हैं, कवि ने खोज-खोजकर इस महाकाव्य में सफलता पूर्वक चित्रित किए हैं।

मानस कवि की हिन्दी-साहित्य को एक अनूठी देन है। इस महाकाव्य में तुलसी ने अपने काव्य और दर्शन दोनों का समन्वय किया है। महाकवि तुलसीदास ने इस ग्रन्थ द्वारा उस लोक-धर्म का प्रतिपादन किया है जिसकी निर्गुण पन्थ के कवि अवहेलना करते चले आ रहे थे। पारस्परिक सम्बन्धों की उदासीनता को दूर कर कवि पति-प्रेम, मित्र-भक्ति, मातृ-स्नेह, कुल-मर्यादा, अत्याचार का दमन इत्यादि भावनाओं से भारतीय समाज को एक बार फिर से भर दिया है। जनता को कर्त्तव्य की वेदी पर लाकर खड़ा कर दिया है और जीवन को जीवन मानकर चलने का आदेश दिया है। कवि ने जनता के भूले हुए लौकिक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान दिलाया। मानस की रचना करके आपने मानस के अंग-प्रत्यंग पर प्रकाश डाला है। व्यक्तिगत साधना और भक्ति के बहाव में मनुष्य को लोक-धर्म ठुकराने की आज्ञा कवि ने नहीं दी। सीता के दुबारा बनवास के पश्चात् राम साधू हो सकते थे परन्तु नहीं, उन्हें अपना कर्त्तव्य पालन करना था। इस प्रकार तुलसीदास ने मानस की रचना करके समय के झूठे वेदान्तियों को अपनी भक्ति के बहाव से पाखण्ड फैलाने से रोका और ज्ञान तथा भक्ति के बीच में एकता स्थापित की।

रामचरितमानस की कथा आज जनता के जीवन की अपनी कथा है। काव्य में उसका तारतम्य कहीं टूटने नहीं पाया। व्यर्थ का चित्रण जैसा जायसी के पद्मावत में मिलता है उसका मानस में अभाव है। जिस बात को मानस में कवि ने कहना चाहा है उसका आभास हमें पहिले से ही मिलना आरम्भ हो जाता है। इसलिए जब वह सामने आती तो भार-स्वरूप नहीं मालूम देती। ग्रन्थ में जहाँ-जहाँ भी दुष्ट पात्रों का समावेश हुआ है वहाँ वहाँ उस पर कवि अपना कोप प्रकट करने में नहीं चूके हैं। ब्राह्मणों की महिमा का कवि ने गान किया है। स्त्री की निन्दा की हैं, परन्तु प्रमदा के रूप में नारी अथवा अन्य किसी रूप में नहीं। यदि हम महाकाव्य की एक पंक्ति को काव्य से बाहर निकालकर विचार करना आरम्भ कर देते हैं तो वह कवि के साथ अन्याय होता है। क्योंकि हमें उस पंक्ति का अर्थ उसी स्थान पर लगाना चाहिए जहाँ जिस

पात्र के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। यदि तुलसी ने "ढोर गँवार शूद्र पशु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी" लिख भी दिया है तब भी सीता का चरित्र-चित्रण क्या संसार की माता के रूप में उन्होंने नहीं किया ?

काव्य की दृष्टि से मानस एक अनुपम काव्य है। इसमें अच्छे काव्य के सभी गुण विद्यमान हैं। प्राय: नौ के नौ रस इस ग्रन्थ में कहीं न कहीं पर मिलते हैं और यदि अलंकारों को खोजकर निकालने का प्रयत्न किया जाय तो वह भी एक रीतिकालीन ग्रन्थ की पूर्ति के लिए पर्याप्त हैं। अर्थालंकार के साथ-साथ अनुप्रासों पर कवि ने विशेष बल दिया है। ग्रन्थ दोहा और चौपाई में लिखा गया है। तुलसीदास जी ने यों तो सभी रसों में रचना की है परन्तु इनका विशेष रस शान्त ही रहा है। जायसी की भाँति मानस की भाषा भी कवि ने अवधी ही चुनी है। शास्त्र-पारंगत विद्वान् होने के कारण गोस्वामी जी की शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है।

कथा-काव्य या प्रबन्ध-काव्य के भीतर इतिवृत्ति वस्तु व्यापार-वर्णन, भाव-व्यंजना और सवाद, ये अवयव होते हैं। अयोध्यापुरी की बाल-लीला, नख-शिख जनक-वाटिका के वर्णन कहीं पर भी कवि ने इतिवृत्ति की शृंखला को टूटने नहीं दिया है। जिस मर्यादा का पालन कवि ने रामचरित रचने में किया है काव्य रचना में भी उसे भुलाया नहीं है। न कहीं आवश्यकता से अधिक वर्णन है और न कहीं आवश्यकता से कम। मानस में कवि ने प्रसंगों के अनुकूल भाषा और रसों के अनुकूल शब्दों का प्रयोग किया है। समाज और परिस्थिति के अनुसार ही संस्कृत-गर्भित हिन्दी और ठेठ ग्रामीण भाषा का प्रयोग काव्य में किया गया है। घरेलू प्रसंग होने के कारण कैकेयी और मंथरा के संवाद ठेठ बोली में हैं। काव्य में शृंगार का लोप नहीं है, परन्तु मर्यादा के साथ उसे कवि ने कुशलतापूर्वक निभाया है।

इस प्रकार मानस पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने मानस की रचना केवल अपने दृष्टिकोण से नहीं की वरन् समस्त संसार पर दृष्टि फैलाकर की है। इसमें जीवन के मार्मिक चित्रण हैं, प्रकृति का असीम सौन्दर्य है, दर्शन की पैनी साधना है, काव्य का अलौकिक सौन्दर्य है, भक्ति की मर्यादा है, हिन्दू-मात्र के सब धर्मों का समन्वय है, मानव-जीवन की एकता का महान् आदेश है, और सबसे सुन्दर है शान्त रस का अथाह सागर जिसमें डुबकियाँ लगाकर मानव अपने जीवन की, अपने हृदय की और अपने शरीर की जलन को सर्वदा के लिए बुझा सकता है। मानस को पढ़कर हृदय और मन को शान्ति मिलती है और यह भूले-भटके जीवन-राही का पथ-निर्देशन करता है। मानस की रचना करके कवि ने केवल हिन्दी भाषा-भाषियों का ही नहीं वरन् मानव समाज का महान् हित किया है।

विनय पत्रिका-19

विनय-पत्रिका गोस्वामी जी की अन्तिम और साहित्य की दृष्टि से प्रौढ़तम रचना है। इसकी शैली उनकी सभी रचनाओं से पुष्ट है। इस रचना में भावों की पुष्टि के लिए कवि को कई भाषाओं का आश्रय लेना पड़ा है। यह समस्त पुस्तक गीति-काव्य है। विनय-भावना के इतने सुन्दर पद समस्त सूर-सागर में भी देखने को नहीं मिलते। आत्म-विस्मृति, तन्मयता, भाव-संचय और गीत-माधुर्य रचना में कूट-कूटकर कवि ने भर दिया है। तुलसी का दर्शन और उसके आध्यात्मिक विचार इस ग्रन्थ में बहुत पुष्ट होकर भक्त पाठकों के सम्मुख आये हैं। कुछ विद्वान् समालोचक तो आध्यात्मिक क्षेत्र में विनय-पत्रिका को मानस से कहीं प्रौढ़ रचना मानते हैं। इस पुस्तक में कवि के लौकिक जगत पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है।

स्त्रोत, पद और कवित्त तीन प्रकार की शैलियों में इस रचना को विभक्त किया जा सकता है। जहाँ तक साहित्यिक दृष्टि का सम्बन्ध है तुलसीदास जी के स्त्रोंतों को अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उनमें संस्कृत-स्त्रोतों की छाया-सी प्रतीत होती है। इनकी भाषा बहुत क्लिष्ट है और इतनी संस्कृत-गर्भित है कि साधारण हिन्दी-पाठकों के लिए उन्हें समझना कठिन हो जाता है। इनमें अनेकों देवी-देवताओं की लीलाओं का सुन्दर वर्णन दिया गया है। इनमें पुनरावृत्ति की भरमार है, इसलिए साहित्यिक रोचकता नष्ट हो जाती है। इनमें अनेकों देवी-देवताओं की उपासना राम के निमित्त ही की गई है। तुलसी के लिए सब देवता उपास्य हैं परन्तु स्वतंत्र रूप से नहीं।

विनय-पत्रिका में कवि ने भक्ति की दीनता को पराकाष्ठा तक पहुँचा यदि है। दास्य-भावना के साथ कवि देवेच्छा के प्रतिकूल कुछ न कहने का संकल्प करता है, भगवान् की रचना में विश्वास रखता है, भगवान् को मुक्ति प्रदान करने वाला और भक्तवत्सल बतलाता है। इस रचना में आत्म-समर्पण की भावना प्रचुरता के साथ कवि ने प्रदर्शित की है। भगवान् के सामने कवि इतना दीन है कि वह तो अपनी विनय-पत्रिका को लेकर भी स्वयं नहीं जा सकता। उसे लेकर जाने के लिए भी उसे हनुमान जी का आश्रय लेना होता है। वैष्णव-सम्प्रदाय के विनय-सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रतीकस्वरूप हम विनय-पत्रिका को ग्रहण कर सकते हैं। दीनता, मान-मर्षता, भय-दर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनो राज्य, विचारण-विनय की सातों प्रकार की भूमिकाएँ इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। यही कारण है कि तुलसी के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अध्ययन करने से पूर्व विनय-पत्रिका का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

यह ग्रन्थ वृद्धावस्था का लिखा हुआ होने के कारण कवि की धार्मिक कल्पनाओं, धारणाओं और सिद्धान्तों का एक निश्चित आदर्श बन गया है। आध्या-

त्मिक क्षेत्र में जो पुष्टि मानस में भी नहीं आ पाई, वह इस रचना में आ गई है। मानस लिखने के पश्चात् कवि की भावनाओं में जितना विकास हुआ है, वह सब इस रचना में आ गया है। मानस में कवि की भावना भक्ति, ज्ञान और कर्म के साथ-साथ चलती है, परन्तु विनय-पत्रिका की भक्ति अनन्य है वृद्धावस्था में आकर कवि अपने को एक अनन्य भक्त के रूप में देखता है और उसके अन्दर से कर्म तथा ज्ञान का सर्वथा लोप हो जाता है। राम उसका एक देवता है और वह उसका उपासक। कवि भक्त की ओर ही अग्रसर है, कर्म तथा ज्ञान की ओर नहीं। अपने उपास्य को प्राप्त करने के लिए केवल भक्ति ही उसका साधन है और साध्य भी। यहाँ आकर कवि प्रत्येक देवता से राम की भक्ति कराना चाहता है। अन्तिम काल में कवि संसार से सम्बन्ध विच्छेद करके राम-चरणों में लगन लगाते हैं। ससार के सब सम्बन्ध वह राम से ही जोड़ लेते हैं—

ब्रह्म तू, हौं जीव, तुम्हीं ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु सखा, तू सब विधि हित मेरो॥

राम के शील का मनन, राम-नाम का स्मरण, राम के सम्मुख आर्त्त-भाव से निवेदन, रामभक्तों का सत्संग और अन्त में हरि-स्वकृपा। यह सब गोस्वामी तुलसीदास जी के हरि-उपासना के साधन विनय-पत्रिका में बतलाए गए हैं। हरि-कृपा को कवि ने सबसे प्रधान साधन बतलाया है जिसके बिना अन्य सब साधन व्यर्थ हो जाते हैं और जीव को गति प्राप्त नहीं होती। भक्त पर भगवान् जब करुणा करके द्रवित होते हैं, यह कृपा तभी सम्भव है और वह द्रवित तभी हो सकते हैं जब भक्त फल की इच्छा न रखते हुए दास्य-भावना से भगवान् की भक्ति में अपना तन, मन, धन लगा लेता है। मानव-जीवन की शान्ति के लिए हरि-भक्ति की आवश्यकता है। मन की शुद्धि से शान्ति प्राप्त होती है और मन की शुद्धि से ही भक्ति हो सकती है। शान्ति-पूर्वक शुद्ध मन से भक्ति करने पर ही हरि-कृपा प्राप्त होती होती है। रामचरणों में अनुरक्ति होने से ही कलि-काल में मानव पापों से मुक्त हो सकता है और उसके चित्त की प्रवृत्ति शुद्धि की ओर हो सकती है। संसार का रमणीक अथवा भयानक लगना भ्रम और अविवेक के ही कारण है। यह भ्रम और अविवेक हरि-कृपा के बिना दूर नहीं होता।

इस प्रकार हमने देखा कि विनय-पत्रिका की रचना प्रधानतया कवि ने साहित्यिक दृष्टिकोण के लोक-धर्म-स्थापना अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं की। यह रचना कवि ने अपने आध्यात्मिक दृष्किोण के प्रतिपादन के लिए की है। इसमें 'सन्तोष, परहित चिन्तन, मृदु-भाषण, राग-द्वेष-हीनता, मान-हीनता, शीतलता, सुख-दुख में समद्बुद्धि" इत्यादि गुणों की ओर भक्त-जनों का ध्यान आकर्षित करने में कवि पूर्णतया सफल रहा है।

सूरसागर-20

"सूर-सागर" महाकवि सूरदास की प्रधान रचना है। सूर के जीवन की महानता और उनके काव्य का मूल्यांकन इसी महान् ग्रन्थ द्वारा किया जा सकता है। 'सूर-सागर' का जो रूप इस समय उपलब्ध है उसे देखने से ज्ञात होता है कि 'सूर-सागर' की कथा कुछ बिखरे रूप में श्रीमद्भागवत की ही भाँति स्कंधों में बँटी हुई है। पहिले नौ स्कंधों और अन्तिम दो स्कंधों का क्रम भागवत से बिलकुल मिलता है। 'सूर-सागर' में भागवत की सभी कथाओं का समावेश नहीं है और जितना है वह संक्षेप में किया गया है। कही-कहीं पर साहित्यिक सौन्दर्य लाने के लिए कथाओं में कुछ परिवर्तन भी कवि ने कर दिया है। नवें स्कंध में राम-कथा पदों में गाई गई है और वह बहुत सुन्दर काव्य है। दशम् स्कंध के अतिरिक्त शेष कथा वर्णनात्मक चौपाइयों में लिखी गई है। सूर की कला का प्रदर्शन चौपाई-छंद में उतना सुन्दर नहीं हो पाया जितना पदों में हुआ है। यह कथाएँ सुन्दर न लिखी जाने पर भी कवि ने पुष्टिमार्ग के धार्मिक दृष्टिकोण से उन्हें लिखा है। श्रीमद्भागवत का भाषा में प्रचार करना वह अपना धर्म-कर्तव्य समझते थे। यह कथाएँ कवि ने अपनी और अपने साथियों की प्रेरणा से लिखी होंगी। 'सूर-सागर' के दशम्-स्कंध के पूर्वार्ध में सुन्दर वर्णनात्मक छंद मिलते हैं और यहाँ पर कहीं-कहीं कथाओं की पुनरुक्ति भी हो गई है। सम्भवतः कवि ने पहिले इस समस्त ग्रन्थ की रचना की है और बाद में जो सुन्दर पद उन्होंने लिखे हैं उन्हें भी विषयानुकूल इसी ग्रन्थ में रख दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस ग्रन्थ में अन्य भक्त कवियों द्वारा लिखे हुए पद भी हैं। सूरदास ने खंडिता, फाग, मान आदि के जो नवीन प्रसंग लिए हैं उनका वर्णन कवि ने पदों में किया है। यह समस्त ग्रन्थ सरल और मधुर ब्रजभाषा में लिखा हुआ है।

यदि साहित्यिक दृष्टि और सूरदास के महत्त्व को लेकर 'सूर-सागर' को देखा जाय तो 'सूर-सागर' के दशम् स्कध का पूर्वार्द्ध पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग ठहराता है। यह भाग पदों में गाया गया है। इन पदों का पहला भाग कृष्ण की उन लीलाओं से सम्बन्धित है जिनमें उन्होंने असुरों का वध किया है। इन पदों में वर्णनात्मकता ही पाई जाती है। कवि की प्रतिभा का कोई चमत्कार नहीं दिखलाई देता। केवल कालिय-दमन और इंद्र-गर्व हरण की कुछ लीलाओं का वर्णन सुन्दर है। इनके वर्णन में कवि की उच्चतम प्रतिभा का आभास मिलता है। इन कथाओं में सूरदास ने भागवत की कथाओं को ज्यों-का त्यों नहीं दिया है। वरन् उनमें कलात्मक परिवर्तन किया है और उनमें सरस स्थल पैदा किये हैं। इन अलौकिक कथाओं के अतिरिक्त कृष्ण की अन्य लीलाओं में कवि

ने कृष्ण की लौकिक लीलाओं का ही चित्रण किया है।

कृष्ण की जो लौकिक लीलाओं का चित्रण सूर ने किया हैं वह अमर है और उसी के आधार पर सूर को भाषा के पंडितों ने सूर्य की पदवी प्रदान की है। बाल-काल और किशोरावस्था सम्बन्धी पद सूरदास ने अपनी मौलिक कल्पना के आधार पर लिखे हैं। इनमें भागवत से कवि ने कुछ नहीं लिया। कृष्णा का बाल-चित्रण और नन्दा, यशोदा का वात्सल्य-वर्णन करने में कवि की अद्वितीय प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ भागवत पर कुछ अवश्य आधारित हैं परन्तु उनमें भी कवि ने अपनापन पूर्ण रूप से भर दिया है। दान-लीला, मान, खंडिता, हिंडोला-फाग और राधा की कल्पना यह सब सूर के मौलिक प्रसंग हैं। राधा का प्रथम मिलन, फिर वियोग और फिर मिलन यह कथा कवि ने बहुत विस्तार और सौन्दर्य के साथ वर्णित की है। भागवत में तो कहीं राधा नाम भी नहीं मिलता।

'सूर-सागर' का भ्रमर-गीत प्रसंग बहुत सुन्दर है। भागवत् के भ्रमर-गीत और सूर के भ्रमर-गीत में आकाश-पाताल का अन्तरहै। भ्रमर-गीत का आकार कवि ने श्रृंगार-शास्त्र के आधार पर खड़ा किया है। राधा-कृष्ण के प्रसंगों को लेकर कवि ने वंशी के उद्दीपन-विभाव प्रस्तुत करके काफी लिखा है। वाग्वैदग्ध्य के सुन्दर उदाहरण रूप-सौन्दर्य और उद्धव के प्रसंगों में मिलते हैं। कवि ने मुरली और नेत्रों के प्रसंग में सुन्दर कूटपद लिखे हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि 'सूर-सागर' समस्त कथा भागवत से ली हुई होने पर भी उसमें मौलिकता का प्रभाव नहीं है। वल्लभाचार्य के कहने पर ही सूर-दास ने भागवत लीला का गान किया था। सूर के साहित्य में सरलता केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही नहीं है वरन् साहित्यिक सौन्दर्य और प्रतिभा की भी इनमें कमी नहीं है। भ्रमर-गीत, नेत्रों और मुरलीं के पदों में जो रूपक कवि ने प्रस्तुत किये हैं उनमें सुन्दर साहित्य के दर्शन होते हैं और रीतिकाल की भीनी-भीनी महक आने लगती है। सूर ने विद्यापति की भाँति सरस पदों की रचना है, परन्तु सूर की विशेषता यह है कि उसका आधार धर्म होते हुए भी उसमें विद्यापति के श्रृंगार से कम सरसता नहीं आ पाई। सूर ने श्रृंगार और रीति का आश्रय अवश्य लिया है परन्तु अपने साहित्य को उनके अर्पण नहीं कर दिया है; वरन् उन्हें अपने साहित्यिक सौन्दर्य में प्रभावोत्पादक बनाने के लिए प्रयोग किया है। मान और खंडिता के प्रसंग जो सूर ने लिये हैं वह लौकिक रूप में न लेकर आध्यात्मिक रूप में लिये हैं। यदि वह लौकिक रूप में लेते तो नायिका-भेद, अभिसार और परकीया जैसे रसोत्पादक विषयों को न छोड़ते। कवि ने काव्यशास्त्र का उपयोग भक्ति-साहित्य में कोमलता, सरसता, माधुर्य और सौन्दर्य लाने के लिए ही किया है।

सूर-सागर में राधा-कृष्ण के संयोग, रति-विलास इत्यादि का जो चित्रण

मिलता है उनमें आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित करने का कवि ने प्रयत्न किया है। इसमें गीत-गोविन्द की झलक आती है। सूर की गोपियों का आध्यात्मिक भावना के कारण शृंगार में कम विकास हो पाया है। सूर की गोपियाँ राधा के प्रति ईर्ष्या न करके उस पर मोहित होती हैं। यह शृंगार-काव्य की धारणा के विपरीत भाव है। 'सूर-सागर' के यह पद फुटकर होते हुए भी कथा-बद्ध होकर चलते हैं और पाठक भी उनसे आनन्द-लाभ तभी कर सकते हैं जब इसे प्रसंग से पढ़ें। इस प्रकार 'सूर-सागर' में गीतात्मकता और प्रबन्धात्मकता का ऐसा सम्मिश्रण मिलता है जैसे हिन्दी के अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता।

सूर-सागर एक वृहद् ग्रन्थ है परन्तु इसे हम रामायण की भाँति महाकाव्य नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें जीवन के विविध प्रसंगों और दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण नहीं मिलता। जीवन की विविध परिस्थितियों को भुलाकर केवल कुछ अंशों पर ही बल दिया गया है। परन्तु जीवन के जिन भागों का चित्रण 'सूर-सागर' में हुआ है वह बहुत पूर्ण है। बाल-चित्रण, संयोग और वियोग इन तीन जीवन की परिस्थितियों पर कवि ने इतना सुन्दर लिखा है कि हिन्दी का कोई अन्य कवि नहीं लिख पाया। इस प्रकार 'सूर-सागर' का महत्त्व हिन्दी साहित्य में महान् है।

बिहारी-सतसई-21

हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थों में 'बिहारी-सतसई' अपना विशेष स्थान रखती है। ग्रन्थ की सर्वप्रियता न धर्म के कारण है और न किसी अन्य प्रभाव के ही कारण। इसे सर्वप्रिय बनाने वाली है कवि-कला, कवि का साहित्य और काव्य का साहित्यिक सौन्दर्य। इस काव्य ने किसी बाहर की भावना से बल नहीं प्राप्त किया वरन् बल स्वयं इसके अन्दर निहित है और जब तक हिन्दी-साहित्य और इसके प्रेमी संसार में रहेंगे, 'बिहारी-सतसई' का महत्त्व कम होने की सम्भावना नहीं।

यह ग्रन्थ ब्रज भाषा में लिखा हुआ है और दोहा छन्द का कवि ने प्रयोग किया है। प्रत्येक दोहा स्वतन्त्र है। किसी कथा के आधार पर इस ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ। कवि ने स्वच्छंदतापूर्वक काव्य की रचना की है और यदि यह कह दिया जाय कि गागर में सागर भरने में वह सफल हुआ है तो यह कथन सत्य ही है। 'बिहारी-सतसई' की प्रसिद्धि कवि के जीवन-काल में ही होनी आरम्भ हो गई थी। मतिराम जैसे प्रसिद्ध कवि पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा और उस काल से ही 'बिहारी-सतसई' पर टीकाएँ लिखी जानी

आरम्भ हो गईं। आधे शतक के ऊपर टीकाएँ 'बिहारी-सतसई' पर लिखी गई। हिन्दी-साहित्य में जगन्नाथप्रसाद 'रत्नाकर' जी के शब्दों में 'बिहारी-सतसई' से अधिक टीकाएँ आज तक किसी अन्य ग्रन्थ पर नहीं लिखी गई।

जिस प्रकार कबीर के पश्चात् अनेकों संत हुए, पद्मावत के पश्चात् प्रेम-काव्य लिखे गये, मानस के पश्चात् राम-साहित्य की रचना हुई और सूर-सागर के पश्चात् कृष्ण-साहित्य की झड़ी लगी, इसी प्रकार 'बिहारी-सतसई' के पश्चात् हिन्दी-साहित्य में सतसइयों का प्रादुर्भाव हुआ। व्रजभाषा के प्रायः सभी कवियों पर किसी-न-किसी रूप में 'बिहारी-सतसई' का प्रभाव पड़ा है। दोहे, सवैये और कवित्तों में रीतिकाल में जो साहित्य रचा गया उसमें होने वाली स्वच्छंद कविता का 'बिहारी-सतसई' प्रधान आधार रही है। बहुत से कवियों ने तो बिहारी के एक-एक दोहे पर कई-कई छन्द लिखे हैं। पं० पद्मसिंह जी ने अपनी तुलनात्मक समालोचना में इसके अनेकों उदाहरण दिये हैं।

'बिहारी-सतसई' का रचना-काल 1662 ई० माना जाता है। ग्रन्थ में 700 दोहे हैं, जो समय-समय पर लिखे गये हैं। राजा जयसिंह की आज्ञा से आपने इन सब दोहों को संग्रहित करके सतसई का रूप दिया—

हुक्म पाइ जयसिंह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सँवाद॥

सतसई के दोहे इतने प्रभावशाली हैं कि एक जनश्रुति के अनुसार राजा जयसिंह नई-नई रानी से विवाह करने पर अपने राज्य के प्रति कर्त्तव्य को भुला बैठे थे। हर समय महलों में ही रहने लगे थे और राज्य-कार्य में हानि होने लगी थी। उस समय कवि ने निम्नलिखित दोहे की रचना की, जिसे पढ़कर राजा राजमहलों से बाहर निकल आये और उन्होंने अपने राज्य-कार्य को पूर्व-वत् सँभाल लिया।

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इसी प्रकार कवि ने अन्य बहुत से दोहे लिखे हैं। कहते हैं राजा जयसिंह प्रत्येक दोहे पर कवि को एक अशर्फी देते थे। बिहारी ने सतसई के दोहे में सात-वाहन, गोवर्धनाचार्य और अमरुक आदि प्राचीन कवियों की रचनाओं से भाव लिये हैं परन्तु उनमें इस प्रकार अपनापन ला दिया है कि पुरानी गंध भी शेष नहीं रह गई है। बिहारी ने उनमें बहुत चमत्कार-पूर्ण परिवर्तन किये हैं।

'बिहारी-सतसई' के दोहे व्यंजना-प्रधान हैं। इस प्रकार के काव्य को मुक्तक उद्भट-काव्य या सूक्ति-काव्य कह सकते हैं। जीवन और साहित्य को ध्यान में रखते हुए कवि ने चमत्कारात्मक काव्य की रचना की है। सतसई का प्रधान विषय श्रृंगार है। यत्र-तत्र भक्ति, दर्शन, नीति और ऐतिहासिक दोहे भी हैं परन्तु प्रधानता श्रृंगार की ही है। संत-साहित्य, भक्ति-साहित्य और रीति-

काल तीनों काल के साहित्य की झलक हमें सतसई में देखने को मिल जाती है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य विषयों के दोहे साग में नमक की ही भाँति हैं और इस ग्रन्थ का आज जो कुछ भी साहित्य में मान है वह भी शृंगार के दोहों के कारण है। सतसई में 600 दोहे शृंगार के हैं। नायिका-सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, नख-शिख, हाव-भाव, अनुभाव, केलि-विलास सभी का सजीव-चित्रण इस ग्रन्थ में मिलता है। नेत्रों, हावों और अनुभावों के चित्रण में सूर के बाद बिहारी ही आते हैं। एक-एक दोहे में अनेकों भावों को सुन्दर ढंग से सजाना बिहारी साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता। एक दोहा देखिए—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, मोहनु हँसै, दैन कहै, नटि जाय॥

प्रेम की भारतीय रीति का बिहारी को हम पण्डित मानते हैं। प्रेम की तन्मयता, उसमें लीन हो जाना, अपनत्व को उसमें खोकर बेबस हो जाना, इन सबका कवि ने सुन्दर चित्रण किया है। एक दोहा देखिए—

कागद पर लिखत न बनत कहत सदेसनु लजात।
कहि है सब तेरो हियौ मेरे हिय की बात॥

'बिहारी-सतसई' में सुन्दर-शब्द-चयन, मधुर शब्द योजना, उचित और भावपूर्ण शब्दों का प्रयोग, अनुप्रासिक शब्द-संग्रह, नाद-सौन्दर्यपूर्ण शब्द-संकलन बहुत व्यवस्थित मिलता है। इसमें बिहारी के अतिरिक्त अन्य कोई हिन्दी कवि सफल न हो पाया। बिहारी ने प्रकृति चित्रण भी सुन्दर किया है। एक दोहा देखिए—

चुवत सेदु मकरंद कन तरु-तरु तर बिरमाय।
आवत दक्षिण देस तो थक्यों बटोही बाय॥

'बिहारी सतसई' पर फारसी विरह-निरूपण का भी स्पष्ट प्रभाव है। नायिका का विरह में दुर्बल हो जाना, निश्वासों के साथ छः-छः सात-सात हाथ आगे-पीछे झूलना, विरह-ताप में राधिका पर सखियों द्वारा शीत-काल में भी गुलाब-जल छिड़कवाना इत्यादि कल्पनाएँ विदेशी ही हैं।

'बिहारी-सतसई' भाषा, भाव-चित्रण, सौन्दर्य, प्रेम-चित्रण तथा हाव-भाव-वर्णन में अद्वितीय है। हिन्दी-साहित्य को इस रचना पर अभिमान है। भारत की अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं में 'बिहारी-सतसई' के समान रचना देखने को नहीं मिलती। साहित्य में यदि शृंगार और प्रेम का स्थान प्रधान है तो हिन्दी-साहिय में 'बिहारी-सतसई, का भी स्थान प्रधान ही रहेगा।

22-साकेत

'साकेत' बाबू मैथिलीशरण गुप्त का वह अमर काव्य है कि जिसमें उन्होंने एक ऐसे पात्र का चरित्र-चित्रण किया है जिसके प्रति आज तक हिन्दी-साहित्य सर्वदा ही उदासीन रहा। यों 'साकेत' में रामायण की पूरी ही कथा आ जाती है परन्तु उर्मिला का चित्रण कवि ने पूरे दो सर्गों में किया है। अयोध्या में प्रधानतया होने वाली घटनाओं को ही इस काव्य में महत्त्व दिया गया है इसीलिए इस ग्रन्थ का नाम कवि ने 'साकेत' रखा है। राम के राज्याभिषेक से लेकर चित्रकूट में राम-भरत मिलन तक की कथा आठ सर्गों में चलती है। फिर नौ और दस सर्ग में उर्मिला के वियोग का नाना परिस्थितियों में कवि ने चित्रण किया है। कवि ने उर्मिला की अन्तर्वृत्तियों का विस्तार के साथ वर्णन किया है।

'साकेत' प्रबन्ध-काव्य है परन्तु यह कवि ने उस समय लिखना प्रारम्भ किया था जब उनकी प्रवृत्ति गीत-काव्य की तरफ हो चली थी। मुक्तक कविताएँ गीतों के रूप में हिन्दी-साहित्य के अन्दर प्रविष्ट हो चुकी थीं और कविवर मैथिलीशरण जी भी उस धारा के प्रवाह से अपने को न बचा सके। गीतों के इसी बहाव के कारण कवि के 'साकेत' में वैसी प्रबन्धात्मकता नहीं आ पाई जैसी कि इस ग्रन्थ के लिए आवश्यक थी।

'साकेत' में उर्मिला का विरह-वर्णन एक विशेष चीज है, जिसमें कवि ने पुरानी पद्धति के आलंकारिक-चमत्कार के साथ सजीव वर्णन किया है। आज की गीतात्मकता, नवीन वेदना और लाक्षणिक-वैचित्र्य वाली कविताओं ने साकेत की कविता में प्राण फूंक दिये हैं। 'साकेत' की उर्मिला विरह में पागल होकर भी आदर्श और कर्त्तव्य को नहीं भुलाती। जब स्वप्न में उसे लक्ष्मण सामने खड़े दिखाई देते हैं तो वह प्रसन्न नहीं होती, बल्कि कह उठती है—

प्रभु नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे ?
हम गिरे, अहो ! तो गिरे, गिरे !

दंडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ शत्रुघ्न के मुँह से मांडवी और भरत के सम्मुख वर्णन कराई गई हैं। यह कथा बहुत रसात्मक और रोचकता के साथ कही गई है। कवि ने हिन्दी-काव्य में रामायण के पात्रों में चरित्रों का जो आदर्श पुराने समय मिलता है उसे निभाने और उसी में आधुनिकता का पुट देने का सफल प्रयत्न किया है। किसानों और श्रमजीवियों के साथ सहानुभूति, राज्य की व्यवस्था में प्रजा का हाथ, सत्याग्रह, मानवता के अटल सिद्धान्तों के अनुसार विश्वबंधुत्व इत्यादि पर कवि ने प्रकाश डाला है। कवि ने ग्रन्थ में आधुनिकता लाने का भरसक प्रयत्न किया है।

समय और काल के अनुसार उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं के साथ प्रणालियों को ग्रहण करते हुए चलना मैथिलीशरण की विशेषता है। इसीलिए

साकेत का लेखक इस काल का प्रतिनिधि कवि कहलाया है। साकेत में कवि ने बहुत साफ और सुथरी भाषा का प्रयोग किया है। भाषा में माधुर्य लाने के लिए कवि ने बंगभाषा के कवियों का अनुसरण किया है। "साकेत गुप्त जी की सामंजस्यवादी रचना है, मद में झूमने वाली रचना नहीं।" इस काव्य में सभी प्रकार की उच्चता प्राप्त होती है। सरसता, सरलता और माधुर्य की त्रिवेणी के संगम पर इस ग्रन्थ की सृष्टि हुई है और यही कारण है कि इसकी प्रत्येक पंक्ति से रस टपकता है। जिस समय चित्रकूट पर सीता जी बहाने से लक्ष्मण को उर्मिला के पास झोंपड़ी में भेज देती हैं और लक्ष्मण सहमकर लौटने लगता है तो कवि ने उर्मिला के मुँह से कितने सुन्दर शब्दों में प्रेम-रस प्रवाहित कराया है—

मेरे उपवन के हरिण, आज बनचारी।
मैं बांध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी॥

'साकेत' के लक्ष्मण और सीता 'रामचरितमानस' के लक्ष्मण और सीता नहीं हैं। जिस मर्यादा का पालन कवि तुलसीदास ने किया है वह बन्धन गुप्त जी ने ढीले कर दिये। 'साकेत' के पात्र आज के पात्र हैं, जिनमें सीता भाभी है और लक्ष्मण उसका देवर, फिर क्यों न उनमें कहीं-न-कहीं हास्य का, उपहास का और व्यंग्य का पुट आ जाय? कवि ने कवि-कल्पना के आधार पर भाभी और देवर का बहुत सुन्दर चित्रण किया है। इस चित्रण में भारतीय आदर्शवाद को भी हाथ से नहीं जाने दिया है और वर्तमान सामाजिक दृष्टि में भी लाकर कवि ने अपने काव्य के पात्रों को खड़ा कर दिया है। 'साकेत' को पढ़कर हम केवल कल्पनाओं और आदर्शवाद में ही नहीं घूमते वरन् दुनिया के महान् चरित्रों की कलात्मक कल्पना भी करते हैं।

'साकेत' का नायक हम राम को न मानकर लक्ष्मण को मान सकते हैं; क्योंकि इस ग्रन्थ में प्रधान चित्रण लक्ष्मण और उर्मिला का ही है। परन्तु लक्ष्मण के चरित्र का विकास राम के ही साथ हो सकता है इसलिए राम के महत्त्व को भी कम नहीं किया जा सकता। लक्ष्मण की सेवा-भावना और त्याग का कवि ने बहुत सुन्दर चित्रण किया है। 'साकेत' की कैकेयी 'मानस' की कैकेयी से भिन्न है। 'साकेत' की कैकेयी को अपनी भूल ज्ञात होने पर बहुत खेद होता है। 'साकेत' अपने ढंग का अकेला महाकाव्य है। इसमें स्थान-स्थान पर गीत और छन्दों की अनेकरूपता होते हुए भी प्रबन्धात्मकता को कवि ने खूब निभाया है। घटनाओं का तारतम्य 'साकेत' में कवि ने बहुत सुन्दर दिया है।

खड़ीबोली-साहित्य का यह प्रथम महाकाव्य है जिसमें हम राम-भक्ति-शाखा की वर्तमान प्रगति के दर्शन करते हैं। इसमें खड़ीबोली का मँजा हुआ स्वरूप है जिसमें माधुर्य के साथ-साथ अलंकारशास्त्र की भी पूरी निपुणता प्राप्त होती है। कवि ने इस काव्य में अपनी कला, पाण्डित्य और भावुकता का सुन्दर

सम्मेलन प्रस्तुत किया है। यह इस युग की वह अनुपम देन है जो हिन्दी साहित्य से एक अमर रचना बनकर आई है और ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाएगा, हिन्दी के पाठकों में इसकी सर्वप्रियता बढ़ती ही जायगी। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की यह वह प्रतिनिधि रचना है जिसके आधार पर एक कवि को पूर्ण-रूप से समझा जा सकता है।

23-कामायनी

'कामायनी' हिन्दी-साहित्य के वर्तमान युग की एक सुन्दरतम देन है। कवि 'प्रसाद' ने हिन्दी-साहित्य को कामायनी देकर क्या कुछ नहीं दिया ? 'कामायनी' की कथा कवि ने वैदिक उपाख्यान से ली है। इस काव्य का नायक आदि पुरुष मनु है और ग्रन्थ में यह चित्रित किया गया है कि नवीन सभ्यता की प्रतिष्ठा किस भाँति हुई और मानवता के सर्वथा नूतन-युग का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ।

नायक मनु महा-प्रलय से बचकर चिंतित बैठे हैं कि इसी समय काम-गोत्र की पुत्री श्रद्धा (कामायनी) से उनका परिचय होता है। श्रद्धा और मनु साथ रहने लगते हैं। श्रद्धा मनु में मानवीय संस्कार पैदा करना चाहती है परन्तु मनु में दैवी संस्कार जागृत हो जाते हैं, और वह यज्ञ, बलि इत्यादि के लिए शिकार करने लगता है। श्रद्धा माता होती है और उसका प्रेम बँट जाता है; इससे मनु के मन में ईर्ष्या होती है और उसका मन उचाट हो जाता है। वह श्रद्धा को छोड़-कर चल देता है। सारस्वत देश की रानी इड़ा से उसकी भेंट होती है। इड़ा देवों की बहन थी और मनु के अन्न से पली थी, परन्तु मनु इस भेद से अनभिज्ञ थे। इड़ा को ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो सारस्वत प्रदेश के राज-कार्य को सँभाल सके और मनु ने उसे सँभाल लिया। राज्य ने उन्नति की। मनु राज्य-सत्ता पाकर सन्तुष्ट नहीं हुए और उनका मन इड़ा की तरफ दौड़ने लगा। मनु प्रमाद में बलात्कार पर उतारू हो गये। इधर देव भी क्रुद्ध हुए और प्रजा ने विद्रोह कर दिया। मनु युद्ध में घायल होकर बेहोश हो गये। दूसरी ओर श्रद्धा स्वप्न में मनु की इस दशा को देखकर अपने बच्चे को ले उनकी खोज के लिए चल देती है। श्रद्धा बेहोश मनु को अनेक उपचारों द्वारा वहाँ आकर होश में लाती है। मनु फिर श्रद्धा की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु उनका मन उन्हें धिक्कारता है और वह फिर भाग निकलते हैं। इड़ा भी दुखी है और वह श्रद्धा से उनका पुत्र माँगती है। श्रद्धा इड़ा को लोक-कल्याण का उपदेश देकर अपना पुत्र उसे दे देती है और स्वयं मनु की खोज में चल देती है। एक घाटी में मनु से उसकी भेंट होती है। मनु अपनी भूल समझ चुका है। वह श्रद्धा का अनुसरण

करता है और उसके पीछे-पीछे संसार के विविध रूप देखता हुआ एक ऊँचे स्थान पर पहुँच जाता है। यही ऊँचा स्थान कैलाश है। एकात्मय की अनुभूति यहाँ पहुँचकर मनु को होती है और विराट नृत्य के दर्शन होते हैं। वहाँ जीवन के सब रहस्य आनन्द में लय हो जाते हैं।

प्रागैतिहासिक महाकाव्य होते हुए भी 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को पूर्ण रूप से संवादों में रखकर काव्य की रचना की है। व्यष्टि और समष्टि रूप से जीवन की क्रमिक भावनाओं में से होकर जीवन का विकास कवि ने किया है। 'कामायनी' में किसी भी तत्त्व की सीधी व्यंजना न करके प्रतीकात्मक रूप से की गई है। आध्यात्मिक अथवा रूपक के रूप में मनोवैज्ञानिक व्याख्या में कवि ने ऐतिहासिकता का आधार लिया है। 'कामायनी' के सब शीर्षकों के अन्तर्गत उन शीर्षकों के भाव तथा उनसे सम्बन्धित भावनाओं का विश्लेषण कवि ने बहुत रोचकता के साथ किया है। मानव-जीवन की सब भावनाओं का क्रमिक विकास 'कामायनी' में मिलता है। प्रथम सर्ग 'चिन्ता' है सो मानव-जीवन के प्रारम्भ में चिन्ता है भी अनिवार्य। चिन्ता समाप्त होने पर मानव के जीवन में आशा का उदय होता है। आशा के स्वर्णिम प्रभात का कवि ने बहुत सजीव चित्रण किया है। आशा के पश्चात् 'श्रद्धा' जीवन में आती है और श्रद्धा के मिल जाने पर 'काम' का प्रभाव होता है। कितने सुन्दर क्रमिक विकास के साथ कवि चल रहा है? 'काम' के पश्चात् 'वासना' और फिर 'लज्जा' जीवन का प्रधान गुण बनकर आ जाती है। इसी समय जीवन में 'कर्म' की प्रधानता होती है और साथ-ही-साथ नासमझी के कारण 'ईर्ष्या' भी होने लगती है। 'ईर्ष्या' से मानव पथ-भ्रष्ट हो जाता है और वह अन्धा होकर उचित-अनुचित को भूल जाता है। वह उसे अपना सर्वस्व अर्पण कर देती है परन्तु मनु मदांध है। मदांध होकर उसे टक्कर खानी पड़ती है। 'श्रद्धा' उसे फिर आकर सँभाल लेती है और शांति का मार्ग दिखलाती है। यह जीवन का क्रमिक विकास है जिसमें चिन्ता, मिलन, वासना, संघर्ष, क्लेश, शांति सभी कुछ कवि ने निहित किया है। मानव के विकास की बहुत सुन्दर अभिव्यक्ति 'कामायनी' में मिलती है। हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग का यह अकेला ही ग्रन्थ है और अन्य साहित्यों में भी इस प्रकार का कोई देखने ग्रन्थ में नहीं आता। मानव-सृष्टि का उदय, विकास और उसकी चर्म सिद्धि इस ग्रन्थ में मिलती है। कवि ने 'कामायनी' की रचना बुद्धि तथा अध्यात्म दोनों ही की पृष्ठभूमि पर की है। 'कामायनी' में शैव-तत्त्व ज्ञान की प्रधानता है। सृष्टि का प्रारम्भ, उसकी स्थिरता और उसका निर्वाण सब कुछ आनन्दमय है। शिव विश्व के चिरमंगल का कर्ता है। एकान्त-प्रेम और मंगल में भी शिव की कल्पना करनी होती है। 'कामायनी' में मनु का प्रकृति के साथ महान् सामंजस्य स्थापित किया है।

'कामायनी' एक महाकाव्य है क्योंकि इसमें मानव-जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या

मिलती है। जीवन की नाना परिस्थितियों का उत्थान और पतन 'कामायनी' में मिलता है। इसमें एक ऐसे नायक का चरित्र-चित्रण किया गया है जो मानव जाति का नायक है, जिससे मानवता का उदय होता है। 'कामायनी' विश्व के सम्मुख एक आदर्श भी प्रस्तुत करती है और इतिहास भी। 'साहित्य-दर्पण' के मतानुसार महाकाव्य की कथा कल्पित न होकर ऐतिहासिक अथवा पौराणिक होनी चाहिए और उसका नायक एक देवता है। यह गुण भी 'कामायनी' से मिलता है। महाकाव्य-शृंगार, वीर या शान्त रस-प्रधान होना चाहिए और उसमें आठ से अधिक सर्ग होने चाहिएँ। इसी दृष्टि से तो 'कामायनी' एक उच्च कोटि का महाकाव्य ठहरता है। 'कामायनी' में संध्या, सूर्योदय, रात्रि, प्रातः; अंधकार, वर्षा इत्यादि के सुन्दर चित्रण हैं। संयोग और वियोग-शृंगार की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

'कामायनी' में चरित्रों का विकास बहुत सुन्दर हुआ है। 'श्रद्धा' काव्य की नायिका है और वह मनु को भी 'शक्तिशाली और विजयी' बनाने का आदेश करती है। 'कामायनी' इड़ा और मानव को भी इसी प्रकार संदेश देकर कहती है।

तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति,
शासक बन फैलाओ न भीति।

समस्त ग्रन्थ में श्रद्धा का चरित्र प्रधान है। एक प्रकार से मानव-चरित्र का भी उदय और विकास श्रद्धा के ही सर्म्पक में आकर होता है। श्रद्धा इस प्रकार इस महाकाव्य की आधार है—

'कामायनी' शृंगार तथा शान्त-रस प्रधान है। 'वासना'-सर्ग में शृंगार का सुन्दर चित्रण दिया गया है। संयोग और वियोग का आधुनिक गीतात्मक शैली में चित्रण है। नायिका और नायक एकान्त में मिलते हैं और प्रेमालाप होता है। 'कर्म' के अंतिम छंदों में शृंगार का बहुत सुन्दरतम् स्वरूप कवि ने प्रस्फुटित किया है।

'कामायनी' में प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण किया है। जल-प्लावन में प्रकृति के पाँचों तत्त्वों का संघर्ष कवि ने दिखलाया है। देखिए प्रातःकाल और रात्रि के अंतिम प्रहर का कितना सुन्दर चित्रण कवि ने किया है—

उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित काल-रात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।
नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग;
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।

इसी प्रकार प्रकृति का चित्रण बहुत सजीवता के साथ कवि ने किया है। प्रकृति को मानव-जीवन के साथ-साथ तथा स्वतंत्रता से, दोनों प्रकार कवि लेकर चला है। मानव-प्रकृति का बहुत सुन्दर चित्रण 'कामायनी' में मिलता है।

'कामायनी' के 15 सर्गों में कवि ने शृंखलाबद्ध कथा के अंतर्गत प्रकृति, मानव-प्रकृति और काव्य-गुणों का सुन्दर समावेश किया है। 'कामायनी' में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों का प्रधानतया प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हमने 'कामायनी' की संक्षिप्त विवेचना करके देखा कि उसमें कवि ने दर्शन, शास्त्रीय-विवेचना, महाकाव्य विषयक सिद्धान्तों, चरित्र-चित्रण, बुद्धिवादिता, प्राकृतिक चित्रण इत्यादि सभी गुणों का बहुत कलात्मक ढंग से चित्रण किया है। 'कामायनी' की वर्तमान युग की काव्य-धारा का वह प्रतीक है जिसमें वर्तमान गीतात्मकता जिसे छायावाद कहा जाता है, उस वाद की सम्पूर्ण सृष्टि मिलती है। 'कामायनी' वर्तमान युग के काव्य का वह दर्पण है जिसमें पाठक हर प्रकार की छाया का प्रतिबिम्ब देख सकता है।

सेवा सदन-24

'सेवासदन' मुंशी प्रेमचन्द जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है। इसमें एक वेश्या का चरित्र-चित्रण उपन्यासकार ने कलात्मक ढंग से किया है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समाज सुधार पर विशेष बल दिया है। अपने इसी आदर्श को सम्मुख रखते हुए लेखक ने इस उपन्यास का भी निर्माण किया है। उपन्यास में चरित्रों का चित्रण लेखक ने विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के साथ किया है और ऐसे सुन्दर चरित्र पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किये हैं कि वह वास्तविक-से ही जान पड़ते हैं। वेश्याओं के बाजार में लेखक अपने पाठकों को ले जाता अवश्य है परन्तु उनकी भावनाओं को इतना सन्तुलित करके रखता है कि कलुषित होने की हवा तक भी नहीं लगने देता। पाठक के सामने पद्‌मसिंह या बिट्‌ठलदास ही रहते हैं। सदन या भोली के प्रति पाठक के मन में सहानुभूति नहीं उत्पन्न होने पाती। कालिदास कपूर लिखते हैं—

"वारवनिताओं का आदर होने से गृहस्थाश्रम का अधःपतन होता है। 'सेवासदन' में कही गई कहानी के द्वारा उनके उद्धार की रीति बताई गई है। इस उपन्यास का प्रधान उद्देश्य यही है। परन्तु इसके प्रत्येक पात्र के चरित्र से एक-न-एक शिक्षा मिलती है। कृष्णचन्द्र सच्चे हैं, परन्तु उन्हें अपने सत्य को देश की दहेज-प्रथा-रूपणी भीषण दुर्देवी के चरणों में बलिदान करना पड़ता है। अपनी दुलारी और शिक्षिता लड़की के विवाह के लिए दहेज की रकम जुटाने को वह रिश्वत लेते हैं, पकड़े जाते हैं, कैद भुगतते हैं। घर मटियामेट हो जाता है। एक लड़की निर्धन वर के गले मढ़ी जाती है, दूसरी दासी होकर अपना समय काटती है, इसी मानसिक क्लेश का शिकार बनकर बहुत शीघ्र संसार से कूच कर जाती है। इस अग्नि-परीक्षा में हरिश्चन्द ही का सत्य टिक सकता था।

जेल से लौटने पर कृष्णचन्द्र के चरित्र का अच्छी तरह पतन हो गया है । लेखक महोदय बहुत देर तक उनको हमारे सामने नहीं रहने देते । विपत्ति-सागर में दो-चार और गोते लगाकर वह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाते हैं ।

कृष्णचन्द का-सा शोकमय अन्त और किसी का नहीं हुआ । बाकी चरित्रों के चित्रण में कहीं आनन्द है, कहीं शोक और कहीं विप्लव परन्तु अन्त शान्ति-पूर्ण है । इन चरित्रों में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य चरित्र सुमन का है ।

अत्युक्ति न समझिए, सुमन ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यास का गौरव है । उसी में उपन्यास के प्राण हैं । सुमन के चरित्र में यदि कहीं भी बट्टा लग जाता तो उपन्यास किसी काम का न रहता । लेखक महाशय उसे पढ़ा-लिखा कर, और शारीरिक सुख का शौकीन बनाकर, पंद्रह रुपये महीने पर नौकर एक अधेड़ ब्राह्मण से ब्याह देते हैं ! चरित्र-चित्रण में सुमन को एक बात ने बचा लिया है कि वह भारतीय नारी है, पतिव्रता है सही, परन्तु आत्म-गौरव और शारीरिक सुख की लालसा उसको वह व्रत निबाहने नहीं देती । इधर वह देखती है कि समाज में पतिव्रता की कोई कदर नहीं । घर के सामने ही यह देखती है कि पतिता भोली का आदर-सम्मान बड़े-बड़े धर्मज्ञ करते हैं पर उसके लिए इतना भी नहीं कि वह अपनी मर्यादा को एक नीच सिपाही के हाथ से भी बचा सके । पति महाशय (गिरजाधर जी) क्या करें ? पत्नी के वस्त्राभूषण और मान-प्राप्ति की लालसा को वह कुछ और ही समझे । एक दिन आग लग ही गई, सुमन तो ग्रहिणी के उच्च पद से गिर गई ।

परन्तु अभी कुछ और पतन होना बाकी है । दूसरे दृश्य में उसे हम दाल-मण्डी के एक कोठे पर देखते है । यदि लेखक महाशय जरा भी चूक जाते तो सुमन के पतन की पराकाष्ठा हो जाती । मदनसिंह के प्रेम-पाश में सुमन फँस जाती है, परन्तु पतित नहीं होने पाती । इसके पहले ही समाज-सुधारक विट्ठल दास उसके उद्धार के लिए पहुँच जाते हैं पर उसका उद्धार नहीं होता । विधवा-आश्रम में उसको बहुत शीघ्र लाया जाना, समाज की कृपा से उसके उद्धार-विरुद्ध कठिनाइयों को पड़ना, शान्ता की विपत्ति, उसके भावी श्वसुर मदनसिंह का विरोध—इसमें से किसी एक का भी काम कर जाना सुमन को गिरा देने के लिए काफी था । परन्तु लेखक उसको हर तरफ से बचाकर अन्त में 'सेवासदन' की संचालिका का पद तक देते हैं । सुमन ने अपने ही को नहीं उपन्यास को भी गिरजाने से बचा लिया ।

स्त्री-पात्र में यदि प्रधान चरित्र सुमन का है तो पुरुष-पात्रों में पद्मसिंह का लोहा मानने योग्य है । कथा-प्रसंग में वह कुछ देर बाद दिखाई देते हैं । परन्तु फिर वह दृष्टि के सामने से नहीं हटते । पद्मसिंह एक साधारण समाज-सुधारक हैं । विचारों के बहुत ऊँचे हैं, हृदय के बहुत कोमल हैं, परन्तु हैं दब्बू । ऐसे पुरुष लेख चाहे जितने लिख मारें, वक्तव्य चाहे जितनी झाड़ आयें परन्तु

मौका पड़ने रहेंगे सबसे पीछे। नाच के बड़े विरोधी, परन्तु मित्रों ने दबाया तो जलसा करा बैठे। इसका उन्हें बहुत प्रायश्चित भी करना पड़ा—न यह नाच होता और न सुमन घर से निकाली जाती। वह विट्ठलदास की शरण लेते है। परन्तु उससे पद्मसिंह की नहीं बनती। जैसे वह कर्म में कच्चे हैं वैसे ही विट्ठलदास विचार में कच्चे हैं। चन्दा वसूल करने में कठिनाई, वारांगनाओं को शहर के बाहर जगह देने के प्रस्ताव का म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरों द्वारा विरोध, इधर घर में मदनसिंह की ज्यादती, उधर सुमन की बहन शान्ता के साथ मदनसिंह के विवाह में विघ्न पड़ने की चोट—पद्मसिंह बिलकुल ढीले पड़ गये। परन्तु विचार-शक्ति में कमी नहीं पड़ी। उन्हीं के द्वारा लेखक महाशय ने भी अपना विचार प्रकट किया है कि वीर-नारियों को निकाल देने से ही सुधार नहीं हो जायगा। क्यों न उनको और उनकी सन्तान को अच्छे मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया जाय? इस विचार को विट्ठलदास 'सेवासदन' के रूप में परिणित करते हैं। परन्तु पद्मसिंह के हृदय में अन्त तक भय की सत्ता बनी रहती है। झेंप के मारे वह सेवासदन में नहीं जाते, कहीं ऐसा न हो जो सुमन से आँखें चार हो जायें।

ऐसे और भी अनेक पात्र हैं। परन्तु लेख बढ़ जाने के भय से हम उसका वर्णन न करेंगे। सरल शान्ता को अनेक कष्ट सहन करके भी, अन्त में सौभाग्यवती गृहिणी का सुख भोगना बदा था। चंचला परन्तु पतिव्रता सुभद्रा, अनेक आपदायें झेलकर भी, पति के सामने हँसती ही रहती है। गृहस्थ गजाधर के संन्यास-आश्रमी अवतार गजानन्द, अन्त में बहन के घर से निकाली हुई किसी समय की अपनी पत्नी को शोक-सागर से उबारकर शान्ति प्रदान करते हैं। पुराने विचार के देहाती रईस मदनसिंह नाच कराने में अपनी मर्यादा समझते हैं। दुलार से बिगड़े हुए नवयुवक मदनसिंह का पतन और अपनी ही मेहनत द्वारा उद्धार, म्यूनिसिपैलिटी के मेम्बरों में से कोई गान-विद्या और हिन्दी का शौकीन है, किसी को अंग्रेजी बोले बिना चैन नहीं, किसी के दुर्व्यसन वैसे ही हैं जैसे उसके दुर्विचार—इन सब के लिए उपन्यास में स्थान है, सबके चित्र देखने को मिलते हैं, सबसे किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त होता है।

उपन्यास के पात्रों से दृष्टि हटाकर यदि वह उसके उद्देश्य की ओर प्रेरित की जाय तो एक बहुत बड़ा सामाजिक प्रश्न सामने आ जाता है। क्या वह 'सेवा-सदन' जिसकी झलक हम इस उपन्यास में देखते हैं, कभी प्रत्यक्ष देखना भी नसीब होगा? प्रश्न कठिन है। शहरों की आबादी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। इस काम को नगरपालिकाओं के भरोसे छोड़ देने से सफलता होने की नहीं। देखें, हमारी व्यवस्थापक-सभाएँ इस प्रश्न को क्योंकर हल करती हैं। लेखक के विचार यदि उपन्यास के बहाने पाठक जनता पर कुछ भी असर करें तो समाज एक बुरे रोग से मुक्त हो जाय।

उपन्यास में दोष दिखाने के लिए बहुत कम स्थल हैं। मुसलमान पात्रों की उर्दू बहुत क्लिष्ट है। यदि सरल हो सकती तो बहुत अच्छा था। टिप्पणी में कठिन शब्दों के अर्थ ही लिख दिये जाते तो पाठकों को बहुत सुविधा हो जाती।

25-प्रेमाश्रम

'प्रेमाश्रम' सेवासदन के पश्चात् मुंशी प्रेमचन्द जी का दूसरा उपन्यास है। 'प्रेमाश्रम' में उपन्यासकार ने किसी एक चरित्र का निर्माण नहीं किया वरन् अनेकों चरित्रों का निर्माण किया है। प्रेमचन्द जी चरित्र-चित्रण-कला में इतने प्रवीण थे कि कहीं पर भी उनके चरित्र-चित्रण में शिथिलता देखने को नहीं मिलती।

'प्रेमाश्रम' में समाज के साथ-साथ लेखक ने राजनीति के क्षेत्र में भी पदार्पण किया है। देश-प्रेम भावना से उपन्यास के प्रधान पात्र ओत-प्रोत होकर चलते हैं। समय की प्रायः सभी प्रचलित विचारधाराओं का समावेश हमें इस उपन्यास में मिलता है। समाज और राजनीति की प्रतिनिधि विचारधाराओं को लेकर ही उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास की रचना की है और यही कारण है कि 'प्रेमाश्रम' को पढ़कर उस समय का प्रत्यक्ष चित्र पाठक के नेत्रों में झूलने लगता है। 'प्रेमाश्रम' के विषय में 'प्रेमाश्रम' की समालोचना करने के लिए किस पद्धति का प्रयोग करें? बंकिमचन्द्र जी के उपन्यासों को देखकर अंग्रेजी-साहित्य से परिचित समालोचक तुरन्त कह सकते हैं कि यह स्काट के ढर्रे के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। रवीन्द्रनाथ जी के उपन्यासों को आप सामाजिक कहते हैं। आपको अंग्रेज़ी-साहित्य में इनकी जोड़ के बहुत से उपन्यास-लेखक मिलेंगे। जार्ज ईलियट, थैकरे या डिकेंस—इसके तथा रवीन्द्रनाथ जी के उपन्यास-क्षेत्र में कोई भारी भेद नहीं है। परन्तु प्रेमचन्द जी के उपन्यास इन श्रेणियों में से किसी में नहीं आ सकते। इन उपन्यासकारों का काम यह है कि किसी समय के समाज का चित्र खींच दिया, और पात्रों से सहानुभूति दिखाकर, उनको उठाकर, या उन्हें नीचा दिखाकर, पाठकों के चरित्र सुधारने का प्रयत्न किया। परन्तु इनमें भविष्य का चित्र नहीं है। कला में शायद प्रेमचन्द जी से अधिक निपुण हों, परन्तु इनमें वह उत्तेजना-शक्ति नहीं, उतना कल्पना का विकास नहीं। वे समाज के सामने एक आइना रख सकते हैं जिसे देखकर वह हँसे या कुढ़े। परन्तु उस आइने के पीछे कोई चित्र नहीं, जिसकी सुन्दरता तक पहुँचने के लिए उसके हृदय में उत्तेजना हो।

'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर तो 1921 के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है और पीछे किसी भावी भारत की छाया। ऐसे चित्र का क्या नामकरण

हो ? क्या 'प्रेमाश्रम' दार्शनिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाय ?

मुंशी प्रेमचन्द देहाती झगड़ों के करुणाजनक चित्रण में बहुत सफल हुए हैं। यों तो राय कमलानंद, गायत्री, विद्या, ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, डॉ० इर्फान-अली के राग-रंग नगर-निवासियों के हैं, परन्तु उनका अस्तित्व देहात पर ही है। सुक्खू, विलासी, मनोहर, बलराज, क़ादिर मियाँ—वे सब तो पूरे देहाती ही हैं।

चरित्र-चित्रण-कला को जाने दीजिये। शायद किसी और समय, देहाती और बेगार- मुक़दमेबाजी और नौकरी के प्रश्न इतने रुचिकर न होते, पर यह उपन्यास सन् 1921 का लिखा हुआ है और उस वर्ष के अन्दर जितना आन्दोलन और राजनैतिक ज्ञान देहातों में पहुँच गया, उतना शायद ही साधारण रूप से 50 वर्ष में पहुँचता।

'प्रेमाश्रम' हाजीपुर का दूसरा नाम है, परन्तु उपन्यास की नींव में लखनपुर है। वह बनारस के पास हो या कलकत्ते के—इससे कोई प्रयोजन नहीं। सुक्खू चौधरी जैसे पंचों के सरपंच क़ादिर मियाँ जैसे नरम देहाती नेता, मनीपुर के अक्खड़ किसान, बलराज जैसे उदार-हृदय और बलिष्ठ नवयुवक भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में मिलते हैं। उनके प्रभाशंकर कैसे ज़मींदार थे, जो अभ्यगतों के सम्मान में अपनी इज्ज़त समझते थे, आसामियों के प्रति सहानुभूति थी और उसके विरुद्ध अदालत जाने में संकोच होता था; ऐसे ज़मीदार भी सुखी थे और उनके किसान भी।

परन्तु इधर पाश्चात्य सभ्यता के साथ मालिकों की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। जिन ज़मीदारों के पुरखे बहलियों पर चढ़ते थे, घुटने के ऊपर तक धोती और चार आने सिलाई का अँगरखा या मिर्ज़ई पहनते थे, उनकी सन्तानों के लिए मोटर की सवारी, लम्बी रेशमी किनारे की धोती और साहबी ठाट की आवश्यकता पड़ने लगी। देहात की उन्नति कौन करता, इज़ाफ़ा और बेदखली का अत्याचार होने लगा।

अभी तक लखनपुर पर सिर्फ़ उन पर अत्याचार है जो वर्षा-ऋतु के बाद गाँवों पर धावा करते हैं। अभी ज्ञानशंकर ने ज़मींदार पर हाथ नहीं लगाया। इसीलिए अभी मनोहर के साथियों का यही विचार है कि अंग्रेज हाक़िम अच्छे होते हैं। परन्तु इधर प्रभाशंकर का बुढ़ापा, ज़मींदारी की आमदनी से ज्यादा खर्च, और इधर ज्ञानशंकर पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और यौवन की उमंग। ज्ञानशंकर ने हर तरफ़ हाथ बढ़ाना शुरू कर दिया; बस, इनके पदार्पण से उपन्यास का प्रादुर्भाव हुआ।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि इस उपन्यास में कोई नायक और नायिका है या नहीं ? यदि है तो कौन है, और नहीं है तो क्यों नहीं है ?

यह तो हम मान ही नहीं सकते कि इस उपन्यास में नायक ओर नायिका

हैं ही नहीं । यदि चरित्र की उज्जवलता पर ही ध्यान दिया जाय, तो एक ओर प्रेमशंकर और दूसरी ओर विद्या—यही पात्र लेखक के आदर्श मालूम पड़ते हैं। इस उपन्यास में ज्ञानशंकर का चरित्र आदरणीय नहीं है । गायत्री भी विद्या के समान तुच्छ मालूम पड़ती है । परन्तु हैं ये ही उपन्यास के नायक और नायिका । ज्ञानशंकर न होते तो कोई लखनपुर का नाम ही न सुनता ।

ज्ञानशंकर का चरित्र बहुत जटिल है । एक भारतीय नवयुवक पर पश्चिमी शिक्षा की नई रोशनी का प्राथमिक प्रभाव क्या पड़ता है; यह बहुत ही खूबी के साथ दिखलाया गया है । उच्च शिक्षा ने उसकी भारतीय आत्मा को ही नष्ट कर दिया है । जब कभी किसी पवित्र आत्मा के सामने से उसकी ऐश्वर्य-लोलुपता का परदा हट जाता है, तो हमें उसकी अन्तरात्मा के मधुर प्रकाश की झलक दिख पड़ती है, परन्तु फिर परदा गिर जाता है । और ज्ञानशंकर फिर उसी ऐश्वर्य-छाया की ओर बढ़ता हुआ दिखलाई देता है । ज्ञानशंकर नायक होते हुए भी अपने भाग्य का विधाता नहीं है। वह समझता है कि अपनी चतुरता के बल पर वह अपना भविष्य आनन्दमय बना सकेगा, परन्तु काल उसे भी नचाता है। प्रभाशंकर की भलमनसाहत, प्रेमशंकर के त्याग, गायत्री की लालसा, ज्वालासिंह का स्वाभिमान, राय कमलानन्द की निष्काम संसार-परता, सभी से वह लाभ उठाता मालूम होता है । परन्तु किसलिए ?

उपन्यास के दो अंग हैं । एक सामाजिक, दूसरा राजनैतिक । ज्ञानशंकर दोनों को बाँधे हुए है । पर इन दोनों में एक-एक प्रधान पात्र भी हैं। सामाजिक अंग पर गायत्री का प्रभुत्व है और राजनैतिक अंग के विधाता प्रेमशंकर हैं ।

गायत्री के चरित्र का इज़ाफे से कोई सम्बन्ध नहीं है । वह एक बड़ी भारी ज़मींदारी की मालकिन अवश्य है । उसके प्रबन्ध के लिए वह ज्ञानशंकर को बुलाती है परन्तु इन बातों का उसके चरित्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है । गायत्री का पतन धर्म-जाल की ओट से होता है । उसे नहीं मालूम होता कि वह किधर जा रही है और जब अकस्मात् उसके सामने पाप का अन्धकारमय गढ़ा दिखाई देता है, तो फिर वह समाज को अपना मुँह नहीं दिखाती। हिन्दू-विधवा का पतन यों ही होना स्वाभाविक है ।

उपन्यास का वह अंश अधिक करुणामय है जिसमें लखनपुर की गाथा है । इस अंश के प्रधान पात्र प्रेमशंकर हैं। यदि पश्चिमी शिक्षा का एक फल ज्ञान-शंकर की ऐश्वर्य-लोलुपता में है तो दूसरा फल प्रेमशंकर की निष्काम जाति-सेवा में । जिस समुद्र में हलाहल विष है, उसमें अमृत भी है। प्रेमशंकर उस शिक्षा के अमृत रूपी फल हैं । कुछ मित्रों का ख्याल है कि प्रेमशंकर में गाँधी जी की छाया है । यदि हम लेखक के मन की थाह लेने का साहस तो करें तो इस पात्र में हमें महर्षि टॉल्स्टाय के चरित्र की हल्की-सी छाया दिखलाई पड़ती है ।

ज्ञानशंकर चाहते हैं कि प्रेमशंकर को गाँव का आधा हिस्सा न देना पड़े। इसके लिए क्या-क्या जाल रचे, श्रद्धा को कहाँ तक भरा, बिरादरी को कहाँ तक उभारा। परन्तु प्रेमशंकर अमेरिका से और ही पाठ सीख आये है। उन्हें साम्यवादियों के मतानुसार एक आदर्श कृषक-संस्था तैयार करनी थी, गाँव को तिलांजलि दे दी और जाति-सेवा में लीन हो गये। श्रद्धा छूट गई, उसका उन्हें समय-समय पर शोक होता है। भाई से बिगाड़ हो गया, इसके लिए भी उनकी आत्मा को क्लेश होता है। पर वह अपने कर्त्तव्य से विचलित नहीं होते। इसीलिए लेखक ने भी भविष्य की बागडोर को उनके हाथ से नहीं जाने दिया।

प्रेमशंकर हाजीपुर को एक साम्यवादी गाँव बना कर, लखनपुर का उद्धार करते हैं और मायाशंकर को आदर्श ज़मींदार का पद देने में सफल होते हैं। प्रेमशंकर के संसर्ग में जो पात्र आया, उसको उन्होंने पवित्र कर दिया। उदण्ड मनोहर, स्वार्थी ज्ञानशंकर और लालसामयी गायत्री इस योग्य नहीं थे, इसलिए लेखक ने इनका अन्त ही कर दिया। सुक्खू चौधरी बैरागी हो गया, ज्वालासिंह डिप्टी कलक्टरी छोड़कर जाति-सेवा में रत हुए, डॉक्टर इर्फ़ानअली ने वकालत छोड़ दी और डॉ० प्रियानाथ एक सर्वप्रिय डॉक्टर हो गये; यहाँ तक कि पतित दयाशंकर का भी उन्होंने अपनी सुश्रुषा से उद्धार कर दिया। प्रेमशंकर का जीवन एक प्रकार श्रद्धा के बिना अपूर्ण-सा था, सो श्रद्धा और प्रेम का ज्वाला द्वारा सम्मिलन भी हो गया।

और भी पात्र हैं। गाँव में अत्याचारी अंग्रेज नहीं हैं। मनोहर और सुक्खू की गौसखाँ तथा साहबों के अहलकारों से ही शिकायत है। ज्वालासिंह न्याय करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु धोखा खाते हैं और उन्हें इस्तीफा देना पड़ता है। गौसखाँ का भी वही अन्त हुआ जो अत्याचारी जिलेदारों का होता। मनोहर की उद्दण्डता का भी फल उसे मिल गया। सुक्खू को मनोहर के खेतों की बड़ी लालसा थी, परन्तु गाँव पर विपत्ति आने पर वह उनका नेता हो गया। कादिर मियाँ गाँव के सच्चे सेवक बने रहे। दुखरन भगत पर विपत्ति का दूसरा ही असर हुआ। निराशा ने उसके हृदय में जन्म भर की संचित शालिग्राम के प्रति श्रद्धा उखाड़कर फेंक दी। बलराज गाँव के भविष्य का युवक है। उसमें जो स्वतन्त्रता है, वह किसी में नहीं, क्योंकि उसके पास जो परचा आता है उसमें लिखा है कि रूस में किसानों का राज्य है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुई तो वह भविष्य का बोल्शैविक होगा। मनोहर की पतिव्रता गृहिणी विलासी इनके झगड़ों को शान्त करने का प्रयत्न करती रहती है, पर गाँव में विप्लव उसी के द्वारा होता है। न उस गाँव की द्रोपदी पर गौसखाँ का अत्याचार होता, न विद्वेष की आग इतनी भड़कती। इस विप्लव के शान्त होने पर जो बचते हैं, वे उपसंहार में भावी गवर्नर हिज़ एक्सिलेंसी गुरदत्त राय चौधरी और भावी ज़मींदार मायाशंकर के समय में रामराज्य का सुख-भोग करते हुए दर्शन

देते हैं।

कथा-प्रसंग के परे और भी पात्र हैं। राय कमलानन्द का चित्र विशेषकर भावमय है। मालूम नहीं कि यह उपन्यास-लेखक के मस्तिष्क से निकले हैं या इनकी जोड़ के संसार में कोई हैं भी। इनका जीवन सांसारिक-विलास में मग्न है। पर इससे इनके पौरुष में कोई अन्तर नहीं आता। इनकी भोग-क्रियाएँ इसीलिए थीं कि जीवन की चरम सीमा तक भोग कर सकें। इनका आत्म-बल इतना प्रखर था कि ज्ञानशंकर भी उनके सामने नहीं ठहर सका, परन्तु जीवन का आदर्श त्रुटियों से भरा है।

विद्या और श्रद्धा के चित्र भी उल्लेखनीय हैं। दोनों साधारण हिन्दू-रमणियाँ हैं। विद्या के चरित्र में जटिल समस्या की कमी नहीं आई, और जब उस पर कष्ट पड़ता है तो लेखक उसे बरदाश्त करने योग्य न समझकर उसका अन्त ही कर देता है। कुटिल ज्ञानशंकर की पतिव्रता पत्नी का यहीं अन्त होना था। श्रद्धा के सामने पहले से ही धर्म और प्रेम की समस्या मौजूद है। पर प्रेमशंकर के चरित्र का अन्त में उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि धर्म की शृंखलाएँ ढीली पड़ गईं। लेखक ने श्रद्धा को प्रेम से मिलाकर दोनों का जीवन सार्थक कर दिया।

पात्रों का अवलोकन करके अब लेखन-शैली पर विचार करें। प्रेमचन्द की यह पुरानी आदत है कि भाषा हिन्दी ही रहती है, पर शब्दों का रूप पात्रानुसार बदलता रहता है। **'प्रेमाश्रम'** में देहाती पात्र भी हैं, इसलिए उनके काम में आने वाले शब्द भी वैसे ही हैं। रिसवत, सरबस, मुद्रा, मसक्कत, मूरख, सहूर, अचरज, कागद, ये सब देहातियों के ही शब्द हैं। भाषा सिर्फ़ करतार की बिगड़ गई है। यह ठेठ गँवारू है और जितने देहाती हैं उनकी भाषा में पूर्वोक्त प्रकार के शब्द आने से लालित्य बढ़ ही जाता है।

प्रेमचन्द जी अपनी लेखन-शैली में 'इनवर्टेड कॉमाज़' का प्रयोग न करके प्राचीन परिपाटी का ही अनुसरण किया है। पुरानी हिन्दी में इनवर्टेड कॉमाज़ नहीं थे। वार्त्तालाप में पात्र का नाम और उसके बाद बस कॉमा आ गया। कोई आन्तरिक विचार हुए या कोई लम्बी बातचीत हुई तो इसकी आवश्यकता नहीं।

मनोविकार के चित्र तथा विचित्र उपमाएँ उपन्यास-धारा की तरंगों पर कमल के फूलों की तरह दर्शन देती चली जाती है।

यह उपन्यास अपने ढंग का अनूठा उपन्यास है जिसे लिखकर उपन्यासकार ने हिन्दी-साहित्य-निधि के कोष को भरा है। यह उपन्यास हिन्दी-साहित्य के उन उपन्यासों में से है जिन्हें लेकर हिन्दी-साहित्य अन्य भाषा के उपन्यासों में सगर्व खड़ा हो सकता है और उसके सम्मुख अपनी महत्ता प्रस्तुत कर सकता है।

रंगभूमि-26

रंगभूमि मुन्शी प्रेमचन्द का चौथा उपन्यास है। इस उपन्यास में भारत के अन्दर कल-कारखानों का उदय और ग्रामीण उद्योगों का पतन दिखलाया है। शहर और ग्रामों की यह समस्या उस समय पश्चिमीय देशों में समाप्त हो चुकी थी और पूर्वी देशों में चल रही थी। कारखानों के प्रताप से ग्राम शहर में परिवर्तित होते जा रहे थे और उसी के विपरीत विद्रोह की भावना को लेकर उपन्यास कार ने रंगभूमि की रचना की है। इसी समय भारत में गांधी जी अपनी चर्खा-प्रणाली का प्रचार कर रहे थे। इस चर्खे के प्रचार के साथ-साथ चल रहा था महात्मा गाँधी का असहयोग-आन्दोलन। यही कारण था कि यह गांधी जी की चर्खा विषयक प्रस्तावना सम्पत्ति-शास्त्र-वेत्ताओं को उतना आकृष्ट न कर सकी और देहातों में कर्घे इत्यादि की योजनाएँ अधिक प्रस्फुटित नहीं हो सकीं। भारत के देहाती बराबर कल-कारखानों के चक्कर में फँसते रहे। सरकार ने समाज को सहयोग नहीं दिया और न ही देहाती उद्योग-धन्धों को। जिसका स्पष्ट फल यह हुआ कि देहातों में जो बचे-खुचे देहाती धंधे थे वह भी समाप्त होने लगे और कलों का प्रचार भारत में बढ़ने लगा। अंग्रेजी कारखानों में बनी हुई कलों को बेचने के लिए भारत का बाजार खुल गया और भारत का रुपया विदेश को जाने लगा। रंगभूमि सरकार की इस नीति के विरुद्ध उस काल में एक खुला हुआ विद्रोह था। साथ-ही-साथ भारत की राजनीति को यह एक सुझाव भी था।

रंगभूमि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के विषय में कालीदास कपूर एम० ए० लिखते हैं—

"विनय और सोफ़ी के चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक हैं। मनुष्य और स्त्री की प्रेम-भावना में क्या अन्तर है? क्या यह सत्य है कि मनुष्य का प्रेमोपासना-मार्ग आदर्श प्रेम के आकाश से लालसा के पाताल तक है और स्त्री का उससे उलटा, लालसा के पाताल से आदर्श प्रेम के आकाश तक। यदि ऐसा हो तो चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का अंश अवश्य है। विनय में जो कुछ देश-सेवा का अंकुर है वह उसकी माता जाह्नवी की कृपा से। सोफ़ी के प्रेम-पाश में फँसकर उसमें अधर्मता आ जाती है। विनय आदर्श प्रेम से गिरकर इन्द्रिय भोग की लालसा में अपनी आत्मा को हानि पहुँचाता है। सोफ़ी का दूसरा ही हाल है। वह आदर्शवादिनी है। यों तो वह अबला है परन्तु विनय के प्रति अंकुरित प्रेम उसे कर्मवीरागंना बना देता है। उपन्यास के दूसरे भाग में उसी का राज्य है।

प्रेमचन्द जी ने भारतीय स्त्रीत्व तथा मनुष्यत्व का वास्तविक चित्र खींचा है। मनुष्य लालसा और लोभ के वश तो कर्मण्य रहते हैं परन्तु आदर्श उन्हें अकर्मण्य और आलसी कर देता है। स्त्रियाँ भी लालसा और लोभ के पाश में

फँस जाती हैं; पर अपना धर्म नहीं खोतीं।

प्रेमचन्द जी देहाती जीवन का करुणामय चित्र खींचने में दक्ष हैं। सेवा-सदन प्रेमाश्रम और रंगभूमि में प्रेमचन्द का प्रेम शहर से देहात की ओर अधिक है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द जी ने 'सेवासदन' की भाँति एक आदर्श ग्राम की सृष्टि की है। पर साथ ही वास्तविक लखनपुर की भी पूरी व्याख्या की है। 'रंगभूमि, का पाँडेपुर 'प्रेमाश्रम' का लखनपुर है। 'रंगभूमि' में वह हृदय-विदारक दृश्य है कि कल और कारखाने किस प्रकार इस ग्राम का विनाश करते हैं और उसके साथ ही अधर्म का प्रचार बढ़ाते हैं। इसकी सूरदास ने कारखाने बनने की प्रस्तावना पर पहले से ही सूचना दे दी थी। "सरकार बहुत ठीक कहते हैं। मुहल्ले की रौनक जरूर बढ़ जायगी, रोज़गारी लोगों को फ़ायदा भी खूब होगा। लेकिन जहाँ यह रौनक बढ़ेगी, वहाँ ताड़ी-शराब का भी तो प्रचार बढ़ जायगा, कसाबियाँ भी तो आकर बस जायंगे। परदेशी आदमी हमारी बहू-बेटियों को घूरेंगे, कितना अधर्म होगा? देहात के किसान अपना काम छोड़कर नौकरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी- बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरण अपने गाँवों में फैलाएँगे। देहातों की लड़कियाँ बहुएँ मजूरी करने आयँगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धर्म बिगाड़ेंगी। यही रौनक शहरों में है, यही रौनक यहाँ हो जायगी। बजरङ्गी और जगधर के मकान मिट गये, सूरदास को झोंपड़ी के लिए सत्याग्रह करना पड़ा। परन्तु यह दृश्य उतने कष्टमय नहीं हैं जितना कि वह जिसमें देहात के नवयुवक घीसू और विद्याधर का नैतिक पतन होता है। ठीक ही है धन का देवता बिना आत्मा का बलिदान पाये प्रसन्न नहीं होता।" इस उपन्यास पर देहात के जीवन का साम्राज्य है। नायक और नायिकाएँ शहर के हैं, पर वे देहात पर अपनी जीविका के लिए निर्भर हैं। 'रंगभूमि' में देहाती जीवन के विनाश का करुणामय दृश्य है। क्षेत्र काशी से उदयपुर तक है। उपन्यास के पात्र देशी और विदेशी, देहाती और शहर के हैं—गाँव का नायक सूरदास है और उसके ही चरित्र में देहात के जीवन का चरित्र है। देहातियों की सरलता, धर्म-भीरुता, साहस, सहन-शक्ति, प्रकृति, घरेलू झगड़े, संगठन-शक्ति इन सबका प्रतिबिम्ब सूरदास में मिलता है।

'सेवासदन' में देहात के उदय, 'प्रेमाश्रम' में उसके मध्याह्न और रंगभूमि में उसके अस्त होने का दृश्य है। प्रथम उपन्यास में आशा, दूसरे में आशा और निराशा, दोनों का मेल, और तीसरे में अंधकार और निराशा, रंग-भूमि में करुणा की पराकाष्ठा है। इस उपन्यास का हास्य भी करुणा से घिरा हुआ है।

प्रेमचन्द जी के चरित्र-चित्रण में एक दोष है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। आपको जब पात्रों की आवश्यकता नहीं रहती, जब उसमें रंग भरते-भरते आप थक जाते हैं, तब झट उनका गला घोंट डालते हैं। 'सेवासदन'

में कृष्णचंद नदी में डूबकर आत्महत्या करता है, 'प्रेमाश्रम' में गायत्री पहाड़ से गिरकर जान देती है और रंगभूमि में विनय पिस्तौल द्वारा अपनी हत्या करता है।

हमें यह ढंग दोषपूर्ण मालूम होता है। आत्महत्या की नीति तथा धर्म-शास्त्र दोनों में निषेध है और धर्म और नीति दोनों की अवहेलना करना न कवि के लिए योग्य है और न उपन्यास-लेखक के लिए। उपन्यास-लेखक को भी कवि की भाँति अपनी कला में निरंकुशता का अधिकार प्राप्त है, परन्तु इतना नहीं कि जिस कर्म का शास्त्र तथा नीति में निषेध हो उसका लेखक द्वारा सम्मान किया जाये।

इतना सब कुछ होते हुए भी प्रेमचन्द के उपन्यासों का महत्त्व कम नहीं होता, प्रेमचन्द जी जोशी की प्रेमचन्द के प्रति आलोचनाओं से सहमत नहीं हैं। यह उपन्यास क्षणभंगुर नहीं है। हिन्दी के दुर्भाग्य से इनका अनुवाद, अभी तक किसी पाश्चात्य भाषा में नहीं हुआ है। यदि कभी हो, और यूरोप के विद्वान् प्रेमचंद की रवीन्द्रनाथ ठाकुर और टाल्स्टाय से तुलना करें तब हम भी समझने लगेंगे कि ये उपन्यास भी कुछ महत्त्व रखते हैं। प्रेमचन्द का यथासमय भारतीय साहित्य में वही सम्मान होगा जो डिकेंस और टॉलस्टाय को यूरोपीय साहित्य में प्राप्त है। भारत का हृदय कलकत्ते की गलियों में नहीं है, न वह शिक्षित बंगाल की अट्टालिकाओं में है। उनका हृदय देहात में है, किसान के टूटे-फूटे झोंपड़ों में है। हरे-भरे खेतों को देखकर उसे शांति मिलती है। अनावृष्टि से अन्न सूख जाता है। उस दृश्य का मार्मिक चित्र जिसने खींचा है वह देश भर का धन्यवाद-पात्र है। अभी भारतीय किसानों में शिक्षा का अभाव है। जिस समय यह समझेंगे कि कोई साहित्यिक ऐसा भी हुआ था कि जिसने उस समय अपने जीवन की अनुभूतियों को हमारी झोंपड़ियों में लाकर बिठलाया था और हमारा उस समय का चित्रांकन करके आनन्द लाभ लिया था, जब देहाती असभ्य समझे जाते थे, तो वह काल प्रेमचन्द के विकास का काल होगा, तब उनके उपन्यासों के पात्र भारत के भाग्य-विधाता बनकर अपने पूर्वजों को सम्मान के उच्चतम आसन पर बिठलाकर उसकी पूजा करेंगे।

गोदान-27

प्रेमचन्द जी की सब रचनाओं को जब हम क्रम से पढ़ते हैं तो हमें उनका जीवन तथा साहित्य सतत् परिवर्तनशील दिखलाई देता है। उसका आशावादी दृष्टिकोण धीरे-धीरे ठेस खाकर यथार्थवाद की ओर बढ़ा है और जीवन के अंत तक पहुँचकर वह स्पष्ट रूप से यथार्थवादी हो गया है। यथार्थवादी दृष्टिकोण

लेकर भी भारतीय आदर्श को भुलाना मुँशी प्रेमचन्द नहीं सीखे थे। प्रेमचन्द का अंतिम उपन्यास **'गोदान'** है, जिसमें यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर आपने पात्रों की परिस्थितियों में और परिस्थितियों को पात्रों के हाथों में खूब कलाबाजी खिलवाई है। **'गोदान'** लिखते समय लेखक उपन्यास लिखने बैठा है; आशावादी स्वप्नों के फूल खिलाने नहीं। राम-राज्य की स्थापना करने का उद्देश्य उस समय उसके सम्मुख नहीं है। वह यथार्थ जीवन को चित्रित करता है। समस्याएँ आती भी हैं तो बहुत स्वाभाविक रूप में आती हैं, लेखक द्वारा आदर्शपूर्ति के लिए निर्मित नहीं की जातीं। जीवन के सजीव चित्र लेखक ने उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, निर्बल और कठपुतली के समान नहीं। **गोदान** का **'होरी'** **'रंगभूमि'** के **सूरदास की** भाँति जीवन में सफल न होकर ही भारतीय ग्रामीण जीवन के यथार्थवादी दृटिकोण को निखरे रूप में पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। **'गोदान'** में कठोर सत्य पर आशावादी चादर डालकर सुख-स्वप्नों की कल्पना करने का प्रयास प्रेमचन्द ने नहीं किया। **'गोदान'** में प्रेमचन्द जी ग्रामीण जीवन के साथ-साथ नागरिक जीवन की भी उपेक्षा करके नहीं चले हैं 'होरी' के संघर्षमय जीवन के शहरी पात्रों का आमोद-प्रमोद, थियेटर और शिकार का भी सजीव चित्रण किया गया है, जिससे पाठक यथार्थवाद के जाल में फँसकर ऊब नहीं उठता और उसका मनोरंजन प्राप्त करने वाली आकांक्षाओं को ठेस भी नहीं लगती। एक ओर भारतीय समाज की दैनिक दशा लेखक ने ग्रामीणता के चित्रण द्वारा प्रस्तुत की है और नागरिक अहंकार के साथ-साथ, सांस्कृतिक विकास जिसे कहते हैं, समाज-सेवा, शिक्षा-प्रचार, नाच-रंग और इसी प्रकार की प्रसन्नता-वर्धक बातों को भी जुटाया है। इस प्रकार दो विपक्षी चरित्रों को लेकर लेखक ने समन्वय के साथ कथा और पात्रों के चरित्र-चित्रण का उत्कर्ष दिखलाया है। दोनों चरित्रों के आमने-सामने आ जाने पर दोनों के गुण और दोषों का इतना निखरा चित्र सामने उपस्थित हो जाता है जितना पृथक्-पृथक् रहने पर वह सम्भव नहीं। वास्तव में यह उपन्यास दो पृथक्-पृथक् कहानियों को लेकर चलता है और वह दोनों कथाएँ एक-दूसरी से स्थान-स्थान पर कुछ मिल जाने पर भी पृथक् ही रहती हैं। दोनों कथाओं को उपन्यासकार ने आद्योपांत खूब निभाया है। कुछ प्रेमचन्द के आलोचक इन दो कथाओं के होने को उपन्यास का दोष भी मानते हैं, परन्तु हम ऐसा नहीं मानते; बल्कि और उल्टी लेखक की कला-कुशलता का आभास हमें इसमें मिलता है। इस प्रकार **'गोदान'** की कथावस्तु बिखरी हुई होने पर अपनी विशेषता रखती है और कहीं उसका सौन्दर्य नष्ट नहीं होने पाता। 'गोदान' के चित्रण में लेखक ने निष्पक्ष भाव से काम लिया है। भविष्य की सम्भावनाओं के लिए वर्तमान का गला नहीं घोंटा गया। अपने काल से समाज का सजीव चित्रण इस उपन्यास में लेखक ने प्रस्तुत किया है। **'गबन'** का लेखक पात्रों को जीवन-पथ पर छोड़कर

स्वयं सृष्टा बन जाता है 'होरी' अपनी परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार स्वयं अपना पथ-निर्माण करता है । परिस्थितियाँ उसे मिलती हैं और वह उनसे संघर्ष करता हुआ जीवन के पथ पर अग्रसर होता है । नियति के हाथों में खेलता है और अनथक परिश्रम करता हुआ जीवन के अन्त तक चला जाता है । ग्रामीण जीवन का खिलाड़ी '**होरी**' परिस्थितियों के थपेड़े सहने में असमर्थ है; परन्तु नगर के रायसाहब, मिर्जा और मेहता को लेखक ने इतना निर्बल नहीं बनाया । उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली है और उन पर परिस्थितियों का यदि आघात होता है तो वह परिस्थितियों से टक्कर लेने में भी समर्थ हैं । कहानी के विचार से ग्रामीण कहानी अधिक क्रमिक और सुगठित है । उसका विकास भी नगर की कहानी से अधिक सुन्दर और क्रम-बद्ध है । नागरिकों को कबड्डी खिलाना प्रेम-चन्द जी भी अपनी सूझ है, जिसका शहर के व्यवहारिक जीवन से कम सम्बन्ध है । 'होरी' के रूप में उपन्यासकार ने भारतीय-किसान-वर्ग का वह चित्रण किया है जिसमें किसान के अन्दर पाये जाने वाले सभी गुण और दुर्गुण वर्तमान हैं । समाज की मर्यादा को मानता हुआ वह ईश्वर से डरता है । गाँव के मुखियाओं का उत्पीड़न वह अपनी परिस्थितियों को देखक सहन करता है । धर्म के ठेके-दारों का अत्याचार सहन करता हुआ भी **झुनिया**' को घर में आश्रय देता है, सम्मिलित परिवार में छोटे भाई 'होरी' और 'शोभा' को पुत्रवत पालता है, अलग होने पर भी उनका मान-अपमान होरी का अपना मान-अपमान है । भाई द्वारा अपनी गाय को जहर दिये जाने पर भी वह पुलिस द्वारा अपने भाई के घर की तलाशी लिवाने को सहन नहीं कर सकता । भाई के लापता हो जाने पर वह भाभी की सहायता करता है । यह सब चरित्र के गुण होने पर भी वह महाजन के सामने झूठी क़समें खा सकता है, मन को गीला करके भारी बना देना और रुई में बिनौले मिला देना भी वह अनुचित नहीं समझता । अपने भाई के दो-चार रुपये भी वह दबा सकता है, यदि बाहरवालों की दृष्टि उस पर न पड़े । वह समाज से भय मानता है, अपनी आत्मा से नहीं । यह हैं होरी के जीवन के दोनों पक्ष, जिनके अन्तर्गत जीवन भर संघर्ष करता हुआ वह चलता चला जाता है । खानदान के मान के लिए वह महाजन का शिकार बना हुआ है और इस खोखले खानदान के मान में ही वह अपना सर्वस्व गँवाकर एक दिन कोरा मजदूर मात्र रह जाता है । मजदूरी करते हुए उसे लू लग जाती है और वह बीमार पड़ जाता है। दशा बिलकुल बिगड़ जाने पर 'होरी' भाभी से गोदान करने को कहता है । धनिया सन बेचकर जो बीस आने पैसे लाई थी पति उन्हें के मुर्दा हाथों में रखकर कहती है, "महाराज ! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा । यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है ।" और स्वयं चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है । 'गोदान' का यही अन्त है । होरी का मृतक शरीर पड़ा है, धनिया मूर्छित पड़ी है और सूदखोर दातादीन अब भी हाथ पसारे पुरोहित

बना सामने खड़ा है। 'गोदान' एक किसान की नीच साहूकार द्वारा शोषण की कहानी है। इस उपन्यास में सूदखोरों के भी वर्ग बनाकर उपन्यासकार ने रख दिये हैं। झींगुरसिंह, दातादीन और लाला पटेश्वरी यह सभी किसानों का रक्त चूसने के लिए जोंक के समान हैं। दुलारी साहूकारिन भी किसी से कुछ कम नहीं है। साहूकारों के अत्याचार के साथ-साथ जमींदार और सरकारी अफ़सरों की सख्ती का भी चित्रण **'गोदान'** में किया गया है। बिरादरी के अत्याचारों का वर्णन प्रेमचन्द जी ने किया है और दिखलाया है किस-किस प्रकार शादी, ब्याह, मुण्डन, कर्ण-छेदन, जन्म-मरण सब पर बिरादरी का ही अधिकार है। बिरादरी द्वारा निर्मित कृत्रिम नियमों का उल्लंघन करने वालों को तो मानो वह कच्चा ही चबाने को तत्पर रहती है। उसके कृत्रिम नियम पालन करके आप चाहे जो कुछ भी पाप-कर्म क्यों न करते रहें बिरादरी आपके मार्ग में नहीं आती। 'दातादीन' एक चमारिन से फँसा हुआ होकर भी संस्कार कराता है और बिरादरी में मान का पात्र भी है। होरी पर बिरादरी आपत्तियों का पहाड़ ढहा देती है। ग्रामीण समाज शहरी समाज से अधिक कड़ा है और अपने नियमों का उल्लंघन कदाचित् सहन नहीं कर सकता। 'गोदान' में गोबर, सिलिया, दातादीन इत्यादि द्वारा सामाजिक बन्धनों के विरुद्ध विद्रोह भी प्रेमचन्द ने प्रकट किया है।

'गोदान' में भारतीय संस्कृति का लेखक ने विशेष ध्यान रखा है और यह विशेषता उनके प्रायः सभी उपन्यासों में मिलती है। लेखक को देश का अग्रदूत मानते हुए उन्होंने कहीं पर भी अपने आदर्श और मर्यादा को हाथ से नहीं जाने दिया है। उनका विचार था कि लेखक पर समाज और देश का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। पाश्चात्य सभ्यता के भारत में बढ़ते हुए प्रभाव के विरुद्ध भी प्रेमचन्द जी ने प्रकाश डाला है और उसका हर प्रकार से खंडन किया है। उन्होंने पश्चिम के नारी स्वातन्त्र्य के प्रतिपादन पर भी प्रकाश डाला है। गृहस्थी-संचालन के मूल में प्रेमचन्द ने सेवा को प्रधान स्थान दिया है। आँख मींचकर नक़ल करना उन्हें पसन्द नहीं था। वैसे पश्चिमी सभ्यता से आदान-प्रदान की भावना को आपने प्रश्रय दिया है। नारी को वहाँ भोग-विलास की उच्छृंखल-सामग्री मात्र न मानकर गृह-स्वामिनी मानकर चलते हैं। गोदान में **'मालती'** के जीवन में भारतीयता आ जाने से भारतीय-संस्कृति की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है। लेखक जिस मार्ग को उचित समझता है उसी मार्ग पर उसे ले जाता है। इस प्रकार **'गोदान'** विशेष रूप से भारतीय सामाजिक-समस्याओं का स्पष्टीकरण है, जिसमें लेखक विशेष कलात्मक रूप से सफल हुआ है। यह लेखक की सबसे परिपक्व रचना है और इसमें उसने उपन्यास-साहित्य का उच्चतम उत्कर्ष उपस्थित किया है।

कंकाल-28

1919 ई० में जयशंकर 'प्रसाद' ने 'कंकाल' की रचना की। 'कंकाल' उपन्यास में मानव-मंगल की कामना से प्रेरित होकर सामाजिक कुचक्रों से ग्रस्त कंकाल-मानव को 'प्रसाद' जी ने अपनी रचना का विषय बनाया। इस उपन्यास में मानव सामाजिक बंधनों से लड़ता है और उत्थान के लिए संघर्ष करता है। उपन्यास की कथा के केन्द्र भारत के तीर्थ-स्थान हैं। धर्म-स्थानों पर धर्म की आड़ में मानव कितना कलुषित होकर अपनी प्रकृतियों का नग्न-नृत्य करता है इसका सजीव चित्रण इस उपन्यास में दिया गया है। **'देव निरंजन'** कुम्भ के मेले के सबसे बड़े महात्मा होकर भी बाल्य-सखी किशोरी के यौवन पर फिसल पड़ते हैं। उनका व्यक्तित्व इतना कमज़ोर हो उठता है कि वह मानवी भूल की उपेक्षा करने में असमर्थ हो जाते हैं। महन्त बनकर वह संसार को धोखा दे सकते हैं परन्तु अपने को धोखा नहीं दे सकते। यह परिस्थिति वहाँ और भी गम्भीर हो उठती है जहाँ वह अपने पतन को दार्शनिक रूप देकर कहते हैं, "जगत् तो मिथ्या है ही, इसके जितने कर्म हैं वह भी माया हैं। हमारा जीव भी प्राकृत है, वह भी अपरा प्रकृति है, क्योंकि जब विश्व मात्र प्राकृत है तो इसमें अलौकिक अध्यात्म कहाँ? यही खेल यदि जगत बनाने वाले का है तो मुझे भी खेलना चाहिए।" पापी **अपने पाप** अपने पाप का भी सम्बन्ध खोज लेता है और उसकी सार्थकता सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार देव निरंजन का यह खेल पर—स्त्री 'किशोरी' और विधवा **'रामा'** के गर्भ से **'विजय'** और **'तारा'** के जन्म का कारण बनता है। आदर्शवादी मंगलदेव **'तारा'** को गर्भवती बनाकर विवाह के दिन भाग खड़ा होता है और **'तारा'** पर दुश्चरित्रा माता की सन्तान होने का आरोप लगाया जाता है। समाज **'विजय'** को **'घंटी'** से विवाह करने की आज्ञा नहीं देता। **'तारा'** जैसी पवित्र लड़की को छोड़कर मंगलदेव **'गाला'** से विवाह करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि **'कंकाल'** उपन्यास में समाज के मान्य कहलाने वाले वर्गों का खूब मजाक उड़ाया गया है और लेखक ने उनके झूठे घमंड और अभिमान की धज्जियाँ बखेरकर रख दी हैं तथा सामाजिक ढकोसले की जर्जरित दशा का खोलकर प्रदर्शन किया है। समाज ऊपर से जैसा दिखलाई देता है वास्तव में वह वैसा नहीं है। पाप की प्रति मूर्ति **'मंगल'** धर्म का ठेकेदार बनकर धर्मध्वजा फहराता है। यह समाज के बाहरी रूप के दर्शन कराता है, अन्तरंग के नहीं। वहाँ समाज का धर्म नहीं पहुँचता। यह **'कंकाल'** समाज के खोखलेपन की भयंकरता का द्योतक है। सामाजिक बन्धनों ने मानव की जो दुर्दशा की है उसका चित्रण **'विजय'** और **'यमुना'** के रूप में 'प्रसाद' ने साकार उपस्थित किया है।

प्रेमचन्द के उपन्यास सीधे-सादे हैं और वर्णनात्मक शैली के हैं। उनमें

इस गम्भीर व्यंग्य का नितांत अभाव है जो कंकाल में 'प्रसाद' ने प्रस्तुत किया है। **'गोदान'** की शैली में कुछ व्यंग्य चित्र प्रेमचन्द ने भी प्रस्तुत अवश्य किये हैं परन्तु **'कंकाल'** आदि से अन्त तक व्यंग्य-प्रधान ग्रन्थ है, जिसके शब्द-शब्द में समाज के बन्धनों से टक्कर ली गई है। इस उपन्यास में 'प्रसाद' जी ने इस व्यंग्य-परिपाटी को खूब सफलतापूर्वक निभाया है। घटनाओं और संवादों, सभी में व्यंग्य बहुत परिपक्व अवस्था में प्रस्फुटित हुए हैं। किशोरी से निरंजन का प्रणय व्यंग्य का सुन्दर चित्र है। देवनिरंजन के मठ में संडे-मुस्टंडे पलते हैं और दीन भिखारी बाहर झूठी पत्तलों पर झपटते हैं। यह समाज का कितना विकृत रूप है? समाज के यह दोनों ही अंग काट डालने योग्य हैं, जिसके नष्ट होने से समाज का कुछ अनर्थ नहीं हो सकता। इधर उपन्यास में 'प्रसाद' ने समाज का वह नग्न-रूप प्रस्तुत किया है जिसमें व्यक्ति की अवहेलना करके समाज ने पाखण्ड को प्रश्रय दिया है। ऊपर से साफ़-चिट्टा दिखलाई देने वाले समाज का दामन कितना गन्दा है। यह ज्ञान-दृष्टि से देखा जा सकता है? संवेदना और सुधार-वृति से लेखक ने काम लिया है। व्यक्ति को परिस्थितियों के हाथों में डालकर व्यंग्य-चित्र खूब उपस्थित किये हैं। समाज के हाथों सताये हुए पीड़ित व्यक्ति के प्रति संवेदना प्रकट करके लेखक ने उस रहस्य का उद्घाटन किया है जो कि साधारण व्यक्ति के प्रति संवेदना प्रकट करके लेखक ने उस रहस्य का उद्घाटन किया है जो कि साधारण व्यक्ति की नज़रों से ओझल रहता है। कुकर्मों पर पर्दा डालने वाले पापी समाज की दृष्टि में पाक-दामन वाले बने रहते हैं और दीन असहाय व्यक्ति की साधारण कमज़ोरियों पर समाज अपना न्यायदण्ड संभालकर उन्हें सर्वनाश के गर्त में पहुँचाने से नहीं चूकता। सबल सबल है समाज के नियंत्रण के लिए भी और दुर्बल दुर्बल है समाज के चक्रों में फँस जाने के लिए। असहाय की साधारण भूल भी समाज की आँखों में किरकिरी बन जाती है और बलवान के महान्-से-महान् पाप को समाज मुस्कराता हुआ निगल जाता है। **'कंकाल'** में **'तारा'** और **'घंटी'** पर समाज मनमाना अत्याचार करता है। प्रणयदाम्पत्य की शिक्षा देने वाले नर-निशाचर द्वारा परित्यक्त होकर भी वह अन्याय को सहन करती है, मूक रहती है। पति को समझने में समर्थ होने से पूर्व 'घंटी' पर समाज-वैधव्य का श्राप लाद देता है। यह समाज की विडम्बना नहीं तो और क्या है? **'कंकाल'** के प्रायः सभी पुरुष-पात्र ऊपर से सज्जन प्रतीत होते हुए भी अन्दर से खोखले हैं। जितनी भी स्त्रियाँ हैं वह पुरुष द्वारा सताई हुई हैं। इस उपन्यास में 'प्रसाद' की संवेदना प्रधान रूप से नारी-जीवन के ही लिए विकसित हो पाई है। वह समाज से विशेष कुंठित-से प्रतीत होते हैं और कहते भी हैं, "देखो समाज के इस पतित दलित अंग की ओर देखो। तुम्हारी अवहेलना से कितनी महत्ता नष्ट हुई जा रही है? जिनको तुम पतित कहकर ठुकराते हो उनको सहानुभूति

की दृष्टि से देखो तो मालूम होता कि वह उनसे भी महान हैं जिन्हें तुम महान् समझते हो। जिन्हें तुम पतित समझते हो उनमें जीवनोत्थान की आकांक्षा भी है, परन्तु तुम्हारे अत्याचार ने उनकी उन्नति के सब अवसर उनसे छीन लिये हैं। मानव की परिस्थितियों और दुर्बलताओं को संवेदना के साथ समझने में ही मानव का उद्धार होगा। दैव ने विपत्ति नहीं बनाई है, समाज ने स्वयं अपने लिए काँटे बो लिये हैं, जिनको वह स्वयं ही नष्ट भी कर सकता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रसाद' हमें समाज को प्रताड़ित करते हुए प्रतीत होते हैं। कंकाल में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इन सब भेदों को मनुष्यकृत मानकर उपहास की सामग्री मात्र लेखक ने बना दिया है। धार्मिक पाखंड और उच्चवर्गी अभिमान के हाथों में मानव अपनी मानवता खोकर पशु बन जाता है और उसके जीवन की व्यापक संवेदना का ह्रास हो जाता है। मानव की पशु-प्रवृत्तियाँ समाज और धर्म की इसी असमानता में जाग्रत होती हैं और फिर वह अपने लिए समाज के किले में घुसने और पशु-बल प्रसार करने के लिए सुदृढ़ जाल रचने का प्रयत्न करता है 'कंकाल' का मानव वह व्यक्ति है जो समाज के बन्धनों से मुक्त होने के लिए कराहता है, चिल्लाता है और प्रयत्न करता है। मानव ने समाज का निर्माण स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए युग-युग के परिश्रमों के पश्चात् किया है। तब क्या मानव की स्वतन्त्रता के लिए इस प्राचीन सामाजिक गढ़ को यों ही रड़-रड़ करके धरायाशी हो जाना चाहिए। यह बात नितांत असम्भव है। लेखक ने 'कंकाल' में उस समाज के सुधार की आशा की है। समाज व्यक्तियों से बनता है और व्यक्तियों को विकसित करने में सहायता देना समाज का धर्म है। आज आवश्यकता है कि समाज व्यक्ति के विकास में बाधा-स्वरूप न बनकर सहयोग की भावना से आगे बढ़े और व्यक्ति के विकास में अड़चनें उपस्थित करने के स्थान पर सहयोग प्रदान करे। बाहरी आवरण के ढाँचे को छिन्न-भिन्न करके अन्तरात्मा के निर्देशन पर चलने का प्रयास किया जाय। तभी समाज में क्रान्ति होने की आशा की जा सकती है।

'कंकाल' चरित्र-प्रधान उपन्यास है। परिस्थितियाँ लेखक ने चरित्र-चित्रण के लिए प्रस्तुत की हैं। लेखक किसी विशेष अभिप्राय को लेकर चरित्र-चित्रण करना चाहता है। इसलिए कहीं-कहीं पर परिस्थितयाँ स्वाभाविक न रहकर कृत्रिम-सी प्रतीत होने लगती हैं। लेखक के हाथों में पात्र नाचते-से प्रतीत होते हैं। जब जैसी सुविधा होती है पात्र वहीं पर पहुँच जाते हैं। **'मंगलदेव'** वहीं पर उपस्थित पाता है जहाँ 'यमुना' जाती है। स्थान-स्थान पर पात्रों का संयोग-मिलन अखरने लगता है और कथावस्तु की स्वाभाविक सरलता नष्ट हो जाती है। इस उपन्यास के पात्र इन अर्थों में सबल नहीं है कि उनका कुछ अस्तित्व नहीं है और उन्हें लेखक के संकेत पर कठपुतली बनना पड़ता है। पात्रों के सिर का भार लेखक ने अपने हाथों में रखकर पात्रों की सजीवता नष्ट कर दी है। यह

ठीक है कि इस उपन्यास में उपदेशात्मक प्रवृत्ति नहीं है और चित्रण भी यथार्थ-वादी है, परन्तु यथार्थ का भी लेखक अपनी इच्छानुसार ही स्पष्टीकरण करना चाहता है। इस उपन्यास में कुछ विधिगत घटनाओं का भी समावेश 'प्रसाद' ने किया है। **'माला'** को डाके का धन मिल जाना, निरंजन का महाधीश हो जाना, **'चन्दा'** का **'श्रीचन्द्र'** को आर्थिक सहायता देना इत्यादि घटनाएँ इसी प्रकार की हैं। 'प्रसाद' के यथार्थवादी दृष्टिकोण में कुछ आदर्श है और सुधार की भावना भी। वह ऋषभचरण वाला यथार्थवाद और 'उग्र' और **'चतुरसेन'** वाला उच्छृंखलतावाद प्रसाद के साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता। यथार्थ-वाद के विषय में 'प्रसाद' लिखते हैं, "कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना ही चाहिए और सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक प्रवचन-कर्त्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिए यह आदेश करता है, और यथार्थवादी सिद्धान्त से इतिहासकार के अतिरिक्त और कुछ नहीं ठहरता, क्योंकि यथार्थवाद इतिहास की सम्पत्ति है। वह चित्रित करता है कि समाज कैसा है या कैसा था? किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकार है, न धर्मशास्त्रप्रणेता। इन दोनों के कर्त्तव्य स्वतन्त्र है।

साहित्य इन दोनों की कमी को पूरा करने का प्रयत्न करता है। साहित्य समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, इसको दिखाते हुए भी उनमें आदर्शवाद का सामंजस्य स्थिर करता है, दुःख-दग्ध-जगत और आनन्द-पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है। इस प्रकार 'प्रसाद' जी की यथार्थवादी और साहित्य-सम्बन्धी विचारधारा बहुत कुछ प्रेमचन्द की विचारधारा से मेल खाती है। **'निरंजन', 'किसोरी'** और **मंगल देव'** के चरित्रों की कमजोरी दिखलाकर उनसे पश्चात्ताप कराने वाली भावना में विशुद्ध आदर्शवाद छुपा हुआ है और जहाँ तक उनका सही-सही चित्रांकन किया है, यही यथार्थवाद है। केवल यथार्थवाद के आश्रय पर पाठक को अपनी विचारधारा स्वयं निर्मित करने का अवसर न देकर आदर्श-वादी लेखक स्वयं मार्ग सुझाने का प्रयत्न करता है। यह प्रयत्न **'कंकाल'** में **'प्रसाद'** ने भी किया है : प्रेमचन्द ने वेश्या का चित्रण **'सेवासदन'** में किया है परन्तु कहीं पर भी कुरुचि को प्रश्रय नहीं मिला। उसी प्रकार इन सामाजिक धूर्तों का चित्रण करने पर भी कहीं 'प्रसाद' जी ने कुरुचि को साहित्य में नहीं आने दिया है। 'दिल्ली के दलाल' या 'दल्लाल' लिखने की प्रेरणा से 'प्रसाद' जी ने इन धूर्त-पात्रों का निर्माण नहीं किया, बल्कि सभ्य जगत के नेता बनने वाले पोंगा-पंथियों पर कटाक्ष करने के लिए इनकी रचना की है। लेखक के मस्तिष्क में एक महान् उद्देश्य है, समाज और व्यक्ति के उत्थान का। पतन की लोलुप-लालसा की पूर्ति उसका लक्ष्य नहीं। एक मर्यादा का पालन हमें उपन्यास में आद्योपांत मिलता है। 'कंकाल' में अश्लीलता खोजना भूल है। लेखक ने अश्लीलता को प्रश्रय नहीं दिया परन्तु फिर भी यदि आलोचक इस

प्रकार की आलोचना करते हैं तो मैं उसे केवल उनकी व्यक्तिगत मानसिक प्रवृत्ति मात्र ही कह सकता हूँ। 'प्रसाद' जी के उपन्यासों की भाषा नाटकों की भाषा से कुछ सरल अवश्य है परन्तु फिर भी वह उसमें अपनेपन को छुपाकर नहीं चल सकते। उसमें साहित्यिक प्रवाह अवश्य है, प्रेमचन्द जी का चलतापन नहीं।

गढ़कुँडार पर एक दृष्टि-29

वृन्दावनलाल वर्मा जी के उपन्यासों में 'गढ़कुंडार' ने विशेष प्रसिद्धि प्राप्त की है, गढ़कुंडार में चौदहवीं शताब्दी के अन्दर बुन्देलखण्ड में होने वाली राजनीतिक क्रांतियों का विवरण दिया हुआ है। वीरत्व के दुरुपयोग में किस प्रकार जुझौत के राजकुमार जूझ मरे, उसका चित्रण इस उपन्यास में है। सोहनपाल बुन्देला अपने द्वारा प्रवंचित होकर इधर इधर-उधर भटक रहा था। उसके साथ उसकी स्त्री, पुत्र सहजेन्द्र, पुत्री हेमवती, मन्त्री और मंत्री-पुत्र देवदत्त भी थे। खंगारों के राजा हुरमतसिंह के राजकुमार नागदेव ने हेमवती के सौन्दर्य की कथा सुनी हुई थी। हरिचंदेल की गढ़ी में जब यह परिवार ठहरा हुआ था तो नागदेव की उन। भेंट हुई और यहीं पर वह हेमवती पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया। नाग ने सोहनपाल को सहायता का आश्वासन दिया और सोहनपाल सपरिवार कुंडार चला गया। विष्णुदत्त पांडे कुंडार का शुभचिंतक ऋणदाता और उसका पुत्र अग्निदत्त नागदेव का परम मित्र था। इन सब के एक स्थान पर आ जाने से अग्निदत्त की बहन तारा दिवाकर को प्रेम करने लगी। अग्निदत्त और खंगार कुमारी मानवती में प्रेम था। मानवती का विवाह मंत्री गोपीचन्द के पुत्र राजधर से ठहरा। नाग ने समय पाकर हेमवती के सम्मुख अपना प्रेम-प्रस्ताव प्रस्तुत किया परन्तु अपने को जाति में ऊँचा समझने वाली राजकुमारी ने उसे ठुकरा दिया। जिस दिन मानवती का विवाह था उसी दिन रात्रि को अनिग्नदत्त अपनी बहन तारा का वेश बनाकर मानवती को भगाने के लिए उद्यत हुआ। दूसरी ओर नागदेव राजधर आदि को साथ ले हेमवती को उड़ा लेने के लिए तुल गये। दिवाकर की वीरता के कारण नाग को सफलता न मिल सकी। कुमारी को लेकर सहजेन्द्र और दिवाकर कुंडार से भाग निकले। दूसरी ओर नाग ने अग्निदत्त को पहचान लिया और अन्त में उसे कुंडार छोड़ना पड़ा। अग्निदत्त बुन्देलों से मिलकर बदला लेने को तैयार हुआ। बल और छल दोनों का प्रयोग किया गया। हुरमतसिंह के पास सूचना भेजी कि यदि वह सोहनपाल को सहायता का वचन दे दें तो वह अपनी पुत्री दे सकते हैं। विवाह का निश्चय हो गया और विवाह के दिन खंगार मदिरा-मद में झूम उठे। जब वह नशे में मस्त थे तो बुन्देले उन पर टूट पड़े। खंगारों की शक्ति का सर्वनाश

हो गया । मानवती की रक्षा करते हुए अग्निदत्त और पुण्यपाल मारे गये । सोहनपाल का मंत्री भी घायल हुआ । परन्तु कुंडार पर उनका राज्य स्थापित हो गया । दिवाकर जो कि इस छल-नीति का विरोधी था और बन्दीगृह में पड़ा था, तारा उसे जाकर मुक्त कर देती और दोनों मिलकर जंगल की तरफ चले जाते हैं । इस उपन्यास में हुरमतसिंह, नाग, सोहनपाल, धीर विष्णुदत्त, पुण्यपाल और सहजेन्द्र इत्यादि ऐतिहासिक नाम हैं । सोहनपाल का अपना भाई द्वारा राज्य से निकाला जाना, विवाह आदि के प्रस्ताव, खंगारों पर मदिरा के नशे में आक्रमण करना और विजय इत्यादि करना ऐतिहासिक घटनाएँ हैं । इस उपन्यास की इस प्रकार की सभी घटनाएँ ऐतिहासिक हैं परन्तु खंगार-वंश के विनाश के कारणों में मतभेद है । इस उपन्यास की प्रत्येक घटना को कल्पना का आश्रय देकर वर्मा जी ने सजीव और सुन्दर बनाया है । 'गढ़-कुंडार' का विषय युद्ध और प्रेम है । युद्ध का जितना भी विवरण उपन्यास में आया है वह अधिकांश इतिहास से सम्बन्धित है और रोमाँचकारी प्रसंगों को वर्मा जी ने अपनी कल्पना के आधार पर प्रस्तुत किया है । नाग और हेमवती का प्रेम, अग्निदत्त और मानवती का प्रेम और तारा का दिवाकर से प्रेम, इस प्रकार प्रेम की तीन धाराएँ वर्मा जी ने इस उपन्यास में प्रवाहित की है । नाग के प्रेम-स्वरूप बुन्देलों और खंगारों का युद्ध हुआ और खंगारों का सर्वनाश भी । एकपक्षीय प्रेम किस प्रकार बड़े-से-बड़े विनाश का कारण बन सकता है इसका यह ज्वलंत उदाहरण है । अग्निदत्त और मानवती का प्रेम दोनों पक्षों की ओर से होने पर भी मानवती के प्रेम में दुर्बलता है, दृढ़ता का अभाव है । अग्निदत्त प्रेम के उन्माद मे वेश बदलकर जाता है, अपमानित होता है, और मानवती मौन रह जाती है । यह साधारण लौकिक प्रेम है जिसमें आत्मसमर्पण की यथेष्ठ कमी दिखलाई देती है । अग्निदत्त ने तो विशुद्ध प्रेम की मर्यादा का भी उल्लंघन कर डाला है और प्रेम को दुबका-चोरी का सौदा बना लिया है । दिवाकर और तारा का प्रेम आदर्श प्रेम है और दोनों पात्रों का चरित्र भी बहुत उज्ज्वल है । प्रेम दोनों पक्षों में समान रूप से उत्पन्न हुआ, पनपा और पूर्ति को प्राप्त हुआ । कर्त्तव्य-निष्ठता दोनों ओर समान है और पवित्रता भी । **'गढ़कुंडार'** एक बड़ा उपन्यास है जिसमें कितनी ही घटनाओं का समावेश है, कुछ ऐतिहासिक और कुछ काल्पनिक । उपन्यास के प्रकरणों के नाम मुख्य पात्रों अथवा मुख्य घटनाओं के नाम पर दिये गये हैं । घटनाएँ जितनी भी इस उपन्यास में आई हैं वह सब सार्थक हैं और केवल उपन्यास का तूल बढ़ाने के लिए ही संगठित नहीं की गई हैं । घटनाओं का क्रम भी बहुत क्रमबद्ध और सुन्दर है । इस उपन्यास में बुन्देलखंड के वातावरण का यथातथ्य चित्रण लेखक ने किया है । वर्मा जी ने कुछ बुन्देलखंड शब्दों का भी प्रयोग इस उपन्यास में किया है, जो उन शब्दों का सही अर्थ जानने वालों के नेत्रों के सम्मुख एक चित्र उपस्थित कर देते हैं ।

यदि उपन्यास के अन्त में वर्मा जी उन शब्दों की कुछ व्याख्या दे डालते तो पाठकों का पर्याप्त हित होता। जैसे '**भरका**' और '**सूड़ा**' शब्दों को पढ़कर उनका सही अर्थ समझ लेना सभी पाठकों के लिए बहुत कठिन है। '**गढ़कुंडार**' में पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत सजीव है और '**वर्गीय पात्र**' तथा **व्यक्तिगत पात्र**' दोनों ही प्रकार के चरित्रों को लेखक ने इसमें बहुत कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। बुन्देला और खंगार जातियों के प्रतिनिधि पात्र अपनी-अपनी जाति के गर्व की सभी विशेषताओं को लेकर उपन्यास में आये हैं। जाति-गौरव के सम्मुख यह पात्र मर मिटना पसन्द करते हैं परन्तु आन को बट्टा लगाना पसन्द नहीं करते। बात की बात में रक्त बह निकलना और तलवारें खिच जाना इनके लिए खेल है, मजाक है। बुन्देलखंडी गौरव की रक्षा के लिए ही हेमवती अग्निदत्त का प्रेम-प्रस्ताव उस समय अस्वीकृत कर देती है जब कि वह और उसका समस्त परिवार, नाग का आश्रित है। इस प्रकार के वर्गीय पात्रों के प्रतीकस्वरूप हम सोहनपाल, पुण्यपाल, सहजेन्द्र, हेमवती इत्यादि को ले सकते हैं। खंगारों में हुरमतसिंह यह अनुभव करता है कि वह बुन्देलों से कुछ नीचा है, इसीलिए स्थान-स्थान पर क्षत्रिय होने का दावा करता है। यह भी वर्गीयता का ही प्रमाण और उसकी विशेषता है कि वह अपने अन्दर हलकापन अनुभव करता है। सोहनपाल, जबकि उसका आश्रित था, उस समय उसके घर पर आक्रमण करना, क्षत्रिय गुणों के विपरीत था। खंगारों का हलकापन इस कार्य से भी स्पष्ट हो जाता है। मानवती का प्रेम भी हलका है। खंगारों का मदिरा पीकर मस्त हो जाना और अपना सर्वनाश करा लेना भी उनके हलकेपन का ही द्योतक है। खंगारों में एक भी पात्र वर्मा जी को ऐसा नहीं जँचता जिसे कि वह पाठकों की सहानुभूति के योग्य बना डालते। व्यक्तिगत पात्रों में तारा और दिवाकर अपना विशेष स्थान रखते हैं और पुस्तक के अन्त में जाकर तो वह पाठकों के विशेष आकर्षण के पात्र बन जाते हैं। इन दोनों का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा और प्रबल है। उन पर किसी अन्य व्यक्ति के जीवन का प्रभाव नहीं पड़ता और वह अपना जीवन-मार्ग स्वयं निर्धारित करते हैं। तारा त्याग की मूर्ति है और वह जातीय बन्धनों से अपने को मुक्त करके दिवाकर को मुक्त कराती है। दिवाकर अपने पिता के विरुद्ध विचार रखकर कारावास की यातना सहन करना स्वीकार करता है परन्तु अपने सिद्धांत से नहीं गिरता। दिवाकर अपने आदर्श का पक्का व्यक्ति है, जिसके भावुक हृदय में तारा के लिए महान् श्रद्धा और अगाध प्रेम है। तारा और दिवाकर का प्रेम विशुद्ध सात्विक और त्यागपूर्ण है। हरिचन्देल, अर्जुन कुमार और इब्न-करीम के चरित्रों का भी सुन्दर विकास हुआ है। इस प्रकार उपन्यास के सभी पात्रों को लेखक ने पूर्ण विकास तक पहुँचाया है।

भारत के क्षत्रिय युग का खोखला मान-अपमान, अहंकार और गौरव-

गरिमा-प्रवंचना की भावना का साकार चित्रण वर्मा जी ने गढ़कुंडार में किया है। व्यर्थ के जातीय अभिमान और गौरव में फँसकर मानव का रक्तपात करना और तलवारें लेकर जूझना इस इतिहास की आत्मा है। नाग का हेमवती के रूप पर रीझना स्वाभाविक ही है और अपना प्रस्ताव ठुकराये जाने पर उसे भगा ले जाने की भावना उसके हृदय में पैदा होना, खल-वृत्ति है। वह हेमवती को चोरों की भाँति हरण करने का प्रयत्न करता है। वह स्वयं विजातीय कन्या से प्रेम कर सकता है, उसे भगाने की बात भी सोच सकता है, और उसका सक्रिय प्रयत्न भी कर सकता है, परन्तु अग्निदत्त और मानवती के प्रेम को सहन नहीं कर सकता। यह उसके चरित्र की सबसे बड़ी दुर्बलता है। नाग अग्निदत्त का अपमान कर डालता है और बाल-मित्रता का भी ध्यान नहीं रखता। यदि नाग हेमवती को प्रेम कर सकता है तो क्या कारण है कि अग्निदत्त मानवती को प्रेम न कर सके। इस प्रकार इस उपन्यास में संकीर्ण और व्यापक दोनों प्रकार की मनोवृत्तियों को सजीव रूप दिया गया है। अग्निदत्त के रूप में प्रतिहिंसा का जो स्वरूप वर्मा जी ने प्रस्तुत किया है वह बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक तथा यथार्थवादी है।

युद्धों का उपन्यास में अच्छा चित्रण है। दृश्य, संवाद और पात्रों की बनावट से विशुद्ध ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने में वर्मा जी पूर्णरूपेण सफल हैं। उपन्यास के अन्दर सभी चित्रण बहुत सतर्कता से किये गये हैं। यह उपन्यास वर्मा जी की हिन्दी-साहित्य को एक अमर देन है जिसने प्रथम होने पर भी स्थायी प्रभाव हिन्दी के पाठकों पर डाला है। प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य इस उपन्यास में मिलता है। इतिहास के साथ-साथ प्रेम के तीन सजीव स्वरूपों का जो चित्रण, वर्मा जी ने तीन धाराओं में प्रस्तुत किया है, वह बहुत आकर्षक है और पाठक के विशेष मनोरंजन का कारण बनता है। समस्त उपन्यास में न तो कहीं पर ऐतिहासिक तथ्यों से क्रम को ठेस लगने पाई है और न ही कठोर सत्य बनकर कहीं पर उपन्यास कोरा सूखा इतिहास मात्र बन गया है। कल्पना और सत्य को गलबहियाँ डालकर इस प्रकार नाटकीय ढंग से वर्मा जी ने चलाया है।

30-कबीर साहित्य का अध्ययन

संत कबीर का प्रादुर्भाव जिस काल में हुआ; उस समय देश के वातावरण में एक भारी उथल-पुथल थी। विभिन्न मत-मतान्तरों और धर्मों का प्रचार इधर-उधर उनके धर्मानुयायी कर रहे थे। मुसलमान अपना राज्य स्थापित कर चुके थे और हिन्दू तथा मुसलमान-धर्मों में प्रधान-रूप से संघर्ष चल रहा था।

धर्म-परिवर्तन के लिए बल का प्रयोग किया जा रहा था और एक धर्मावलम्बी दूसरा धर्म अपनाने के लिए विवश किये जा रहे थे।

प्रत्येक धर्म के दार्शनिक पक्ष में भिन्नता पाई जाती थी। सुन्नियों और सूफियों में भी परस्पर मनोमालिन्य कम नहीं था। हिन्दी कविता पर सूफी-सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ा और एक प्रेम-मार्गी धारा ही बह निकली। इस धारा के अंतर्गत आत्मा और परमात्मा का मिलन प्रेम द्वारा कराया गया है। महाकवि जायसी का पद्मावत् काव्य इस दिशा में महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

हिन्दू धर्म में भी सम्प्रदायों की कमी नहीं थी सभी के दर्शनों में कुछ-न-कुछ अन्तर और मतभेद पैदा हो गया था। शाक्त शक्ति की उपासना करते थे और उनका विश्वास पंच-मकार (मत्स्य, माँस, मदिरा, मैथुन, मुद्रा) में था। शैवों तथा वैष्णवों में भी पारस्परिक संघर्ष कम नहीं था। द्वैत और अद्वैत के पचड़े में लोगों को डाला जा रहा था। अद्वैतवादी 'जग-मिथ्या' कह-कहकर अपना प्रचार कर रहे थे। इनके अनुसार ब्रह्म और आत्मा में कोई भेद प्रकट हो रहा था वह मायाजन्य है। यदि मनुष्य ज्ञान के आलोक में देखे तो माया का जाल कट सकता है। ज्ञान द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का एकीकरण सम्भव है। इसी समय हठ योग के आधार पर गोरखपंथियों का भी मत भारत में प्रतिष्ठा पा चुका था और उसके अनुयायियों की भी कमी नहीं थी।

यह तो थी भारत के धार्मिक क्षेत्र की परिस्थिति। सामाजिक क्षेत्र की स्थिति भी संतोषजनक नहीं थी। हिन्दू-समाज में जाति-पाँति और छूत-छात की बुराइयाँ आ चुकी थीं। मूर्ति-पूजा का प्रचार बढ़ चला था और वास्तविकता से लोग पीछे भाग रहे थे। जनता में धार्मिक ठेकेदारों ने भाँति-भाँति के अंधविश्वास फैला रखे थे और यही दशा मुसलमान जनता की भी थी। हिन्दुओं की जाति-पाँति-व्यवस्था का उन पर भी प्रभाव कम नहीं हुआ और उनके भी आपस में कई दल बन गये।

ऐसी धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति में संत कबीर का जन्म हुआ। संत कबीर का साहित्य परिस्थितिजन्य है और उसमें समय की पूरी-पूरी छाप मिलती है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह वीरगाथा का भग्नावशेष था और एक नवीन युग का सूत्रपात्र हो रहा था। भाषा का रूप भी बदल चुका था और वह जनता की प्रचलित भाषा का रूप धारण करती जा रही थी। केवल राजस्थान तक ही उसकी सीमा न रहकर अधिक व्यापक क्षेत्र में उसका प्रचार बढ़ता जा रहा था।

संत कबीर ने अपने साहित्य द्वारा हिन्दी में एक नवीन धारा की आधार-शिला की स्थापना की जिसे साहित्यकारों ने बाद में जाकर भक्ति-काल नाम दिया। आपका साहित्य मुसलमानों तथा हिन्दुओं में सामंजस्य स्थापित करने के निमित लिखा गया और आपने एकेश्वरवाद पर जोर दिया। आपने

अपनी कविता में हिन्दू तथा मुसलमानों, दोनों पर ही, कसकर छींटे कसे हैं। आपने राम और रहीम में कोई अन्तर नहीं माना। इन नामों की विभिन्नता में फँसकर लोग अपना अहित कर रहे हैं, पारस्पारिक संघर्ष को बढ़ाकर जीवन की शान्ति को खो रहे हैं, यह उनके लिए खेद का विषय था। आप तो विभिन्न धर्मों को परमात्मा की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग मानते थे। आपने ईश्वर को सगुण और निर्गुण से परे मानकर दोनों विचारधाराओं के पारस्परिक मतभेद को मिटाने का प्रयत्न किया —

सरगुन निरगुन ते परे तहां हमारा ध्यान

आपने अपने साहित्य में, हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों में फैली हुई सामाजिक कुरीतियों की कटु आलोचना की है। दोनों ही धर्मों के अंधविश्वासों का आपने खंडन किया है। मूर्ति-पूजा तथा जाति-पाँति के भेद-भावों के विपरीत आपने जी खोलकर लिखा है।

दुनिया कैसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जाका पीसा खाय।।

आप देवी-देवताओं, पीर-पैगम्बरों, मठ और माताओं इत्यादि पर नाक रगड़ने को मूर्खता मानते थे। तिलक, माला, चंदन इत्यादि में आपने ढोंग ही पाया। आपने अन्तःकरण की शुद्धि पर बल दिया है। स्पष्ट शब्दों में आपने भक्तों को समझाया कि आप लोग—'कर का मनका छाँड़िकै मन का मनका फेर'। दिखावों की बातों में फँसना और उनके द्वारा जनता का अहित करना कबीरदास जी का सिद्धांत नहीं था। आपने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के धर्मों में फैली हुई भ्रांतियों तथा कुप्रथाओं का खंडन किया और सद्भावना के साथ जन-हित की भावना को साथ लेकर विभिन्न भ्रांतियों को दूर करने का प्रयत्न किया।

कबीर का दर्शन हमें उनके रहस्यवाद की भावना में मिलता है। रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा की अंतर्हित प्रवृत्ति शांति और निश्छल रूप से अपना सम्बन्ध परमपिता परमात्मा से स्थापित कर लेती है और इस प्रकार दोनों में कोई भेद-भाव नहीं रहता। आत्मा शुद्ध होकर इस स्थिति में इतनी पवित्र हो जाती है कि उसे अपने में और राम में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता। इसी स्थिति में कबीरदास जी कहते हैं—

ना मैं बकरी, ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरो गंडास में।
ढूँढना होय तो ढूँढले बन्दे, मेरी कुटी मवास में।।

आपके रहस्यवाद में अद्वैतवाद और सूफ़ी प्रेमवाद का सम्मिश्रण मिलता है। अद्वैतवादी होने के नाते आपने माया को माना है और माया के बीच से हटाने पर आपने आत्मा और परमात्मा का मेल सम्भव गिना है। माया से आत्मा की मुक्ति केवल ज्ञान के आश्रय से हो सकती है। कबीर के साहित्य

पर यह सूफी-धर्म का प्रभाव है कि उन्होंने परमात्मा को स्त्री-स्वरूप में और आत्मा को पुरुष-स्वरूप में देखा है।

अद्वैतवाद और सूफीमत के अतिरिक्त आपका साहित्य हठयोग की भी विभिन्न प्रकार की उक्तियों से भरपूर है। कबीरदास जी स्वयं हठयोगी थे या नहीं इसके विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि उनका ज्ञान हठयोग के विषय में कुछ कम नहीं था। उन की कविता में 'हठयोग' की क्रियाओं का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। हठयोग के अनुसार नाड़ी, तत्व और गुणों को आधार मानकर आपने कई रूपक प्रस्तुत किये हैं। निम्नलिखित रूपक में शरीर का चादर में मिलान किया गया है—

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
काहे का ताना काहे की भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इगला, पिंगला, ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया।
अष्ट कमल दल चरखा डोलै, पाँच तत्व गुन बीनी चदरिया,
साँई को बुनत मास दस लागै, ठीक-ठीक के बीनी चदरिया।

इस प्रकार आपका साहित्य धर्म, अध्यात्म, दर्शन और समाज के क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखता है। विचारधारा के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी आपकी कविता कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आपकी भाषा प्रधानतया पूर्वी ही है परन्तु उसमें अवधी, खड़ी, ब्रज, बिहारी, पंजाबी और राजस्थानी की यहाँ-वहाँ पुट मिलती है। जहाँ तक छन्दों का सम्बन्ध है वहाँ तक पिंगल के नियमों का पालन नहीं दिखलाई देता। आपके छन्दों में विभिन्न प्रकार के दोष दिखलाई देते हैं। मात्राओं की कमी या आधिक्य और यति-भंग इत्यादि दोष से मुक्त तो शायद ही कोई छन्द हो। इनके अतिरिक्त आपकी भाषा भी सुसंस्कृत और परिमार्जित नहीं है, परन्तु इन दोषों के रहने पर भी आपके साहित्य में सरस-रस की धारा प्रवाहित होती है, और हृदय की भावना का प्रवाह बहुत ही मार्मिक ढंग से हुआ है। आत्मा के संयोग और वियोग-पक्ष को लेकर कवि ने संयोग तथा विप्रलम्भ का सुन्दर निर्वाह किया है। कहीं-कहीं पर भक्त की सूर से उपमा देकर वीर-रस भी प्रवाहित किया गया है। अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग कबीरदास की कविता में मिलता है।

इस प्रकार कबीरदास के साहित्य को हम हर दृष्टि से सफल और महत्त्वपूर्ण समझते हैं। यह समय की आवश्यकता का साहित्य था जिसमें कवि ने अपने ज्ञान और सरसता का वह श्रोत प्रवाहित किया है कि जिसने भारतीय जनता के जीवन में सामंजस्य, सुख, शान्ति और सरसता का संचार करने का भरसक प्रयत्न किया है। आपकी कविता में भक्ति-काव्य की दृष्टि से हार्दिक विदग्धता किसी प्रकार सूर तथा तुलसी-साहित्य से कम नहीं है।

31-तुलसी साहित्य की सर्वांगीणता

प्राचीन काल में जब गद्य का उदय नहीं हुआ था तो कविता का नाम ही साहित्य था। हिन्दी-साहित्य के प्राचीन इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि साहित्य का अर्थ था 'कविता' जिसे समय-समय पर 'डिंगल', 'अवधी' और 'ब्रजभाषा' में विविध शैलियों के अन्तर्गत लिखा गया। साहित्य के विषय भी इने-गिने थे। वीरगाथाएँ, भक्तिकाल में निर्गुण-भक्ति, सूफी प्रेम-साधना, राम-कृष्ण-भक्ति और रीति-काल में शृंगार। साहित्य में न नाटक लिखे जाते थे और न कहानी और उपन्यास; न निबन्ध लिखे जाते थे और न 'जीवनियाँ' या और अन्य किसी विषय का साहित्य ही। इसलिए इस काल के कवि की सर्वांगीणता देखने के लिए हम उसकी कविता के सीमित क्षेत्र पर विचार करेंगे। 'प्रसाद' के काल की सर्वांगीणता पर नहीं।

गोस्वामी तुलसीदास का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य में सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। तुलसीदास ने राम-भक्ति का विषय लेकर अपनी साहित्य-लहरी को प्रवाहित किया। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है उस काल में 'अवधी' तथा 'ब्रज' यही दो भाषाएँ हिन्दी की साहित्यिक भाषाएँ थीं। कविवर तुलसी दास का दोनों ही भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों ही भाषाओं को गोस्वामी तुलसीदास ने परिमार्जित और सुसंस्कृत रूप दिया। "हिन्दी-काव्य का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले-पहल दिखाई दिया।" सधुक्कड़ी भाषा में साहित्य का सृजन न करके तुलसीदास जी ने भाषा का संस्कार किया और भाषा को उच्च कोटि के साहित्य के योग्य बनाया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने काल की प्रायः सभी प्रचलित शैलियों का अपने साहित्य में पूर्ण सफलता के साथ प्रयोग किया है। आपकी रचनाओं में जहाँ तक सौन्दर्य, निपुणता और काव्यात्मकता का सम्बन्ध है वह शैली-निर्माताओं से भी अधिक पाया जाता है। उस समय की प्रचलित काव्य-शैलियाँ थीं—(1) वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति, (2) विद्यापति और सूर की गीति-पद्धति, (3) गंग इत्यादि भाटों की कवित-सवैया-पद्धति, (4) कबीरदास की नीति सम्बन्धी दोहा-पद्धति और (5) जायसी इत्यादि की दोहा-चौपाई-पद्धति। इस प्रकार उस काल की यह पाँच प्रचलित शैलियाँ थीं, जिनमें कवि अपनी कविताएँ लिखकर साहित्य के भंडार को भर रहे थे। "तुलसीदास जी के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अपनी सर्वमुखी प्रतिभा के बल से सब के सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्यवाणी में दिखाकर साहित्यिक क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिन्दी-कविता के प्रेमी जानते हैं कि उनका ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। ब्रजभाषा का जो माधुर्य हम सूर-सागर में पाते हैं वही माधुर्य और भी सुसंस्कृत रूप में हम गीतावली

और कृष्ण गीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी का जो मिठास हमें जायसी की 'पद्मावत' में मिलता है वही जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, बरवै-रामायण और रामलला-नहछू में मिलता है। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था ओर न जायसी का व्रजभाषा पर।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

इस प्रकार हमने देखा कि तुलसीदास जी की सर्वांगीणता इस ऊपर दिये गये आधार से सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। अभी तक हमने शैली और भाषा पर ही विचार किया है। जहाँ तक शैली और भाषा का सम्बन्ध है हम तुलसीदास जी को समस्त प्रगतियों में पूर्ण सफलता के साथ साहित्य का सुन्दर और सुसंस्कृत रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए पाते हैं। ब्रज और अवधी दोनों में रचना करने पर भी कभी भाषाओं में खिचड़ी हो जाने का दोष साहित्य में नहीं आ पाया है। साहित्यिक निर्मलता के साथ-साथ भाषा भी अत्यन्त निर्मल है।

साहित्य के सब अंगों का समान अधिकारी; महाकवि तुलसीदास, जीवन के सब अंगों से भी पूर्णतया परिचित था। जीवन के सभी पहलुओं पर कवि ने सुन्दर रूप से प्रकाश डाला है। बाल-काल, यौवन और वृद्धावस्था का चित्रण हमें मानस में मिलता है। बालकांड में बाल-काल, अयोध्याकांड में दशरथ की वृद्धावस्था की दशा और यौवन का तो चित्रण आद्योपांत मिलता है। जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डालने के साथ-साथ जीवन की विविध परिस्थितियों को भी कवि ने अपनी तूलिका द्वारा रंगा है। खेल, विवाह, वन-गमन, मिलन, बिछोह, आनन्द, कष्ट सभी भावनाओं का चित्रण कवि ने किया है। काव्य-शास्त्रों के प्रायः सभी गुण हमें तुलसीदास जी के साहित्य में मिलते हैं। नव-रसों पर आपने सुन्दर रचनाएँ की हैं। आपने अनेकों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग अपनी रचना में किया।

हमने देखा कि भाषा, शैली और साहित्यिक दृष्टिकोण से महाकवि तुलसी दास का साहित्य सभी दिशाओं में पूर्णता की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। अब साहित्य के विषय पर और विचार करना है। उस काल में साहित्य का विषय प्रधानतया भक्ति रहा है। भक्ति-क्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम भक्ति को अपनाया, परन्तु राम-भक्ति के साथ आपने सहिष्णुता से काम लिया और कृष्ण, शिव इत्यादि सभी के प्रति आदर प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भारत के प्रचलित सभी धर्मों में आपने साहित्य द्वारा सम्मिलन की भावना को प्रचारित किया, जिससे भारत का जो हित हुआ उसे यहाँ नहीं लिखा जा सकता। तुलसीदास के साहित्य ने भक्ति-क्षेत्र में जो कार्य किया वह जनसाधारण के दृष्टिकोण से वेद-शास्त्रों द्वारा किया भी प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार हमने पूर्ण-रूप से परखकर देख लिया कि भाषा, शैली, काव्यात्मकता और विषय के आधार से तुलसीदास जी के साहित्य में पूर्ण-रूपेण सर्वांगीणता पाई जाती है।

32-सूर और उनका साहित्य

"सूर सूर तुलसी ससी उड्गन केशवदास" यह पंक्ति हिन्दी पढ़ी-लिखी जनता में बहुत प्रचलित है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर पर गोस्वामी तुलसीदास को प्रधानता दी है, परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि यह दोनों ही कवि हिन्दी-साहित्य के प्राण हैं। सूरदास जी श्री वल्लभाचार्य के शिष्य, पुष्टि-मार्गी वैष्णव भक्त थे। आपने अपने समस्त साहित्य में कृष्ण-लीलाओं का ही गान किया है। सूर-सागर, साहित्य-लहरी और सूर-सारावली सूरदास जी के यही तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। साहित्य-लहरी सूरदास जी के कूट पदों का संग्रह है, जो सूर-सागर में यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। सूरदास का हिन्दी-साहित्य में सूर्य अथवा चन्द्रमा होना सूर-सागर पर ही आधारित है।

सूर-सागर की कथा श्रीमद्भागवत के अनुसार स्कन्धों में विभाजित है। पहले नौ और अन्तिम दो स्कन्ध भागवत से बिलकुल मिलते हैं। भागवत की सभी कथाओं का गान सूर-सागर में नहीं मिलता। कुछ कथाओं में कवि ने परिवर्त्तन भी कर दिया है। सूर-सागर के दशम् स्कन्ध में श्रमद्भागवत की छाप अवश्य है, पर उसमें मौलिकता भी बहुत पाई जाती है। इस स्कन्ध में छन्दोबद्ध कथा के बीच-बीच में पद पाये जाते हैं। सम्भवतः पहिले कथा लिखी गई है और फिर स्थानानुकूल फुटकर पदों को कवि ने इस बृहद् ग्रन्थ में रख दिया है। यही कारण है कि इन पदों में अनेकों कथाओं की पुनरुक्ति मिलती है। सूर-सागर के इस स्कन्ध में खंडित, फाग और मान इत्यादि के जो पद मिलते हैं उनका वर्णन श्रीमद्भागवत में नहीं मिलता। वह पद कवि ने स्वतन्त्र रूप से लिखकर बाद में सूर-सागर में रखे हैं।

सूर-सागर के दशम् स्कन्ध को सूर-साहित्य का दर्पण मानना चाहिए। सूर की बाल-लीलाओं में कालिय-दमन और इन्द्र-गर्व-हरण के चित्रणों में भी कवि की उत्तमतम प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इन चित्रणों में कवि ने भागवत् की कथाओं का तथा कुछ नवीन कथाओं का बहुत मौलिक ढंग से चित्रण किया है। इन चित्रणों में मानवीय भावनाओं का अलौकिक चित्रणों के साथ समावेश हुआ है।

सूर ने कृष्ण के बाल-लीला के जो लौकिक चित्र अंकित किये हैं, वह हिन्दी-साहित्य ही नहीं वरन् बाल-विज्ञान के पण्डितों का मत है कि अन्य साहित्यों में भी उनकी समानता नहीं मिलती। कृष्ण की बाल-लीला और नन्द-यशोदा का वात्सल्य सूर की अमर निधियाँ हैं। उन्हें कवि ने अमूल्य रत्नों की भाँति सूर-सागर में सजाकर रखा हुआहै। "गोस्वामी जी ने भी गीतावली में बाल-लीला को सूर की देखा-देखी बहुत अधिक विस्तार से दिया सही। पर उसमें बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-दर्शन

की प्रचुरता रही ।" —रामचन्द्र शुक्ल

बाल-चित्रण के कुछ नमूने देखिये—

1. सोभित कर नवनीत लिये ।
घुटरुन चलत, रेनु तन मण्डित, मुख दधि लेप किये ।
2. सिखवत चलत यशोदा मैया ।
अरबराय कर पानि गहावति, डगमगाय धरे पैया ।

'स्पर्धा' का देखिये कितना सुन्दर भाव है ?

3. मैया कबहि बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ।।
तू तो कहती 'बल' की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ।

सूर-साहित्य में जहाँ वात्सल्य का इतना सुन्दर चित्रण है वहाँ श्रृंङ्गार के भी दोनों पक्षों को खूब निभाया है । जब तक श्रीकृष्ण गोकुल में रहे उस समय तक उनका चित्रण श्रृंङ्गार के संयोग-पक्ष के अन्तर्गत आता है । बाल-लीला, माखन-लीला, रास-लीला इत्यादि पर अनेकों संयोग-पक्ष के पद कवि ने लिखे हैं । किशोर कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ भागवत् से सूर ने ली हैं, परन्तु चीर-हरण इत्यादि लीलाओं में मौलिकता का अभाव नहीं है । राधा की कथा सूर की अपनी उपज है । राधा-कृष्ण के मिलन और विछोह की कथा में कवि ने श्रृंङ्गार का सुन्दरतम्-चित्रण किया है । भाव और विभाव दोनों पक्षों पर बहुत अनूठे और विस्तृत चित्रण सूर-सागर में मिलते हैं । राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन के अनेकों ऐसे पद सूर-सागर में आये हैं जिनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है । नेत्रों के प्रति उपालम्भ का एक चित्र देखिये—

मेरे नैना विरह की बेल बई ।
सींचत नैन-नीर के सजनी ! मूल पतार गई ।।
बिगसति लता सुभाय-आपने छाया सघन भई ।
अब कैसे निसवारों सजनी, सब तन पसरि छई ।।

× × ×

देख री ! हरि के चंचल नैन ।
खंजन, मीन, मृगज, चपलाई, नहिं पठतर एक सैन ।।
राजिवदल इन्दीवर, शतदल कमल, कुशेशय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहि वै विगसत, ये विगसे दितराति ।

कालिंदी-कूल पर रास का इतना मनोहर चित्रण कवि ने किया है कि उसे देखने के लिए देवता पृथ्वी पर उतर आये हैं । कृष्ण के मथुरा चले जाने पर तो गोपियों के विरह-सागर का वार-पर ही नहीं रहता । वियोग में वियोगिनी की जितनी प्रकार की दशा हो सकती है सभी का चित्रण कवि ने किया है । गोपियाँ कृष्ण को याद करती हुई वृन्दावन के हरे-भरे वनों को कोसती हैं—

मधुबन तुम कत रहत हरे ?
बिरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे ?

वियोग-वर्णन में चन्द्रोपालम्भ का सुन्दर चित्रण मिलता है। इन चित्रणों में सूर ने नवीन प्रसंगों की जो उद्भावना की है वह सूर की विशेषता है। कृष्ण-भक्ति-धारा में बाह्यार्थ-विधान की प्रधानता रहने के कारण केलि, विलास, रास, छेड़-छाड़, मिलन-बिछोह, मान इत्यादि बाहरी बातों का ही चित्रण सूर-सागर में विशेष रूप से मिलता है। वियोग वर्णन में संचारियों का समावेश परम्परागत है, उनमें नवीन उपमाओं का अभाव है। अभ्यान्तर पक्ष का उद्घाटन सूर के भ्रमर-गीत में मिलता है। प्रेम-विह्वल गोपियों के हृदयों की न जाने कितनी भावनाओं का अनूठा चित्रण कवि ने भ्रमर-गीत में किया है ? भाव-नाओं का तो यहाँ समुद्र ही उँड़ेल दिया है। यह सूर-सागर का सबसे मर्मस्पर्शी भाग है। वाग्वैदग्धता भी इसमें पराकाष्ठा को पहुँच गई है। ऊद्धव गोपियों को ब्रह्म-ज्ञान का उपदेश करते है तो वह कहती हैं—

निर्गुय कौन स को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै, बूझति साँचि, न हाँसी।

इस प्रकार सूर ने भ्रमर-गीत में निर्गुण-उपासना का उपहास किया है और सगुणोपसना का प्रतिपादन। यह सगुण और निर्गुण के संवाद कवि के मौलिक हैं, श्रीमद्भगवत् में नहीं मिलते। सूर की कविता का जो मौलिक अंश है वह कवि की अलौकिक प्रतिभा का द्योतक है और शेष छन्दोबद्ध कथा में वह सौंदर्य नहीं आ पाया जो मुक्तक पदों में है। सूर की कविता में बहिर्पक्ष प्रधान रहते हुए भी अन्तरंग भावनाओं की कमी नहीं है और उनमें शृंङ्गार के साथ भक्ति की ही महानता मिलती है। विद्यापति इत्यादि की भाँति रीति की नहीं। यह सूर की प्रधानता है। नायिका-भेद, परकीया, अभिसार, इत्यादि विषयों पर सूर ने लेखनी नहीं उठाई। खंडिता का विचार करते समय भी कवि ने आध्यात्मिक पक्ष को ही प्रधानता दी है। कवि ने काव्य-शास्त्र का प्रयोग भक्ति की पुष्टि के लिए किया है, उसे विषय मानकर नहीं। सूर के शृंगार मे आध्यात्मिक पक्ष प्रधान होने के कारण सूर की गोपियों के चरित्र उतने विकसित नहीं हो पाये जितने ऐसे प्रतिभाशाली कवि द्वारा होने चाहिए थे। राधा के प्रति उनमें ईर्ष्या होने के स्थान पर उल्टी वह राधा की सुन्दर छवि पर मोहित हो जाती हैं।

सूर-सागर में अलग से रखे हुए पद प्रतीत होने पर भी प्रबन्धात्मकता मिलती है। गीतात्मकता और प्रबन्धात्मकता का सुन्दर सम्मिश्रण हमें सूर-सागर में मिलता है। सूर-सागर में क्रमबद्धता की कमी नहीं है। क्रम पर कवि ने ध्यान दिया है। फुटकर पद बिलकुल पृथक् हैं।

अन्त में हम यही कहेंगे कि सूर जैसा वात्सल्य और शृंगार का कवि, जिसने पूर्ण भक्ति-भावनाओं से ओत-प्रोत होकर अपना साहित्य-सृजन किया हो, कोई

अन्य कवि नहीं हुआ । सूर के साहित्य पर हिन्दी को अभिमान है और वात्सल्य-चित्रण में सूर-सागर के स्वाभाविक पद उच्चतम साहित्य की श्रेणी में रखे जा सकते हैं ।

भारतेन्दु और उसके नाटक-33

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का जन्मदाता हम भारतेन्दु बाबू हरिशचन्द्र को मानते हैं । भारतेन्दु जी ने प्रथम हिन्दी गद्य और पद्य की भाषा का परिमार्जन किया, दूसरे नवीन विचारधारा का वह साहित्य हिन्दी को प्रदान किया जो रीति-कालीन प्रवृत्तियों से आच्छादित नहीं था, तीसरे पद्य के साथ-ही-साथ गद्य में रोचकता पैदा करके हिन्दी पाठकों तथा लेखकों का ध्यान इसकी ओर आकर्षित किया, चौथे आपने नाटकों की मौलिक रचना की तथा अनुवाद करके हिन्दी में रंगमंच के आने की सम्भावना को प्रस्तुत किया ओर पाँचवें आपने अपने साहित्य द्वारा देश-सेवा और समाज-सुधार का सन्देश जनता को दिया । अनेक नवीन दृष्टिकोण आपने साहित्य में उपस्थित किये ।

इस प्रकार हमने देखा कि यह युग क्रान्ति का युग है । भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के साहित्य ने हिन्दी-साहित्य में क्रान्ति का संचार किया और एक बार विचारधारा के दृष्टिकोण को ही बदल दिया । कवियों को कविता करने के लिए नवीन विषय प्रदान किये और गद्य-लेखकों को गद्य लिखने और नाटक लिखने का मार्ग दिखलाया । मुंशी सदासुखलाल, इन्शाअल्लाखाँ, सदलमिश्र और लल्लूलाल अपनी-अपनी शैली को लेकर आये परन्तु कोई मार्ग निर्धारित नहीं कर सके, इनके पचास वर्ष पश्चात् राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद ने दो स्वतन्त्रशैलियों को जन्म दिया । राजा शिवप्रसाद की भाषा उर्दू और फ़ारसी मिश्रित थी और राजा लक्ष्मणसिंह की संस्कृत-मिश्रित ठेठ हिन्दी । संवत् 1930 में इन धाराओं का मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करके साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने एक सुसंचालित मार्ग प्रस्तुत किया और अन्य लेखकों के मार्ग-प्रदर्शन की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया । आपने भाषा में से प्रान्तीय शब्दों को निकालकर एक ऐसा रूप प्रस्तुत किया जिसका क्षेत्र बहुत व्यापक हुआ । वाक्यों का भी पृथक्-पृथक् करना आपने प्रारम्भ किया । एक में एक गूँथते जाने की प्राचीन प्रथा को आपने तिलांजलि दे दी । भारतेन्दु जी ने जहाँ गद्य के लिए खड़ीबोली को अपनाया वहाँ पद्य के क्षेत्र में उन्हें ब्रज-भाषा ही मान्य रही । इन्होंने ब्रज-भाषा के प्रयोग में 'बिहारी', 'घनानन्द' इत्यादि की भाँति शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं । आपने गद्य और पद्य दोनों में ही सरल-सुबोध-भाषा शैली को जन्म दिया । भाषा के सभी रूपों में एक ऐसा सामंजस्य स्थापित

किया कि जिससे भाषा मँजकर एक व्यवस्थित रूप में आ गई। भाषा को सरल रखने की ओर उनका सर्वदा ध्यान रहता था। इस प्रकार हमने देखा कि भारतेन्दु बाबू ने हिन्दी को एक नवीन मार्ग दिखलाया और नयी शैली, नयी भाषा और नये विषयों के साथ वह शिक्षित जनता के सामने आये।

भारतेन्दु जी की मृत्यु 35 वर्ष की अवस्था में हो गई थी। इसी छोटे से जीवन-काल में आपने हिन्दी-साहित्य को अमूल्य निधियाँ प्रदान कीं। गद्य का सर्वप्रथम प्रचुरता के साथ प्रयोग आपने अपने नाटकों में किया। अपनी 'नाटक' नाम की पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि हिन्दी में आपके नाटकों से पहले केवल दो ही नाटक उपलब्ध थे, विश्वनाथसिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन नाटक' और गोपालचन्दजी का, 'नहुष-नाटक'। वह दोनों ब्रजभाषा में थे। भारतेन्दु जी ने 18 नाटक लिखे हैं। इस संख्या के अन्तर्गत मौलिक और अनुदित सभी नाटक आ जाते हैं। यह सब निम्नलिखित हैं—

मौलिक—

वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, चन्द्रावली, विषस्य विषमौषधम्, भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर-नगरी, प्रेम-जोगिनी और सती-प्रताप (अधूरा)।

अनुदित—

विद्यासुन्दर, पाखंड-बिडम्बना, धनंजय-विजय, कर्पूर-मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चंद्र और भारत-जननी।

भारतुन्दे जी ने जीवन के कई क्षेत्रों से सामग्री लेकर इन नाटकों का सृजन किया है। 'चन्द्रावली' में प्रेम-तत्व की प्रधानता है तो 'नील-देवी' में एक ऐतिहासिक वृत्त लिखा है। 'भारत-दुर्दशा' में देश की दशा का चित्रण है तो विषस्य विषमौषधम' में रजवाड़ों के कुचक्रों का प्रदर्शन किया गया है। 'प्रेम-जोगिनी' में धर्म और समाज के पाखण्ड का खाका खींचा है। इस प्रकार समाज, धर्म, प्रेम राजनीति और इतिहास सभी दिशाओं की ओर नाटककार का ध्यान बहुत व्यापकता के साथ गया है।

भारतेन्दु जी ने शैली के क्षेत्र में मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण किया है। उन पर बँगला का भी प्रभाव पड़ा और संस्कृत का भी। इसलिए न तो उन्होंने प्राचीन रूढ़ियों में बाँधकर अपने नाटकों को संकुचित ही बनाया और न ही नवीन में फँसकर प्राचीन रूढ़ियों से अपने नाटकों को सर्वथा मुक्त ही कर दिया। बँगला के नाटक अंग्रेजी के प्रभाव से प्राचीनता को एकदम तिलांजलि दे चुके थे। उस प्रणाली को भारतेन्दु बाबू दे पसन्द नहीं किया।

भारतेन्दु जी के नाटकों को रंगमंच पर स्थान मिला और उनका प्रचार भी हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में उनका विशेष मान रहा। हिन्दी-साहित्य में आपने एक नवीन धारा का संचार किया और अन्य दिशाओं के साथ-साथ नाटक-साहित्य का विशेष प्रचार आपके द्वारा हुआ। भारतेन्दु बाबू को हम हिन्दी का

प्रथम सफल नाटककार कह सकते हैं। आपने पश्चिम और पूर्व के भावों का सामंजस्य करके एक नवीन प्रगति हिन्दी-साहित्य को प्रदान की। भारतेन्दु-युग का नाट्य-साहित्य निम्नलिखित विशेषताएँ लेकर हिन्दी-साहित्य में अवतीर्ण हुआ।

(1) प्राचीन प्रणालियाँ धीरे-धीरे परिवर्तित होती चली जा रही थी। नाटकों के पात्र देवताओं के स्थान पर इसी संसार के मनुष्य बनने लगे थे।

(2) नाटकों में दैवी-चमत्कार प्रदर्शित करने की अपेक्षा वास्तविक सत्य का स्पष्टीकरण करना लेखक अपना कर्त्तव्य समझने लगे थे। 'भारत-दुर्दशा' इसका ज्वलंत उदाहरण है।

(3) नाट्यशास्त्र के नियम भी धीरे-धीरे ढीले पड़ते जा रहे थे। स्वच्छन्द रूप से स्पष्टीकरण करना लेखक अपना कर्त्तव्य समझते थे।

(4) नाटक रंगमंच के विचार से लिखे जाने लगे थे, न कि केवल पाठ्य-साहित्य की ही पूर्ति के लिए।

(5) नाटकों में पद्य की अपेक्षा गद्य को प्रधानता दी जाने लगी थी। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अनुवादों का इस गद्य-लेखन की प्रणाली पर विशेष प्रभाव पड़ा।

(6) नाटकों के कथनोपकथनों में स्वाभाविकता आने लगी थी। लेखकों ने स्वाभाविकता का विशेष रूप से सम्मान करना प्रारम्भ कर दिया था।

(7) सामाजिक चित्रणों की ओर भी लेखकों का ध्यान गया और वह मानव जीवन के अधिक निकट पहुँचने लगे।

(8) राष्ट्रीय विचारावली ने भी नाटकों में स्थान पाया। रंगमंच पर नाटकों के आने से भाषा का अच्छा प्रचार हुआ।

(9) समस्यात्मक नाटकों का भी श्रीगणेश इस द्वितीय युग में मिलता है।

प्रसाद और उनके नाटक-34

प्राचीन प्रचलित सब प्रणालियों के बंधनों को नवीनता के विस्फोट से एक-दम उड़ाते हुए बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी नाटकीय क्षेत्र में आये। प्राचीनता को नष्ट करने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति का अपने नाटकों में ध्यान नहीं रखा। जहाँ तक प्राचीनता का यह अर्थ लिया जाता है वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि भारतीय प्राचीन संस्कृति का प्रतिपादन और अपने साहित्य में समावेश जितना बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने किया है उतना इस युग के किसी अन्य लेखक ने नहीं किया। जयशंकर 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों के कथानक विशेष रूप से भारत के प्राचीन इतिहास से ही

लिए हैं। जो काल्पनिक भी हैं। उनमें भी प्राचीन भारत की झलक स्पष्ट दिखलाई देती है, पर जहाँ तक नाट्य-शास्त्र के नियमों का सम्बन्ध है आपने उन्हें एकदम ढीला कर दिया। ऐसा करने से आप नवीन युग के प्रवृत्तक कहलाये।

'अजात-शत्रु,' 'स्कन्दगुप्त,' 'कामना', 'चन्द्रगुप्त' इत्यादि आपके विशेष नाटक हैं। इन नाटकों में आपने बुद्धकालीन संस्कृति का चित्रण किया है। लेखक को इसमें बहुत सफलता मिली है।

जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों का महत्त्व केवल साहित्य के ही क्षेत्र में विशेष निखरे हुए ढंग से अनुमानित किया जा सकता है। रंगमंच के विचार से आपके नाटक अधिक सफल नहीं हो सके। पात्रों का आपने बहुत मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। अंतर्द्वन्द्वों का समावेश आपके चित्रण में खूब मिलता है। आपके नाटकों की भाषा बहुत क्लिष्ट है। आपने भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है।

जयशंकर 'प्रसाद' पर जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है, बंगला और अंग्रेजी साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा। आपने पूर्वी ढाँचे में भारतीय संस्कृति को इतने सुन्दर रूप से ढाला है कि वह हिन्दी-साहित्य के लिए एक देन बन गया है। भारतीय नाट्य-शास्त्र के नियमों के बन्धनों से अपने को मुक्त करते हुए आप आगे बढ़े और अपनी एक नवीन शैली का हिन्दी में आविष्कार किया। इस शैली को बाद में आने वाले सभी नाटककारों ने अपनाया है। यह परिवर्तन का युग अंग्रेजी साहित्य में भी आया था परन्तु भारत के पराधीन होने के कारण यह लहर भारत में बहुत पीछे आ सकी। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों का क्रम नवीन रखा। पद्य का स्थान गद्य ने सफलता से अपना लिया। वार्त्तालाप कविता में न चलकर गद्य में चलने लगे और नाटकों का संगीत से सम्बन्ध विच्छेद न हो इस लिए नाटकों में गीतों का आविष्कार हुआ। नाटकों के लिए बाबू जयशंकर 'प्रसाद' ने गीत लिखे, परन्तु दुर्भाग्यवश उन गीतों का प्रसार जनता तक न हो सका। यहाँ यह समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा कि इस युग में साहित्य और समाज दो पृथक् वस्तु बन चुके थे। भारत की पराधीनता इसका प्रधान कारण थी। यदि उस काल में भी आज स्वतन्त्र जीवन की भाँति रेडियो पर जयशंकर 'प्रसाद' के गीत गाये गए होते तो कोई कारण नहीं था कि जयशंकर 'प्रसाद' का साहित्य जनता का साहित्य न हो जाता। परन्तु पराधीनता के कारण साहित्य और समाज दूर-दूर रहते रहे।

जयशंकर 'प्रसाद' को समाज नहीं समझ पाया और न ही अपना पाया, परन्तु साहित्यिक जनों ने उन्हें अपनाया, सिर-आँखों पर रखा और हिन्दी-साहित्य की उस अमर निधि को सुन्दरता से मान-पूर्वक सजाकर उसकी पूजा की।

बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी ने अपने नाट्य-साहित्य द्वारा हिन्दी-नाटककारों

के सम्मुख एक मार्ग रखा और उस पर चलने वाले अनेकों नाटककार आज हिन्दी साहित्य की सेवा कर रहे हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटकों ने जिस धारा को जन्म दिया उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

(1) नाट्य-शास्त्र के नियमों में से सम्भवत: एक आध ही बाकी रह गया होगा। उनका क्रम नवीन है। अंक और दृश्य के स्थानों पर केवल नम्बर डाल कर ही काम चला लिया गया है।

(2) सिनेमा के अविर्भाव के कारण आज यह भी आवश्यक नहीं समझा जाता कि केवल उन्हीं घटनाओं को अपने नाटकों में रखें कि जो रंगमंच पर दिखलाई जा सकें।

(3) पद्य के नाम पर केवल कुछ गीत मात्र नाटकों में बाकी रह गये हैं। समस्त नाटक गद्य में ही लिखे जाते हैं।

(4) कथोपकथनों में पूर्ण स्वाभाविकता पाई जाती है।

(5) मध्यवर्ग की समस्याओं को लेकर विशेष रूप से नाटकों की कथाएँ रखी जाती हैं। इसी वर्ग के पात्रों का चित्रण विविध परिस्थितियों में मिलता है।

(6) हिन्दी का रंगमंच कुछ अधिक सफलता नहीं पा सका। सिनेमा क्षेत्र में हिन्दी पूर्ण सफल है और साथ-ही-साथ हिन्दी के नाटक और गीत भी।

(7) लम्बे-लम्बे नाटक न लिखे जाकर छोटे नाटकों की प्रणाली चल रही है। अधिकतर छोटे ही नाटक लिखे जा रहे है। तीन अंक के नाटक अच्छे समझे जाते हैं।

(8) इन नाटकों पर बंगला और अंग्रेज साहित्य का प्रधान प्रभाव हुआ है। संस्कृत का प्रभाव भी कम नहीं कहा जा सकता परन्तु यह एक स्थान पर जाकर रुक जाता है।

हिन्दी-नाटक-साहित्य का भविष्य बहुत आशापूर्ण है। नये लेखक दिन-प्रति दिन एक-से-एक नवीन रचना लेकर सामने आ रहे हैं। उनकी रचनाओं में विशेष रूप से समाज की समस्याओं के चित्र भरे हुए होते हैं। आज का समाज चाहता भी ऐसे ही नाटक है। आज का साहित्य केवल कला के लिए नहीं रह गया है, वह तो देखता है उसकी उपयोगिता। केवल नाटक ही नहीं वरन् इस समय का सभी साहित्य उपयोगिता की ओर बढ़ रहा है।

प्रेमचन्द की उपन्यास धारा-35

हिन्दी में कथा-साहित्य का नवयुग मुंशी प्रेमचन्द से प्रारम्भ होता है। मुंशी प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने तिलस्म और अय्यारी को छोड़कर समाज की समस्याओं को अपनाया। आपने उपन्यास-साहित्य के अभाव को

पहिचाना और अपने भरसक प्रयत्नों द्वारा उस अभाव को दूर कर दिया। हिन्दी के वर्तमान कथा-युग को शैली के विचार से तीन धाराओं में विभाजित कर सकते हैं। इन तीन धाराओं के प्रवर्तक मुंशी प्रेमचन्द, बाबू जयशंकर 'प्रसाद' और पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' हैं।

प्रथम धारा के प्रवर्त्तक मुंशी प्रेमचन्द हैं। इस धारा के लेखकों ने उर्दू-मिश्रित चलती हुई मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया है। वह भाषा उपन्यासों के लिए बहुत उपयुक्त है। एक रवानी इस भाषा में ऐसी पाई जाती है कि पाठक किसी पुस्तक को प्रारम्भ करके छोड़ने का नाम नहीं ले सकता। इस धारा के लेखकों को बिलकुल नवीन नहीं कहा जा सकता। उस पर प्राचीनता का काफी प्रभाव है। दकियानूसीपन उनमें से समाप्त नहीं हो गया था।

समाज की समस्याओं को ही इस धारा के लेखकों ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है परन्तु इन्होंने समाज का यह स्पष्ट चित्रण नहीं किया जो वर्त्तमान लेखक चाहता है, या वर्तमान प्रगतिवाद जिसके पीछे हाथ धोकर पड़ा हैं।

प्रेमचन्द के चित्रण बहुत लम्बे हैं। उनमें वर्णनात्मक प्रवृत्ति विशेष हैं। यदि किसी स्थान का ही उन्हें वर्णन करना होता है तो खूब खुलासा करते हैं। अंग्रेजी साहित्य के विक्टोरिया के समय के उपन्यासों से इनकी समानता की जा सकती है। संक्षेप में कहने की प्रवृत्ति नहीं है। इन लेखकों में उपदेशक प्रवृत्ति पायी जाती है। यह लेखक सम्भवतः जनता को उपदेश देने का भार अपने ऊपर कर्त्तव्य के रूप में मान बैठे हैं।

'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'सेवासदन', 'निर्मला', 'गबन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि,' 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि', और 'गोदान' मुंशी प्रेमचन्द की प्रमुख पुस्तकें हैं। नवीन उपन्यास-धारा की सभी विशेषताओं के प्रारम्भ-कर्त्ता के रूप में हम मुंशी जी को पाते हैं। भाषा का बहाव, शब्दों का चयन, समाज के चित्र, मनोवैज्ञानिक भावनाओं का स्पष्टीकरण, समाज के दु:खी जीवन का चित्रण, भाषा की रवानी, हृदय की पुकार, करुणा की चीत्कार, मानसिक जीवन की व्यथा, किसानों की यह दशा, सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार, यह सभी चीजें प्रेमचन्द से पूर्व उपन्यास-साहित्य में कहाँ वर्तमान थीं। इन सभी प्रकार के चित्रणों का जन्मदाता प्रेमचन्द है। प्रेमचन्द के साहित्य में वास्तविक जीवन का सहृदयतापूर्ण चित्रण मिलता है। न वहाँ बनावट है न शृंगार, हाँ कुछ कहने का ढंग ऐसा अनूठा अवश्य है कि पाठक उसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता।

किसी भी काव्य को जन प्रिय बनाने के लिए दो भावनाओं में से एक को लेखक अपनाकर चला करते हैं। एक 'नारी का चित्रण' तथा दूसरी 'करुणा की पुकार'। इन दोनों भावनाओं के प्रति साहित्य में एक विशेष प्रकार का आकर्षण होता है। बँगला के जहाँ प्राय सभी लेखकों ने 'नारी-चित्रण' को प्रधानता दी

है वहाँ प्रेमचन्द को 'करुणा की पुकार' प्रिय लगा है। यहाँ यह अनुमान किया जा सकता है कि लेखक की प्रवृत्ति कहाँ जाकर स्थिर होती है? वास्तव में यदि देखा जाय तो पता चलता है हिन्दी का लेखक जीवन के उस स्तर से उठा है, जहाँ परिश्रम को प्रधानता दी जाने पर भी मनुष्य का पेट नहीं भरता। बँगला के लेखक ऊपर से आते हैं। ऊपर कहने का तात्पर्य केवल यही है कि वह उस वर्ग से आते हैं जहाँ पैसे को विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसीलिए वह वर्ग जितना अच्छा चित्रण 'नारी' का कर सकता है, हमारे हिन्दी-वर्ग के प्रतिनिधि प्रेमचन्द ने उससे भी कहीं सुन्दर, आकर्षक और वास्तविक चित्रण दुःखी मजदूर और निर्धन किसानों का किया है।

प्रेमचन्द ने उपन्यास-साहित्य में ही नहीं, हिन्दी-पंडित समाज में भी एक सामाजिक क्रान्ति पैदा कर दी। आपके साहित्य को हम कथा की ही वस्तु न मानकर यदि मानव जीवन की आवश्यकताओं की वस्तु मान लें तो लेखक के साथ अधिक न्याय होने की सम्भावना हो सकती है।

प्रेमचन्द के चित्रणों में समस्याओं के चित्र हैं और प्रेमचन्द के उपन्यासों में भारत की वास्तविक दशा की झाँकी है। अपने समाज के सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति का चरित्र-चित्रण मुंशी प्रेमचन्द ने किया है। प्रेमचन्द ने अपने सब उपन्यासों में एक भी पूर्ण पात्र न देकर अनेकों पात्र दिए हैं। किसी एक प्रकार के वर्ग में घुस जाना ही आपके साहित्य का उद्देश्य नहीं था बल्कि जीवन के सब पहलुओं को झाँकना आपका मूल उद्देश्य था।

मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य की केवल एक ही दिशा में रचनाएँ की हैं और उस दिशा में अपना एकाकी स्थान बनाया है। आपने राष्ट्र की जो सेवा अपनी लेखनी द्वारा की है वह अनेकों प्रचारक भी प्लेटफार्मों से चिल्ला-चिल्ला कर नहीं कर पाये। हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में यह प्रथम सफल लेखक है।

प्रेमचन्द की कहानियाँ-36

मुंशी प्रेमचन्द ने हिन्दी में बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं और इन कहानियों में समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के अनेकों अंगों को स्पष्ट किया है, जीवन की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में पूर्व और पश्चिम दोनों की समस्याओं का सामंजस्य, कलात्मक शैली और विचारों के आधार पर किया है। इनकी कहानियों को किसी एक विशेष शैली के अन्तगर्त रखकर हम विचार नहीं कर सकते, क्योंकि इनकी अनेक कहानियों का क्षेत्र बहुत व्यापक है।

प्रेमचन्द भारतीय संस्कृति में पले थे। वह संस्कृति के मूल स्रोत और उनकी

विभिन्न धाराओं से भली भाँति परिचित थे। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत प्रधानता काव्य के बहिरंग की न होकर अन्तरंग की रहती है। काव्य की आत्मा को बल देकर उसमें अध्यात्मवाद की पुट आ जाना अनिवार्य हो जाता है। प्रेमचन्द अपनी कहानियों में दैवी गुण लाकर हमें आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। प्रेमचन्द की इस दैविक भावना को प्रस्तुत करने में भारतीय अध्यात्मवाद की झलक मिलती है। प्रेमचन्द ने पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की कलों में भारतीयता को पिसने से बचा लिया। प्रेमचन्द ने पश्चिम की अच्छाइयों को अपनाया, आँख मीचकर अन्धों की तरह उनके पीछे नहीं दौड़े।

प्रेमचन्द की कहानियों को हम कई भागों में विभाजित कर सकते हैं। उसकी ऐतिहासिक कहानियाँ सांस्कृतिक दृष्टकोण के अन्तर्गत आती हैं इस प्रकार की कहानियाँ लिखने में वह उतने सफल नहीं हो पाये जितने जयशंकर 'प्रसाद', क्योंकि इतिहास-विषयक उनका ज्ञान 'प्रसाद' जी की भाँति पूर्ण नहीं था। 'प्रसाद' जी की ऐतिहासिक कहानियों में उस काल के बिखरे हुए तत्त्वों का सुन्दर संकलन मिलता है, परन्तु प्रेमचन्द जी में इस बात का अभाव है। जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक चित्रणों में सांस्कृतिक अथवा भौतिक संदेश नहीं मिलता। वहाँ तो मिलता है सीधा-सच्चा चित्रण, परन्तु प्रेमचन्द उन कहानियों द्वारा समाज के सामने अपना संदेश रखना चाहते हैं। प्रेमचन्द की अधिकाँश कहानियाँ राजपूतों, मराठों अथवा ठाकुरों की कहानियाँ हैं। देश-प्रेम, वीरांगनाओं के बलिदान, शरणागत की रक्षा, सतीत्व की रक्षा, रण से भागे हुए पति के लिए द्वार न खोलना, अमर प्रेम इत्यादि विषयों पर उन्होंने सुन्दर प्रकाश डाला है। इस प्रकार की कहानियों में प्रेमचन्द जी ने भारतीय संस्कृति पर विशेष ध्यान दिया है। उत्तर मुगल काल और पूर्व अंग्रेज़ी-काल पर भी प्रेमचन्दजी ने कहानियाँ लिखी हैं। भारत के पतन के चित्र इन कहानियों में मिलते हैं और राजपूतों की वीरता के भी।

ऐतिहासिक कहानियों के साथ-साथ आपने जो सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं। उनमें अपने काल के दो वर्गों का अधिक विस्तृत चित्रण मिलता है। एक समाज के मध्य-वर्ग का और दूसरा ग्रामीण जनता का। मज़दूरों के चित्र भी प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत किए हैं परन्तु उनका अधिक विस्तृत चित्रण हमें उनके उपन्यासों में मिलता है। समाज के चित्रों का वास्तविक चित्रण हमें सबसे पहले प्रेमचन्द की कहानियों में मिलता है। प्रेमचन्द ने यह स्पष्ट करके दिखला दिया है कि सत्य गल्प से अधिक चमत्कारपूर्ण है (Truth is stronger than fiction)। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जो कहानियाँ लिखी गईं उन्हें वर्तमान कहानियों के साथ रखा भी नहीं जा सकता। वह कहानियाँ मानव जीवन में गुदगुदी पैदा कर सकती थीं, उन्हें सँभाल या झकझोर नहीं सकती थी। जीवन की वास्तविकता से उनका सम्बन्ध न होने के कारण वह

मानव की आत्मा को छूने में असफल थीं। प्रेमचन्द की कहानियों को पढ़कर पाठक ने अनुभव किया कि मानो वह अपनी ही कहानी पढ़ रहा है। प्रेमचन्द ने प्रथम बार समाज के जीवन में बैठकर समाज की आत्मा का अपने साहित्य में चित्रण करने का प्रयास किया। प्रेमचन्द पहिले समाज सुधारक थे और बाद में मनोवैज्ञानिक। उन पर आर्यसमाज के धर्म-प्रचार का प्रभाव था। समाज-सुधार की कहानियों में प्रेमचन्द ने उत्तम और मध्यमवर्ग की मानसिक, आध्यात्मिक और आर्थिक समस्याओं के सजीव चित्रण किए हैं। वकील, बैरिस्टर, प्रोफेसर, रईस, मिल मालिक, बड़े दुकानदार सभी के चित्रण आपने रेखांकित किए हैं।

प्रेमचन्द की अन्तिम निखरी हुई प्रतिभा का प्रदर्शन हमें शहरी चित्रों के अंकित करने में नहीं मिलता, बल्कि ग्रामीण जनता के चित्रों को अंकित करने में मिलता है। देहाती जीवन पर सर्वप्रथम प्रेमचन्द ने ही हिन्दी-साहित्य में लेखनी उठाई। प्रेमचन्द से पूर्व कभी किसी हिन्दी लेखक का इस ओर ध्यान ही नहीं गया था कि यह अनपढ़ देहाती भी किसी साहित्य के विषय बन सकते हैं। प्रेमचन्द ने उनका इतना सजीव चित्रण अपनी कहानियों में किया है कि पाठक के सम्मुख देहात के चित्र आकर खड़े हो जाते हैं। किसान भारत का प्रतिनिधि है और प्रेमचन्द ने किसान का प्रतिनिधित्व किया है। इसलिए आज के साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रेमचन्द भारत का प्रतिनिधि हुआ। गाँव से सम्बन्धित ज़मींदार, काश्तकार, पटवारी, महाजन इत्यादि सभी चरित्र-चित्रण प्रेमचन्द ने किए हैं। ग्रामों की परम्पराएँ किस प्रकार की हैं, समस्याएँ किस प्रकार की हैं, कठिनाइयाँ किस प्रकार की हैं, यह सब प्रेमचन्द की कहानियों में मिलता है। ग्रामीण जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाते हुए भी प्रेमचन्द ने उन कहानियों में मानव-जीवन के उन मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को रखा है, जो विश्वव्यापी हैं। कहानियों में मनोवैज्ञानिक तत्त्व की प्रधानता होने से उन कहानियों में संकीर्णता नहीं आने पाई। मानव-प्रकृति के उन तत्त्वों का चित्रण किया है जो सब स्थान और सब वर्गों के मनुष्यों में समान रूप से पाये जाते हैं। समय और स्थान से ऊपर विश्व-जनीन मनोभावों का समावेश प्रेमचन्द ने अपने ग्रामीण पत्रों में किया है। प्रेमचन्द के समालोचकों को चाहिए कि प्रेमचन्द के साहित्य को संकीर्ण क्षेत्र में रखकर विचार करने की अपेक्षा व्यापक क्षेत्र में रखकर विचार करें। उसमें विश्व-जनीनता और विशाल मानव आदर्शों के दर्शन करें।

प्रेमचन्द एक मनोवैज्ञानिक लेखक है, जिसने कुशलतापूर्वक सुख:दुख, हर्ष-शोक, ईर्ष्या-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को अपनी कहानियों में रखा है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होने से ही प्रेमचन्द अपनी रचनाओं में यथार्थवाद को उचित स्थान दे पाये हैं। प्रेमचन्द की कहानियाँ जीवन से ऊपर

होकर कल्पना की रंगीनियों में नहीं चलतीं बल्कि हम उन्हें अपने प्रतिदिन के जीवन में घटती हुई देखकर उनके साथ अपनापन अनुभव कर सकते हैं। तमाम कहानी यथार्थवादी होते हुए भी कहानियों के अन्त में प्रेमचन्द जी अपना नैतिक दृष्टिकोण प्रकट किए बिना नहीं रहते। वह प्रत्येक कार्य के फल को अच्छा ही देखना चाहते हैं। यह प्राचीन भारतीयता की झलक है जिसके अन्दर की प्राचीन भारतीय नाटककारों ने दुखान्त नाटकों का लिखना ही उचित नहीं समझा था। पाप पर पुण्य की विजय दुखान्त होते-होते पात्र को सुधार कर कहानी को सुखान्त बना देना लेखक की प्रवृत्ति है। यह प्रेमचन्द का आदर्श-वादी दृष्टिकोण ही है जिसने उन्हें ऐसा करने पर विवश किया। प्रेमचन्द की कथावस्तु और चरित्र-चित्रण यथार्थवादी हैं परन्तु आदर्शवादी दृष्टिकोण होने के कारण अन्त में आदर्शवाद की झलक अवश्य आ जाती है। प्रेमचन्द की सुधारक वृत्ति कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट रूप से झलक अवश्य जाती है। प्रेमचन्द ने विविध विषयों का समावेश अपनी कहानियों में किया है। यदि विषयों के आधार पर उनका विभाजन किया जाए तो उन्हें अनेकों विभागों में बाँटा जा सकता है। परन्तु क्रमिक विकास के आधार पर डा० रामरतन भट-नागर ने उनके तीन भाग किए हैं—

(1) आरम्भ की कहानियाँ—इसमें घटना-चक्र और सामयिकता की प्रधानता है। इनमें कोई मूल विचार लेकर लेखक आगे नहीं बढ़ता। प्लाट ही प्रधान है, बीज विचार और चरित्र-चित्रण गौण हैं। इन कहानियों में यथार्थ-वाद की कमी है और मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का भी समावेश लेखक उनमें नहीं कर पाया है।

(2) (अ) चरित्र-चित्रण और आदर्श-प्रधान कहानियाँ—इस प्रकार की कहानियाँ प्रेमचन्द ने बहुत कम लिखी हैं। कला में उपयोगिता का होना प्रेमचन्द आवश्यक समझते थे। उपयोगिता के बिना अनेक विचारों में कला एक व्यर्थ की वस्तु है। 'माता का हृदय', 'स्वर्ग की देवी' इत्यादि कहानियाँ इस विभाग के ही अन्तर्गत आती हैं। कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय, विस्तार तथा चित्रण का भान हो जाता है।

(आ) चरित्र-प्रधान वह कहानियाँ जिनमें आदर्श के साथ भावना को प्रधा-नता दी है। इन कहानियों में भी सुधारात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। लेखक समाज की कुरीतियों को मानवता के काँटे पर तोलकर उन्हें दूर करने का प्रयत्न करता है। 'स्त्री और पुरुष,' 'दिवाला', 'नैराश्यशीला', 'उद्धार', इत्यादि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। प्रेमचन्द की कहानियों में भारतीयता की छाप पग-पग पर मिलती है।

(इ) घटना प्रधान कहानियाँ—इन कहानियों में अन्य प्रवृत्तियाँ होते हुए भी प्रधानता घटना-चक्र को ही दी जाती है। 'शूद्र', 'आधार', 'निर्वासन', इत्यादि

कहानियाँ इसी वर्ग के अन्तर्गत आती हैं ।

(ई) अन्तर्द्वन्द-प्रधान चरित्र-चित्रण वाली कहानियाँ—इन कहानियों में प्रेमचन्द जी आदर्श की ओर से यथार्थवाद की ओर चले हैं । 'दुर्गा का मन्दिर', 'डिग्री के रुपये,' 'ईदगाह', 'मां', 'घर-जमाई', 'नरक का मार्ग' इत्यादि कहानियाँ इसी वर्ग में आती हैं । यथार्थवाद की ओर चलने पर भी कहानियाँ सुखान्त ही हैं, दुखान्त-चित्रण लेखक नहीं कर पाया है ।

(उ) वह कहानियाँ जिनमें प्रभावात्मकता पर बल दिया गया है और वह चरित्र-चित्रण प्रधान कहानियाँ—इस प्रकार की कहानियों में कलात्मकता विशेष रूप से पाई जाती है । प्लाट गौण और चरित्र-चित्रण प्रधान । कुछ कहानियों में प्लाट हैं ही नहीं । यह सब होने पर भी प्रेमचन्दजी अपनी सुधारात्मक प्रवृत्ति को नहीं छोड़ पाये । 'घास वाली', 'धिक्कार', 'कायर', पूस की रात' इसी श्रेणी की कहानियाँ हैं ।

(ऊ) लेखक की कहानियों की अन्तिम श्रेणी वह है जहाँ लेखक आदर्शवाद को छोड़कर यथार्थवादी लेखक बन जाता है। 'कफन और अन्य कहानियाँ' शीर्षक से छपी हुई कहानियाँ इसी वर्ग में रखी जा सकती हैं ।

मैथिलीशरण 'गुप्त' और उनका साहित्य-37

मैथिलीशरण गुप्त वर्तमान हिन्दी के उन कवियों में से हैं जिन्होंने सं० 1923 से कविता-क्षेत्र में पदार्पण किया और आज तक बराबर अपने स्थान को सुदृढ़ ही बनाते चले आ रहे हैं । प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही प्रकार की रचनाएँ 'गुप्त' जी ने हिन्दी-साहित्य को प्रदान की हैं परन्तु आपका विशेष महत्त्व प्रबन्ध-काव्यों के ही कारण है । सं० 1923 में प्रथम बार हिन्दी-पाठकों ने आपकी रचनाएँ 'सरस्वती' में देखीं और फिर आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारत-भारती' पाठकों के सम्मुख आया । 'भारत-भारती' में 'मुसद्दस अली' के ढंग पर हिन्दूओं की भूत और वर्तमान दिशाओं की विषमता दिखलाई गई है, भविष्य-निरूपण का प्रयत्न नहीं है । 'भारत-भारती' से पूर्व भी 'रंग में भंग' नामक पुस्तक आपकी प्रकाशित हुई थी, परन्तु जो मान 'भारत-भारती' को मिला वह उसे प्रथम रचना होने पर भी प्राप्त नहीं हो सका ।

'गुप्त' जी की प्रबन्ध-काव्य लिखने की धारा बराबर चलती रही और धीरे-धीरे आपने 'रंग में भंग', 'जयद्रथ वध' 'विकट भट्ठ', 'प्लासी का युद्ध' 'गुरुकुल' 'किसान', 'पंचवटी', 'सिद्धराज', 'साकेत' और 'यशोधरा' लिखकर हिन्दी-साहित्य-भंडार को भर दिया । इन काव्यों में 'साकेत' और 'यशोधरा' बड़े हैं और महत्त्वपूर्ण भी । 'विकट भट्ट' में राजपूती टेक की कथा है, 'गुरुकुल' में गुरु-

शिष्य का महत्त्व बतलाया है और 'जयद्रथ-वध' और 'पंचवटी' में प्रचलित कथाओं का कवि-कल्पना के साथ कलात्मक समावेश है। इन काव्यों की भाषा बहुत सुन्दर है और उनमें प्रसंग-योजना भी प्रभावशाली है।

'गुप्त' जी ने अपने साहित्य में जीवन और जगत दोनों पर प्रकाश डाला है। 'साकेत में 'गुप्त' जी ने अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित किया है। साहित्य की प्रगतियों का 'गुप्त' जी पर प्रभाव न पड़ा हो ऐसी बात नहीं है। जिस समय साहित्य में छायावाद की लहर दौड़ी तो 'गुप्त' जी भी उससे अपने को पृथक् नहीं रख सके। रहस्यवादियों के से कुछ गीत आपने गाये अवश्य हैं, परन्तु असीम के प्रति उत्कण्ठा और वेदना इनके जीवन में निहित न होने के कारण वह केवल काव्य के प्रति एक रुझान मात्र ही रह गये हैं, जीवन की प्रेरणा नहीं बन सके। 'गुप्त' जी की इस धारा की कविताओं का संग्रह 'झंकार' है।

'साकेत' और 'यशोधरा' गुप्त जी के दो अमर काव्य हैं। इन्हीं में उनके काव्य का सुन्दर विकास दिखलाई देता है। इन ग्रन्थों में प्रबन्धात्मकता की वह पुष्टि नहीं दिखलाई देती जो 'रामचरितमानस' और 'पद्मावती' में मिलती है। इसका प्रधान कारण यही है कि उनकी रचना कवि ने उस समय जब साहित्य की गीतात्मक प्रवृत्ति का उन पर प्रभाव पड़ चुका था। साकेत के दो सर्गों में विरहिणी उर्मिला का चित्रण 'गुप्त' जी के साकेत की विशेषता है। उर्मिला के चरित्र का जो प्रसार 'साकेत' में मिलता है वह हिन्दी के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

'यशोधरा' की रचना कवि ने नाटकीय ढंग पर की है। "भगवान बुद्ध के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले पात्रों के उच्च और सुन्दर भावों की व्यंजना और परस्पर कथोपकथन इस ग्रन्थ में हैं। भाव-व्यंजना गीतों में हुई है।"—**रामचन्द्र शुक्ल**। इनके अतिरिक्त 'द्वापर', 'अनघ', 'तिलोत्तमा' और 'चन्द्रहास' इनके छोटे ग्रन्थ भी हैं।

'गुप्त' जी ने समय और साहित्य की सभी प्रगतियों को काव्य का रूप दिया है। यह हिन्दी भाषा-भाषी जनता के प्रतिनिधि कवि हैं। भारतेन्दु-काल की देश-प्रेम की भावना गुप्त जी की 'भारत-भारती' में मिलती है। भक्ति-कालीन प्रवृत्ति अपने वर्तमान रूप में आकर 'साकेत' में मिलती है। भारत में जितने भी आन्दोलन हुए उन सबकी झलक हमें 'गुप्त' जी के काव्य में यत्र-तत्र दिखलाई देती है। सत्याग्रह, अहिंसा, मनुष्यत्ववाद, विश्व-प्रेम, किसानों और मजदूरों के प्रति प्रेम और सम्मान की झलक इनके साहित्य में मिलती है। खड़ीबोली में इनकी सुन्दर और निखरी हुई कविता लिखने का श्रेय 'गुप्त', जी को ही प्राप्त हुआ है। भाषा में लोच, सौन्दर्य, कर्ण-मधुरता और अन्त्यानुप्रासों का लाना—इन सभी प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हिन्दी कविता में 'गुप्त' जी का

ही सफल प्रयास है ।

इस प्रकार हम 'गुप्त' जी की रचनाओं का विश्लेषण करके देखते हैं कि उनमें भाषा के विचार से भी क्रमिक विकास पाया जाता है। 'गुप्त' जी की रचनाओं में स्वच्छ और सुथरी भाषा का प्रयोग मिलता है । खड़ीबोली की गद्यात्मकता और रूखेपन को निकालकर कवि ने उसमें सरस और केवल पदावली का प्रयोग किया है । इतिवृत्तात्मक भाषा में परिमार्जन करके उसे गीतात्मक बनाया है । आपने बंगाली कविताओं का अनुशीलन किया है । हिन्दी के साहित्य में छायावादी-युग आने से पूर्व की जितनी भी 'गुप्त' जी की रचनाएँ हैं उनमें अनेकों स्थानों पर ऊबड़-खाबड़ और अव्यवहृत संस्कृत शब्दों का प्रयोग मिलता है ।

"गुप्त जी सामंजस्यवादी कवि हैं, प्रतिक्रिया प्रदर्शन करने वाले अथवा मद में झूमने वाले कवि नहीं । सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है । प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति 'उत्साह' दोनों इनमें हैं ।"

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रकृति-चित्रण, मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, समाज पर दृष्टि, विशुद्ध भाषा का प्रयोग, सुन्दर अलंकारों का समावेश, नव रसों पर पूर्ण अधिकार रखना— यह सभी मैथिलीशरण जी और उनके साहित्य की विशेषताएँ हैं । प्राचीनता और नवीनता का इतना सुन्दर सामंजस्य आज के किसी अन्य कवि में नहीं मिलता जैसा 'गुप्त' के साहित्य में उपलब्ध है । कवि आज के साहित्य और समाज का प्रतिनिधि है और उसने अपने साहित्य में मानव-चित्रण के उन तत्त्वों को प्रधानता दी है जिनके कारण उनका साहित्य केवल उनके ही काल का न रहकर, सब आने वाले समयों का साहित्य बनेगा । 'यशोधरा और 'साकेत' हिन्दी-साहित्य की अमर निधियाँ हैं जिनका महत्त्व सर्वदा एक-सा ही बना रहेगा ।

निराला का दार्शनिक प्रकृतिवाद-38

'निराला' के साहित्य में स्पष्ट अद्वैतवाद की झलक है । 'परिमल' में अद्वैतवाद का स्पष्टीकरण हमें कई कविताओं में प्रस्फुटित होता हुआ दिखाई देता है । 'जागरण' कविता में आत्मा की चरम सत्ता में स्थिति को सच माना है । मानव आत्मा को माया-जनित जड़ता के कारण परमात्मा से पृथक् किये हुए है । मानव की यह जड़ता सत्य नहीं असत्य है । कवि के शब्दों में यह 'अगणित तरंग' के रूप में है । चिदात्म तत्त्व गुणों से परे है, उसमें गुणों का आरोप हम नहीं कर

सकते। हमें अपने चारों ओर जो जड़ सृष्टि दिखाई देती है यह सब माया-जनित है, वासनाओं से जन्म लेकर आती हैं, सत्य नहीं हैं। यह सब भिन्नता और परिवर्तन जो हमें विश्व में दिखलाई देता है यह सब हमारे अज्ञान का ही कारण है। जड़ इन्द्रियाँ हमें स्खलन और पतन की ओर ले जाती हैं। कवि का मत है कि ज्ञान से मानव उस माया-जाल को भेदकर ब्रह्म-तत्त्व तक पहुँच सकता है। माया के आवरणों को भेदना जीवात्मा के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना उन आवरणों को भेदे आत्मा अपने निश्चित लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकती। ज्ञान प्राप्त होने पर आत्मा की जो आनन्दमय स्थिति होती है उसका कवि इस प्रकार चित्रण करता है—

अविचल निज शान्ति में
क्लांति सब खो गई!
डूब गया अहंकार
अपने विस्तार में
टूट गये सीमा-बंध
छूट गया जड़ पिंड
ग्रहण देश काल का।

ज्ञान का आकर्षण पाकर आनन्दमय ब्रह्म में जहाँ सृष्टि-रचना की इच्छा होती है वहाँ मोह नहीं होता है, होता है शुद्ध प्रेम। ब्रह्म अपनी माया का प्रसार प्रेम के रूप से करता है, छल फैलाने के लिए नहीं। वह त्रिगुणात्मक रूप रचता है और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और पंचभूत, रूप, रस, गंध, स्पर्श विकसित हो जाते हैं। माया को कवि ने असत्य माना है। वह आनन्द की अभिव्यक्ति हो सकती है, प्रेम का निरूपण मात्र कर सकती है और यह भी तब जब मन उसे उसके विशुद्ध रूप में ग्रहण करे, छलना रूप में ग्रहण करने को भूल कर जाय।

कवि के दर्शन पर कबीर के निर्गुण-तत्त्व का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। कबीर की प्रकृति में राम की झलक थी और 'निराला' की प्रकृति स्वयं राम है, अन्तर केवल इतना ही है। कबीर ने माया को बिल्कुल असत्य मानकर छलना रूप दिया है परन्तु 'निराला' ने उसे प्रेम का रूप माना है, घृणा का नहीं। 'परिमल' और 'गीतिका' का अध्ययन करने से हमें कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण का पता चलता है। 'निराला' की कविता में वेदान्ती दर्शन हैं। अद्वैतवाद का उन्होंने प्रतिपादन किया है परन्तु 'निराला' का अद्वैतवाद विशुद्ध अद्वैतवाद नहीं है। अद्वैतवाद के साथ प्रेम का समावेश करके 'निराला' जी जायसी के निकट पहुँच जाते हैं। सूफी प्रेम की झलक पाकर कविता में रस का संचार हो गया है अथवा उसमें वही रूखापन बना रहता जो कबीर की कविता में मिलता है। परिमल की पंचवटी में कई दार्शनिक दृष्टकोण कवि ने एक

स्थान पर लाकर जुटा दिये हैं। कवि कहता है—

भक्ति योग, कर्म ज्ञान एक हैं
यद्यपि अधिकारियों के निकट भिन्न दीखते हैं !
एक ही है दूसरा नहीं है कुछ—
द्वैत भाव भी है भ्रम।
तो भी प्रिये,
भ्रम के ही भीतर से
भ्रम के पार जाना है।
मुनियों ने मनुष्यों के मन की गति
सोच ली थी पहिले ही।
इसलिए द्वैत-भाव-भावुकों में
भक्ति की भावना भरी।

इस कविता में सम्बन्ध की भावना मिलती है तर्क की नहीं। वेदान्त का आश्रय तर्क है, परन्तु सम्बन्ध में तर्क को एक ओर रख देना होता है ओर लोक-हित के लिए सम्बन्ध की भावना का होना कवि के लिए आवश्यक है। 'निराला' की कविता में अद्वैतवाद के साथ-साथ प्रेम और भक्ति के दर्शन होते हैं। यह 'निराला' की अपनी विशेषता है जिसे प्रकृति का सहारा लेकर कवि ने साहित्य में प्रस्तुत किया है। 'निराला' का दर्शन ज्ञानमूलक है। जायसी की भाँति प्रकृति और परब्रह्म में वह एकात्मक न मानकर भिन्नता मानते हैं।

'निराला' के प्रकृति-चित्रण साधारण नहीं हैं, उनमें दर्शन की विशेषता होने के कारण चित्रणों में भी विशेषता आ गई है। प्रकृति की प्रत्येक शक्ति में उन्हें ब्रह्म की छटा दिखाई देती है। प्रकृति के रंग उन्हें गहरे लगते हैं, पवन में पराग और कुंकुम मिली दिखलाई देती है। दार्शनिक कवि पवन को देखता और रंगों से बातें करता है। 'निराला' ने प्रकृति का वह स्वरूप नहीं देखा जो जायसी ने देखा है। जिसमें कवि प्रकृति में मिलकर उसे अपने विरह का अंग बना लेता है। कवि प्रकृति को रहस्यवादी और अद्वैतवादी रूप में देखता है। 'निराला' की 'जूही की कली' में प्रकृति आत्मा और परमात्मा लीलाओं का स्थल बनकर आई है। पवन ईश्वर का स्वरूप है और कली आत्मा का। इन प्रतीकों को मानने में 'निराला' में पूर्ण भारतीयता के दर्शन होते हैं। काव्य में प्रेम का समावेश करने पर भी ईश्वर को नारी-रूप में कवि ने नहीं देखा। कवि ने अपनी दूसरी कविता 'शैफाली' में भी प्रकृति का चित्रण इसी प्रकार किया है। प्रकृति का निरीक्षण कवि ने एक विशुद्ध वेदान्ती बन कर किया है। 'निराला' के प्रकृति-चित्रण में प्रकृति को स्वतन्त्र रूप नहीं मिल पाया। यही कारण है कि प्रकृति-चित्रण का वह विकास जो जायसी की पद्मावत या वर्तमानकालीन 'पंत' की भी कविता में प्राप्त नहीं हो सका। इस प्रकार हमने

देखा कि 'निराला' का दार्शनिक प्रकृतिवाद प्रकृति माया का प्रेम-क्षेत्र है जिसमें आत्मा और परमात्मा की क्रीडाएँ होती हैं। यह लीलाएँ छल के प्रभाव से न होकर प्रेम के प्रभाव से होती हैं। मानव-ज्ञान से इस आनन्दमय सृष्टि के दर्शन कर सकता है और अपने को उसका एक अंग बना सकता है।

39-महादेवी वर्मा का दर्शन और साहित्य

महादेवी वर्मा की कविता में करुणा का अपार सागर लहरें मारता है। दु:ख और रोदन से ही प्रस्फुटित होकर उनकी कविता चलती है। कविवर 'पंत' की यह पंक्तियाँ—

वियोगी होगा पहिला कवि
आह से उपजा होगा ज्ञान
उमड़कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

महादेवी के विषय में पूर्ण रूप से चरितार्थ हो जाती है। महादेवी की इस शैली को कुछ आलोचक दुःखवाद कहकर पुकारते हैं। यह दु:ख-वाद आज के युग में न केवल महादेवी वर्मा के ही गीतों का प्राण बनकर आया है वरन् जयशंकर 'प्रसाद' का 'आँसू', 'पंत' की 'ग्रंथि' तथा भगवतीचरण और बच्चन तक के काव्यों में मिलता है।

इस दु:ख-वाद के मूल में हमें आध्यात्मिक असंतोष और राजनैतिक कारणों को पाते हैं। छायावाद का आरम्भ इस दु:ख-वाद और पलायनवाद के सम्मिश्रण से हुआ। भारतीय जीवन आध्यात्मिक तत्त्वों को भुलाकर पराधीनता में असहाय-सा हो गया था। उसी में कुछ जागृति भरने के लिए या यों कहें कि अपनी दयनीय परिस्थिति पर रोने के लिए इस वाद का जन्म हुआ। बुद्धिवाद का ज्यों-ज्यों प्रसार होता गया त्यों-त्यों यह दु:ख-वाद के अन्दर से निकलकर स्थूल रूप धारण करता चला गया।

महादेवी वर्मा के दु:ख-वाद में आध्यात्मिक तत्त्व प्रधान है। श्री रायकृष्ण-दास जी 'नीरजा' की भूमिका में लिखते हैं, "उनकी (महादेवी की) काव्य-साधना आध्यात्मिक है। उसमें आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय निवेदन है। कवयित्री की आत्मा मानो इस विश्व में बिछुड़ी हुई प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उसकी दृष्टि से विश्व की सम्पूर्ण प्राकृतिक शोभा-सुषमा एक अनन्त अलौकिक चिर-सुन्दर की छाया मात्र है।" महादेवी वर्मा के साहित्य में दार्शनिक-चिन्तन, स्त्री-सुलभ भावों की कोमलता, साहित्यिक परम्पराओं से प्राप्त सहानुभूति, छायावाद का चमत्कृत चित्रण,

तत्सम शब्दों की मधुर झंकार और प्रकृति का रंगीन चित्रण बहुत सुन्दर ढंग से संचित करके रख गये हैं। महादेवी वर्मा को हम किसी भी अन्य कवि के पीछे चलता हुआ नहीं पाते, उनकी अपनी धारा है, अपनी शैली है, अपने विचार हैं और अपनी कल्पनाएँ हैं।

महादेवी ने आत्मा को 'प्रोषित पतिका' के रूप में रखा है और उनका यह चित्रण 'नीरजा' प्रकाशित होने से पहिली रचनाओं में ही स्पष्ट हो जाता है। उनके हृदय में एक टीस उठती है और उससे विकल होकर उनकी कविता आध्यात्मिक विचारावलि को लेकर मुखरित होने लगती है। उनकी कविता में इस प्रकार एक तरह की रहस्यात्मकता रहती है और उसी को हम इनका दर्शन कहते हैं। रहस्यवादी का ज्ञान व्यष्टि मे समष्टि की ओर जाता है और समष्टि से व्यष्टि की ओर। वह कोरा पृथ्वी के ही निकट रहकर तर्क पर आधारित नहीं रहता। रहस्यवादी कवि कभी-कभी तो संसार को न देखकर अपने को और परब्रह्म को ही देखना है। उसके नयनों की पुतलियों में एक ही भाव समा जाता है। उसे जिस वस्तु का साक्षात्कार या सहज ज्ञान होता है उसे वह अनेकों प्रकार के प्रेम-प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता है। रहस्यवादी कवि चरम-तत्त्व का आत्म-तत्त्व से सम्बन्ध स्थापित करना ही अपना एक उद्देश्य समझता है। प्रेम-प्रतीकों द्वारा आत्मा-परमात्मा, व्यक्त-अव्यक्त, ससीम-असीम, पूर्ण-अपूर्ण, साकार-निराकार के पारस्परिक सम्बन्ध का गान करना ही रसवादी कवि का लक्षण होता है। महादेवी लिखती हैं—

विरह का जलजात जीवन, विरह कजलजात
वेदना में जन्म, करुणा में मिला अवसान।

प्रकृति को परमात्मा से मिलने वाला जीवन विरह का स्रोत है। आत्मा इस विरह के दुःख-स्रोत में पैदा होने वाला जलजात है। मानव की उत्पत्ति इस दुःख से ही हुई है। यह आत्मा निर्विकार और निष्काम है। आत्मा को सब चीजों का ज्ञान है और ज्ञान होने पर ही उसमें वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। अव्यक्त की एक झलक पा जाने पर ही आत्मा सांसारिक बंधनों से अपने को मुक्त कर अलौकिक आनन्द की ओर अग्रसर हो जाती है।

(1) महादेवी वर्मा ने आत्मा की स्थिति 'प्रेम की पीर' मानी है। (2) ज्यों-ज्यों आत्मा को इस प्रेम-पीर का अनुभव होता जाता है त्यों-त्यों वह परब्रह्म के निकट पहुँचता जाता है। (3) बिना परब्रह्म के अनुग्रह के मुक्ति प्राप्त नहीं होती। (4) आत्मा की परमात्मा के प्रति विह्वलता आत्मा की पूर्वानुभूति है। यह सभी बातें कबीर के रहस्यवाद से मिलती-जुलती हैं। जहाँ तक ज्ञान, दर्शन और चिन्तन का सम्बन्ध है महादेवी की कविता में योग का समावेश हमें नहीं मिलता। यहाँ पहुँचकर उनकी धारा कबीर से हटकर जायसी की तरफ बहने लगती है, परन्तु जायसी की 'प्रेम-पीर' और महादेवी की 'प्रेम-पीर

में अन्तर है। कविता के बहिरंग में तो आकाश-पाताल का अन्तर है परन्तु सूक्ष्म अन्तर उसके आत्म-तत्त्व में भी है।

जलते दीपक को आत्मा का प्रतीक मानकर कवयित्री लिखती हैं—

1. मोम-सा तन घुल चुका है, अब दीप-सा मन जल चुका है।

2. तू जल-जल कितना होता क्षय
मधुर मिलन में मिट जाता तू
....

अन्धकार और प्रकाश सब ज्ञान-अज्ञान के कारण है। विरह की साधना से दोनों का भेद मिट जाता है। जब चेतना थक जायगी, तन मोम की तरह गल जाएगा और मन दीपक की लौ की भाँति शुद्ध हो जाएगा तब जीवात्मा प्रकाश के दर्शन करेगी और उस समय अन्धकार प्रकाश में और प्रकाश अन्धकार में लय हो जायगा।

महादेवी में मीरा की झलक मिलती है। साधना को दोनों ने ही अपनी कविताओं में विशेष स्थान दिया है। परन्तु न तो मीरा में महादेवी वर्मा की कल्पना है और ना ही महादेवी में मीरा की स्वाभाविकता और प्रेम-दिवानगी। मीरा में निर्गुण की झलक अवश्य मिलती है परन्तु प्रधानता सगुण को ही दी है। परन्तु महादेवी के काव्य में हमें सगुण के लिए कोई स्थान ही नहीं मिलता। यहाँ तो पूर्ण रूप से निर्गुण-चिन्तन है।

महादेवी में विद्वत्ता है, मीरा में नहीं; महादेवी में काव्य परम्परागत सौन्दर्य और उसकी पूर्ति है, मीरा में है उसकी स्वाभाविकता, पांडित्य नहीं; महादेवी में है सुन्दर शब्द-चयन, मीरा में इसका अभाव है; महादेवी में निर्गुण दार्शनिक-चिन्तन है मीरा की सगुण भक्ति में कहीं-कहीं निर्गुण दर्शन की झलक है; प्रेम-पीर दोनों में समान है—इस प्रकार हम मीरा और महादेवी की कविताओं पर एक तुलनात्मक दृष्टि भी डाल सकते हैं।

कविवर 'निराला' अद्वैतवादी होने के नाते आत्मा को निर्लेप मानते हैं परन्तु महादेवी तो अपने को बन्धनों में बाँधने से भी नहीं सकुचाती—

क्यों मुझे प्रिय हो न बन्धन ?
बीन बन्दी तार की झंकार है आकाशचारी।

इसी प्रकार वह अपनी कविता को 'आकाशचारी' मानती हैं। महादेवी को अपनी ससीमता पर भी गर्व है, दुःख नहीं। महादेवी वर्मा ने सुन्दर गीतों में, कलात्मक छन्दों में नवीन प्रतीकों को लेकर जो धारा प्रवाहित की है हर प्रकार से अपने में अपनापन रखती है। उसका हर विचार भारतीय है और प्राचीनता की उस पर गहरी छाप है। बुद्धिवाद हमें महादेवी की कविता से बहुत कम क्या, नहीं के ही बराबर मिलता है। शुद्ध दार्शनिक-चिन्तन-प्रधान इनकी कविताएँ हैं जिन्हें मधुर कण्ठ द्वारा गाया जा सकता है। वर्तमान युग के

गायक उन्हें अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु उन्हें वह सफलता अभी प्राप्त नहीं हो सकती है जो सूर और मीरा के पदों को प्राप्त है ।

हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता-40

राष्ट्रीयता का संकीर्ण अर्थ है देश-भक्ति, और व्यापक अर्थों में राष्ट्रीयता का अर्थ होता है राष्ट्र के विचार, राष्ट्र की संस्कृति और राष्ट्र की भाषा। विचार, संस्कृति और भाषा का समुदाय कहलाता है राष्ट्रीयता। एक राष्ट्रीय कवि वह है जिसने राष्ट्र की भाषा में राष्ट्रीय संस्कृति को लेकर राष्ट्र के विचारों का प्रतिपादन किया हो। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर और मैथिलीशरण गुप्त इस विचार से राष्ट्रीय कवि हैं। जिस प्रकार शेक्सपीयर इंगलैण्ड का और एवंगेट जर्मनी के राष्ट्रीय कवि हैं उसी प्रकार तुलसी, सूर और 'गुप्त' जी हिन्दी के कवि हैं। तुलसी से 'मानस' में भारत राष्ट्र की आत्मा के दर्शन होते हैं और सूर के 'सूर-सागर' में राष्ट्र का आश्वासन मिलता है, एक अवलम्ब मिलता है, बल मिलता है, जीवन और जीने की शक्ति मिलती है और इस प्रकार 'गुप्त' जी की 'भारत-भारती' और 'साकेत' में राष्ट्र के धार्मिक और राजनैतिक उत्थानों का व्यापक संदेश मिलता है। परन्तु यह व्यापक अर्थ समालोचक लोग प्रयोग नहीं करते। जब हम राष्ट्रीय कवियों पर दृष्टि डालते हैं तो हमारी दृष्टि केवल देश-प्रेम, जाति-प्रेम, और संस्कृति-प्रेम रखने वाले ही कवियों पर चली जाती है। हमारे दृष्टिकोण में संकीर्णता आ जाती है। यही राष्ट्रीयता की साधारण परिभाषा है।

यदि हम राष्ट्रीयता को उसके संकीर्ण अर्थों में लें, तो भी हमें इस विषय पर विचार करते समय दो विचारधाराओं को लेकर चलना होता है। इसमें पहिली विचारधारा का सम्बन्ध उस काल से है जो अंग्रेजी शासन के पश्चात् दिखलाई देती है। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि धर्म और राजनीति में एक प्रबल संघर्ष रहा है। अंग्रेज़ी राज्य से पूर्व मुसलमान शासन-काल में धर्म का बोल-बाला था। इसलिए हिन्दू धर्म के ऊपर आक्रमणकारी बनकर आने वाले मुसलमानों के विरुद्ध जिस भावना को कवियों ने अपनी वाणी में मुखरित किया है उस समय वही राष्ट्रीयता मानी जाती थी। 'चन्द' और 'भूषण' इस प्रकार की राष्ट्रवादी कविता के प्रतीक हैं। इन कवियों ने उस समय की जनता के हृदयों को राजनैतिक दृष्टिकोण से बल दिया, उत्साह दिया, धर्म के सहायक तथा रक्षक वीर योद्धाओं का गुण-गान किया।

समय ने करवट ली। मुसलमान राज्य भारत पर छा गया। भारतीय

सभ्यता ने दूसरों को अपने में खपाना सीखा है, हज्म कर जाना सीखा है और उसने मुसलमानियत को भी अपना ही रूप दे दिया। अपनी जैसी जातियाँ उन्हें दे दीं और अपने जैसे रीति-रिवाज भी। कबीर जैसे महाकवियों में समन्वय की भावना भरी और 'सूर' तथा 'तुलसी' जैसे राष्ट्रीय कवियों ने जनता के उद्-भ्रान्त हृदयों को अपनी गोद में लेकर सहारा दिया। भक्ति का वह स्रोत भारतीय जीवन का वैराग्य एकदम समाप्त कर देना चाहता था।

मुसलमान-काल के पश्चात् राजनैतिक युग आया। पहिले युग में, जिसमें राजनीति-प्रधान हो गई, देश के नेताओं ने आपसी फूट और हिन्दू-मुसलमानों का भेद-भाव भुलाने का आदेश दिया। राष्ट्र में एक नवीन विचारधारा ने जन्म लिया और वह राजनीति के पीछे-पीछे चल पड़ी।

भारतेन्दु-काल में सर्वप्रथम इस राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीय समन्वय में संस्कृति के उत्थान की नेताओं और लेखकों ने कल्पना की और राष्ट्र तथा धर्म को पृथक्-पृथक् कर दिया। भारत का समाज दो दलों में विभक्त हो गया। एक पूर्ण राजनैतिक राष्ट्रवादी और दूसरा हिन्दू धर्मी। जो दल प्रगतिशील था उसने धर्म के बखेड़े को भारत की पराधीनता के सम्मुख बैठाकर एक ओर रख दिया और जो प्रतिक्रियावादी या प्राचीनतावादी था उसने वही पुरानी प्रणाली को अपनाये रखा।

साहित्य में तो स्वयं प्रगति होती है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में दूसरे दल का अधिक महत्त्व नहीं बन सका। राजनीति में स्वार्थ को लेकर नेता चलते हैं इसलिए प्रतिक्रियावादी भी अपनी जड़ों को खोखला देखकर भी उन्हें जमाये रखने का ही धोखा जनता को देने का प्रयत्न किया करते थे। वास्तव में सत्य यह है कि जो व्यतीत हो चुका वह लौटेगा नहीं। साहित्य के क्षेत्रों में क्योंकि स्वार्थ नहीं है इसलिए विचारक को क्या पड़ी है कि वह मुक्त होकर विचार न करे और नवीनता को प्रश्रय न दे।

अंग्रेजी राज्य 1857 के स्वतन्त्रता-संग्राम में भारतीय पराजय के पश्चात् दृढ़ हो गया। इस काल के राष्ट्रीय कवियों ने देश का करुण चित्र अंकित किया है। 'प्रेमधन' जी ने लिखा कि भारत में अंग्रेज़ी राज्य आ जाने से—

दुख अति भारी इक यह जो बढ़त दीनता।
भारत में सम्पति की दिन-दिन होत हीनता।।

'भारत दुर्दशा' में भारत की परिस्थिति का भारतेन्दु जी ने अच्छा चित्र अंकित किया है। सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना होने पर 'प्रेमधन' जी सहर्ष कहते हैं—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समय अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक न उसने ताका।।

इस प्रकार राष्ट्रीयता की भावना पृथक्-पृथक् धाराओं में बहती हुई 'गुप्त'

जी की 'भारत-भारती' तक आ पहुँचती है। 'भारत-भारती' में राष्ट्र को स्वतन्त्र करने का स्पष्ट संकेत मिलता है। 1918 के असहयोग-आन्दोलन से राष्ट्रीयता ने और पंख पसारे और माखनलाल चतुर्वेदी, 'सनेही' सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' इत्यादि कवियों ने फुटकर रचनाओं द्वारा राष्ट्रीयता की भावना से पत्र-पत्रिकाओं में लिखकर भारत की जनता को जागृत किया। सुभद्राकुमारी की फड़कती हुई कविता हमें 'भूषण' की याद दिलाती है। 'झाँसी की रानी' में जो ओज है वह भूषण के अतिरिक्त अन्य किसी की कविता में नहीं मिलता।

बुंदेले हर बोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।।
जाओ रानी याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनासी।।
हो मतवाली विजय, मिटादें गोलों से चाहे झाँसी।
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।।

आज राष्ट्रीयता का बोल बाला है। सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र, 'चकोरी' तथा अन्य अनेकों छोटे-मोटे कवि इस धारा के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस काल की राष्ट्रीय कविता केवल पराधीनता से भारत को उभारने के लिए चमत्कार मात्र है। एक विद्रोह है विदेशी शासन के प्रति। कला के लिए उसमें स्थान बहुत है। इस कविता का इसलिए राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से जितना महत्त्व है उतना कविता होने से नहीं। काव्य के क्षेत्र में आज स्वतन्त्र हो जाने पर आशा है कि कुछ राष्ट्रीय कवि जन्म लें या वर्तमान कवियों का ध्यान उस ओर जाय और वह राष्ट्र के वास्तविक अर्थ को समझकर संस्कृति, समाज, राजनीति, भाषा, कला और काव्य-परम्परा का ध्यान रखकर साहित्य का सृजन करें। प्रतिभाशाली कवियों से हम आशा करते हैं कि वह हिन्दी-साहित्य के इस अभाव की पूर्ति करेंगे।

हिन्दी को मुसलमान साहित्यकारों की देन-41

हिन्दू और मुसलमान पृथक्-पृथक् अवश्य प्रतीत होते हैं परन्तु उनके मानव में एक्य है। हिन्दी-साहित्य हिन्दुओं का साहित्य है, भाषा, भाव और संस्कृति के विचार से परन्तु फिर भी कुछ मुसलमान कवियों ने हिन्दी को वह रचनाएँ प्रदान की हैं कि जिन्होंने हिन्दी-साहित्य में अपना स्थान बना लिया है। यह रचनाएँ उस काल की हैं, जब कि भारत में मुसलमान राज्य था और

भारत की भक्ति-भावना ने भावुक मुसलमानों को अपनी धारा में प्रवाहित कर लिया था।

मुसलमानों का पहिला महत्त्वपूर्ण वर्ग प्रेमाश्रयी धारा के अन्तर्गत आता है जिसने सूफी सिद्धान्तों के अनुसार भारतीय चरित्रों में प्रेमामृत का संचार किया। जायसी की प्रसिद्ध रचना पद्मावत का नाम इस स्थान पर उल्लेखनीय है, जिसके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि प्रबन्ध-काव्यों में रामचरितमानस के बाद पद्मावत का ही स्थान आता है। कुतुबन, 'नूर' मुहम्मद, मँझन इत्यादि इस धारा के अन्य कवि हैं। यह, 'सूफी' धर्म प्रचार भारतीय जनता में करना चाहते थे। अवधी भाषा में इन कवियों ने अपनी रचनाएँ की। कविता के विषय के लिए इन कवियों ने हिन्दुओं की प्रचलित और अर्ध-कल्पित कथाओं को अपनाया। यह अपनी भावुकता के साथ हिन्दू-हृदयों तक पहुँचना चाहते थे। इसमें उन्हें अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। हाँ, हिन्दी को पद्मावत् जैसा सुन्दर ग्रन्थ अवश्य प्राप्त हो गया। इस धारा के कवियों में पाण्डित्य का अभाव था।

मुसलमानों के दूसरे वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में हम 'रसखान' को पाते हैं। इस वर्ग पर कृष्ण-भक्ति का प्रभाव हुआ था और यह विशुद्ध कृष्ण-भक्ति की भावना को लेकर कविता-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। साहित्य-सेवा उनका लक्ष्य नहीं था, वह तो लालायित हुए थे श्याम की मनोहर मूर्ति पर। भक्ति-भावना से प्रेरित होकर वह मुक्त कंठ से गाते थे।

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

इस वर्ग के कवि प्रेमी जीव थे जिन पर भक्ति और साहित्य का समान प्रभाव था और जिन पर भारतीयता अपना असर कर चुकी थी।

तीसरे वर्ग के कवि हमें रीति-काल में देखने को मिलते हैं। राम-भक्ति की मर्यादा ने उनके उच्छृंखल स्वभाव को अपने अन्दर समावेश करने की आज्ञा नहीं दी। या यों भी कह सकते हैं कि वह उसमें समावेश करने का साहस ही न कर सके। इस धारा में रहीम का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने रहीम-सतसई, बरवै, शृंगार-सोरठ, मदनाष्टक इत्यादि ग्रन्थों की रचना की। पठान सुलतान ने बिहारी सतसई पर कुंडलियाँ लिखीं। हिन्दी-साहित्य में इस वर्ग के कवियों की संख्या सबसे अधिक है। इस धारा में जो साहित्य रचा गया वह प्रधानतया शृंगार-प्रधान है। मुसलमान भावुक तो होते ही हैं, इसलिए उन्हें इस प्रकार का साहित्य लिखने में काफ़ी सफलता मिली है।

चौथे वर्ग के मुसलमान लेखक सैलानी जीव हैं, जिन्होंने विनोदपूर्ण साहित्य

का सृजन किया हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य में एक नवीन धारा को प्रवाहित किया और एक प्रकार से साहित्य के गाम्भीर्य को तोड़कर उसमें दिल बहलाने और मन को हलका करने की सामग्री प्रस्तुत की। खुसरो और इंशाअल्ला खाँ इसी वर्ग के प्रधान लेखक हैं। वर्तमान हिन्दी गद्य का प्राचीनतम रूप हमें इन्हीं दोनों की भाषा में मिलता है। खुसरो की कविता का एक निखरा रूप देखिये—

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस।।

खुसरो की मुकुरियाँ हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी गद्य का वह नमूना है जो हिन्दी भाषा साहित्य में जब तक भाषा-साहित्य का इतिहास रहेगा सर्वदा अमर रहेगी।

पाँचवा वर्ग उन मुसलमान कवियों का है जो वास्तव में उर्दू के लेखक हैं परन्तु उन्होंने हिन्दी में भी लेखनी उठाई है। वर्तमान गद्य लेखकों में तो थोड़ा-सा लिपि-भेद कर देने से अनेकों लेखक इस श्रेणी में आयेंगे।

इन ऊपर दिये गये सभी लेखकों की रचनाओं में अपनी-अपनी विशेषता है। यह कहना तो असत्य होगा कि इनकी रचनाओं पर मुसलमानी प्रभाव है ही नहीं परंतु इतना तो निश्चयपूर्वक ही कहा जा सकता है कि इन सभी लेखकों ने भारतीयता के साँचे में अपने साहित्य को ढाला खूब है। अपने-अपने समय की प्रणालियों और विचारधाराओं को लेकर उनमें अपनेपन की पुट इन लेखकों ने दी है। इनकी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य की अमर निधियाँ हैं और इनके साहित्य में आ जाने से साहित्य में एक ऐसा विस्तृत दृष्टिकोण उपस्थित हुआ है कि समन्वय की भावना के साथ रहस्यवाद के कई रूप सामने आ गये हैं। जायसी ने अपने दर्शन में जिस रहस्यवाद की पुट दी है वह उसका अपना है और उसमें हिन्दू तथा मुसलमानी भावनाओं का इतना सुन्दर समन्वय मिलता है कि पाठक इनके ग्रंथ को पढ़कर मुक्त कंठ से इनकी प्रशंसा कर उठता है। रसखान ने बहुत कम लिखा है परन्तु जो कुछ भी लिखा है उसकी तुलना हम सूर और मीरा के ही पदों से कर सकते हैं। खुसरो की तुलना करने के लिए हमारे पास कोई अन्य लेखक हिन्दी में नहीं है और रहीम, इनका स्थान भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमानों ने जो हिन्दी-सेवा की है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसका हिन्दी-साहित्य, भाषा और भाव-सौन्दर्य के विचार से विशेष स्थान है। भारतीय और फारसी शैलियों का उसमें हमें सुन्दर समन्वय मिलता है।

42-हिन्दी-साहित्य पर विदेशी प्रभाव

हिन्दी-साहित्य का आदि-काल विदेशी आक्रमणों का काल था। इसलिए हिन्दी साहित्य पर प्रारम्भ से ही विदेशी प्रभाव हमें स्पष्ट दिखलाई देता है। इस निबन्ध में हम हिन्दी-काल-विभाजन के क्रम के अनुसार ही विचार करेंगे।

वीरगाथा-काल हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भिक काल है और पृथ्वीराज रासो उस काल का प्रतिनिधि ग्रंथ। यह राष्ट्रीयता-प्रधान है और विशेष रूप से मुसल मानी सभ्यता का घोर प्रतिद्वन्द्वी भी इसे हम कह सकते हैं। परन्तु उसकी भाषा पर हमें विदेशी प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। चंदवरदाई लाहौर के रहने वाले थे और लाहौर पहिले से ही मुसलमानों के अधिकार में आ चुका था। इसलिए वहाँ की भाषा का भी उन पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। उसी प्रभावित भाषा के नमूने हम पृथ्वीराज रासो में यत्र-तत्र देखते हैं। फिर भी छन्द, विषय इत्यादि पर इस काल में कोई विदेशी प्रभाव नहीं पड़ा और न ही दर्शन पर, क्योंकि दर्शन-साहित्य तो इस काल मे लिखा ही नहीं गया।

हिन्दी-साहित्य का दूसरा काल हमें अनेक रूप में विदेशी प्रभाव से आच्छादित दिखलाई देता है। यह सत्य है कि विदेशी प्रभाव राजनैतिक पराधीनता होने पर भी मूल तत्त्वों पर विजय नहीं प्राप्त कर सका; साहित्य की आत्मा को ठेस नहीं पहुँचा सका; परन्तु रूप में, रंग में, आवरण में, सौन्दर्य में, कल्पना में, व्यवहारिकता में और अन्य भी अनेकों रूपों में उसने हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया है, और खूब सफलता के साथ किया है। हिन्दी-साहित्य के व्यापक दृष्टिकोण ने उन विदेशी प्रभावों को अपनाया, उनका सम्मान किया, उन्हें बल दिया और अमरता प्रदान की।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमानों को अपने निर्गुण-पंथ पर चलाने के लिए भारतीय दर्शन और मुसलमानी एकेश्वरवाद का आश्रय लिया और दोनों का इतना सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया कि कबीर के रहस्यवाद का रूप खड़ा हो गया, जिससे प्रभावित होकर रवीन्द्र ने 'गीताँजलि' लिखी और नोबिल प्राइज (Noble prize) प्राप्त करके संसार में अमरता ली। जायसी ने भारतीय निर्गुण ब्रह्म में सूफी प्रेम का सम्मिश्रण करके पद्मावत जैसा अमर काव्य हिन्दी को भेंट किया। रसखान ने कृष्ण भक्ति शाखा के अंतर्गत रचनाएँ करके हिन्दू और मुसलमान हृदयों को भक्ति के क्षेत्र में मिलाकर एक कर दिया। रहीम के दोहे जन-जन की वाणी बने और खुसरो ने साहित्य के मौन गाम्भीर्य को एक चहल-पहल दी। हिन्दी की पाचन-शक्ति ने सबको पचाकर अपना बना लिया और सम्मिश्रण से साहित्य के ऐसे सुन्दर गुलदस्ते सजाये कि जो किसी भी हिन्दी-साहित्य-प्रेमी की बैठक को अपने पराग और गन्ध से हर समय परिपूर्ण रखते हैं। भक्ति और रीति-काल दोनों पर समान रूप से हमें विदेशी प्रभाव दिखलाई देता है।

अब हमारे सम्मुख आता है आधुनिक काल। आधुनिक काल में मुसलमानी युग समाप्त हो गया और उसका प्रभाव पड़ने का प्रश्न भी उसके साथ-साथ हिन्दी-साहित्य से विदा हुआ। यहाँ हम पाठकों के सम्मुख यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि इस विदेशी प्रभाव से प्रभावित होकर हिन्दी-साहित्य ने अपनी निधि को निरंतर बढ़ाया ही है; कम नहीं होने दिया। आधुनिक काल के साथ-साथ भारत की राजनीति ने करवट बदली और यहाँ पर अंग्रेज़ों का शासन-काल आया। अंग्रेज़ी शासन-काल में यूरोप की सभ्यता भारत में आयी। लॉर्ड मेकाले और राजा राममोहनराय ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया। राज्य-सम्बन्धी कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग हुआ। न्यायालयों की भाषा अंग्रेजी बनी और इस प्रकार एक तरह से 'अंग्रेज़ी' भारत के सभी क्षेत्रों में छाती चली गई। भारत में विद्यालय खुले, उनमें यूरोपियन ढंग की शिक्षाएँ चलीं और उन विद्यालयों में पढ़ाने के लिए पुस्तकों की आवश्यकता हुई। हिन्दी में यह सब पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं, उर्दू में नहीं थीं, फारसी में नहीं थीं और न उनके पढ़ाने वाले ही थे। इसलिए एक बार समस्त देश में अंग्रेज़ी का बोल-बाला हो गया। बंगाल और मद्रास की तो अंग्रेजी मानो मातृ-भाषा ही बन गई।

जहाँ एक तरफ अंग्रेजी का प्रभाव इस प्रकार बढ़ रहा था वहाँ दूसरी ओर हिन्दी के प्रेमी भी शान्त नहीं बैठे थे। वह भी बराबर के प्रत्यनशील थे। राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद विद्यालयों में हिन्दी को लाने का प्रयत्न कर रहे थे और महावीर- प्रसाद 'द्विवेदी' जी ने हिन्दी को अदालतों की भाषा बनाने का आन्दोलन किया। इनके साथ-ही-साथ हिन्दी के लेखक भी मौन नहीं थे। वह अपनी उसी पुरानी रफ्तार पर चलना छोड़कर अपनी पैनी लेखनी से कविता, कहानी, समालोचना, निबन्ध, इतिहास, भाषा-विज्ञान, भूगोल, गणित और इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में 'उतर पड़े। देखते-ही-देखते कुछ ही दिनों में उन्होंने रात-दिन परिश्रम करके हिन्दी-साहित्य के भंडार को भर दिया। परन्तु यह सब हुआ किस प्रकार? इन सब धाराओं में साहित्य की प्रगति किसके प्रभाव से हुई? क्या यह सब सामग्री उन्हें संस्कृत-साहित्य से मिली? क्या फ़ारसी ने इस प्रगति में कोई सहायता दी? हम कहेंगे—नहीं, यह सब अंग्रेजी साहित्य की देन है। हिन्दी के अनुभवी विद्वानों ने अंग्रेज़ी साहित्य पढ़ा, अनेकों पुस्तकों के अनुवाद किये और अनेकों से विचारधारा लेकर, शैलियाँ लेकर, विषय लेकर हिन्दी की अपूर्णता को पूर्ण किया। निबन्ध संस्कृत-साहित्य में नहीं थे, उपन्यास संस्कृत-साहित्य में नहीं थे और आज तो अनेकों ऐसे नये विषय हिन्दी में आ रहे हैं कि जिन्हें संस्कृत-साहित्य जानता भी नहीं था। बिजली-विज्ञान, लोकोमोटिव' रेडियो-विज्ञान, सिनेमा- विज्ञान यह सब नये विषय हैं। इन सबका हिन्दी में समावेश हमें अंग्रेजी से ही आया हुआ मिलता है। अंग्रेजी-कविता का हिन्दी

कविता पर प्रभाव पड़ा। छायावाद और प्रगतिवाद उसके उदाहरण हैं। प्रगतिवाद पर रूस के साहित्य का प्रभाव दिखलाई देता है। हिन्दी नाटकों पर बँगला का प्रभाव पड़ा और उपन्यासों पर अंग्रेज़ी का।

कुछ भी सही, प्रभाव सभी का है परन्तु हिन्दी ने उस प्रभाव में बहकर अपनी आत्मा का हनन नहीं किया। हिन्दी ने सर्वदा विषय अपने ही रखे हैं और रूप-रंग चाहे जैसा भी हो। अपने साहित्य में विदेशी वातावरण उपस्थित करने का जिस लेखक ने भी प्रयत्न किया है वह सफल नहीं हुआ और न ही हो सकता है। हिन्दी के लेखकों ने बहुत कुशलतापूर्वक विदेशी विचारवलियों को भी अपने ही पैमाने में ढाला है और उसे वह मादक रूप दिया है कि एक हिन्दी-साहित्य की बहुमूल्य निधि बनकर रह गया है। इस प्रकार हिन्दी विदेशी प्रभाव की आभारी है क्योंकि उसने हिन्दी को विस्तार के लिए सामग्री दी है और विदेशी प्रभाव को हिन्दी का आभारी होना चाहिए, क्योंकि हिन्दी ने उसे व्यापकता दी, अमरत्व दिया।

43-हिन्दी का पुराना और नया साहित्य

मानव-जीवन का समस्याओं के साथ-ही-साथ साहित्य चलता है। जीवन में जिस काल के अंतर्गत जो-जो भावनाएँ रही हैं उन-उन कालों में उन्हीं भावनाओं से ओत-प्रोत साहित्य का भी सृजन हुआ है। प्रारम्भ में मानव की कम आवश्यकताएँ थीं, कम समस्याएँ थीं। इसीलिए साहित्यिक विस्तार का क्षेत्र भी सूक्ष्म था। वीरगाथाकाल में वीर-गाथाएँ लिखी गईं, भक्ति-काल में साहित्य का क्षेत्र कुछ और व्यापक हुआ, विकसित हुआ, भक्ति के भेद हुए और अनेकों धाराएँ प्रवाहित हुईं। निर्गुण-भक्ति, प्रेमाश्रयी-शाखा, कृष्ण-भक्ति, राम-भक्ति और अन्त में सब मिलकर शृंगार की तरफ़ चल दिये। एक युग-का-युग शृंगारी कविता करते और नायक-नायिकाओं के भेद गिनते हुए व्यतीत हो गया, न समाज ने कोई उन्नति की और न राष्ट्र ने। फिर भला साहित्य में प्रगति कहाँ से आती! साहित्य अपने उसी सीमित क्षेत्र में उछल-कूद करता हुआ झूठे चमत्कार की ओर प्रवाहित होता चला गया। भक्ति-कालीन रसात्मकता रीति-काल में नष्ट हो गई और वह प्रणाली आज के साहित्य में भी ज्यों-की-त्यों लक्षित है।

आज के नवीन युग में साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है। केवल शृंगार अथवा भक्ति के क्षेत्र तक ही साहित्य सीमित नहीं है। वह मानव-जीवन की सभी खोजों के साथ अपना विस्तार बढ़ाता चला जा रहा है। यदि साहित्य का अर्थ हम सीमित क्षेत्र में ललित-कलाओं तक भी रखें तब भी ललित-

कलाओं में गद्य का विकास हो जाने के कारण कहानी, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना, जीवनियाँ, गद्य-गीत इत्यादि साहित्य में प्रस्फुटित हो चुके हैं और नाटक-साहित्य भी अपनी विशेषताओं के साथ अग्रसर है। नाटक कम्पनियों और सिनेमा कम्पनियों ने इस साहित्य को विशेष प्रश्रय दिया है। साहित्य का रूप बदल गया और साहित्य का दृष्टिकोण भी। जब-जब राष्ट्र को जैसी-जैसी आवश्यकता रही है तब-तब उसी प्रकार का साहित्य लिखा गया है। साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है।

आज के साहित्य ने प्रेम, विरह और शृंगार को भुलाया नहीं परन्तु उनका दृष्टिकोण बदल दिया है। रीति-शास्त्रों पर आधारित स्थूल विचारों के स्थान पर भाषा और शैली के आधुनिक प्रयोग किये जा रहे हैं। नख-शिख वर्णन और प्राचीन केलि-विलास इत्यादि को आज के कवियों ने अपने साहित्य में स्थान नहीं दिया। आज का कवि करता है, प्रेमी और प्रेमिका के भावना जगत में होने वाले मनोभावों का वैज्ञानिक चित्रण। वह अभिसार, विपरीत रति, सुरतारम्भ, दूती इत्यादि का समावेश अपने साहित्य में न करके तन्मयता और आत्म-बलिदान का चित्रण करता है।

वीर-काव्य आज का कवि भी लिखता है, परन्तु उसमें केवल शब्दों की झंकार-मात्र न होकर कष्ट-सहन और आत्मोत्सर्ग की भावना रहती है। युद्ध-क्षेत्र में जाकर तलवार चलाने वाले नायक का चित्रण आज के कवि को नहीं करना होता। उसे तो राष्ट्रीय स्वरूप का निरूपण करना होता है। आज की राष्ट्रीय भावना और प्राचीन राष्ट्रीय भावना में भी अन्तर आ चुका है। प्राचीन काल में धर्म पर राष्ट्र आधारित था और इसीलिए धार्मिक भावना ही राष्ट्रीय भावना थी। वही भावना हमें 'चन्द्र' और 'भूषण' में मिलती है। परन्तु आज के साहित्य में धर्म गौण है और राष्ट्र प्रधान। इसलिए वीर-काव्य का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का क्षेत्र पृथक् है और राष्ट्र का क्षेत्र पृथक् है।

"आज के नये साहित्य में देश के प्रति भक्ति और प्रेम, राष्ट्रीय और जातीय वीरों के गुण-गान, अपनी पतित दशा पर शोक, नारी-स्वतन्त्रता के गीत, व्यक्ति की आशा और निराशा, प्रकृति आकर्षण और प्रेम, रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति, प्रतिदिन के दैनिक जीवन का विश्लेषण, राष्ट्रीय और जातीय समस्याएँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं।" —डॉ० रामरतन भटनागर

आधुनिक काल का रहस्यवाद भी हमें 'छायावाद' के रूप में मिलता है परन्तु उस पर अंग्रेजी रोमांटिक (Mystic Literature) साहित्य और बँगला-साहित्य का प्रभाव रहस्यवाद तथा छायावाद में है परन्तु धार्मिक भावना में नहीं। धर्म का आज के युगों में अभाव है, दर्शन का नहीं। दर्शन का सम्बन्ध केवल दृश्य-जगत तक ही सीमित रह जाता है, आध्यात्मिक क्षेत्र तक उसे ले जाना आज के लेखक उचित नहीं समझते। कविवर 'निराला' में दार्शनिक-चिन्तन और

मैथिलीशरण 'गुप्त' में 'धार्मिक भावना' का समावेश मिलता है परन्तु उसमें भी कबीर और तुलसीदास जैसी भावनाओं का सम्पूर्ण एकीकरण नहीं मिलता। सांसारिकता (Matterialisticism) का समावेश उनके साहित्य में पग-पग पर मिलता है।

नवीन युग में मानव-जीवन पर जितना साहित्य लिखा गया है उतना धर्म और दर्शन पर नहीं। मानव का विश्लेषण आज के लेखक के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है, इसलिए उसने जीवन के विविध पहलुओं पर जी खोलकर विचार किया है। उपन्यास, कहानी और जीवनियों में तो प्रधान विषय ही मानव-जीवन है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों और कहानियों में समाज का सुन्दर चित्रण किया है। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के काव्य तो हैं ही नहीं।

आज के युग ने बुद्धि को प्रधानता दी है। नवीन साहित्य बुद्धि का आश्रय लेकर चलता है और प्राचीन साहित्य भावना का। भावना-प्रधान साहित्य में रस प्रधान होता है और बुद्धि-प्रधान साहित्य में वास्तविकता, जड़ता और चमत्कार। आज का साहित्य धार्मिक क्षेत्र में गौण है परन्तु मानवता के वह अमर सिद्धान्त उसमें वर्तमान हैं जिनका दर्शन भी हमें प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता।

44-ललित-कला और काव्य की रूपरेखा

विषय पर दृष्टि डालते समय हमें समझ लेना होगा कि कला क्या है? सूक्ष्म रूप से उपयोगिता और सुन्दरता जिस वस्तु में हो वह कला है। बढ़ई, लुहार, कुम्हार, जुलाहे इत्यादि का कार्य उपयोगी कला के अन्तर्गत आता है और वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला ललित-कला के अन्तर्गत आते हैं। उपयोगी कलाएँ मानव की आवश्यकता पूर्ति के लिए होती हैं और ललित-कला मानव के अलौकिक आनन्द की प्राप्ति के लिए। यह दोनों ही मानव के विकास के लिए परमावश्यक हैं। ललित-कला की परिभाषा बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने इस प्रकार की है, "ललित-कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यवस्था द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित-कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।"

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है, जब वह जीवन की आवश्यकताओं के स्तर से ऊपर उठता है तो उसका शरीर रुझान सौन्दर्य-प्रधान ललित-कलाओं की ओर होता है। कोई संगीत की तरफ़ झुकता है तो कोई चित्र-कला की ओर, कोई मूर्त्ति-कला पर रीझता है तो कोई साहित्य पर। ललित-कलाओं के दो भेद किये

जा सकते हैं, एक नेत्रगम्य (जैसे भवन-निर्माण- मूर्त्ति-कला तथा दृश्य-काव्य) और दूसरा श्रवणेन्द्रिय-गम्य (जैसे श्रव्य-काव्य और संगीत)। इन दोनों भेदों में संगीत और काव्य उत्तम कला हैं और वस्तु, चित्र तथा मूर्ति-कलाएँ मध्यम श्रेणी की। जिस ललित-कला में मूर्त्त-आधार जितना कम है वह कला उतनी ही उच्च कोटि की है। इस प्रकार काव्य का स्थान सब ललित-कलाओं में सबसे ऊँचा ठहरता है।

यहाँ हम क्रमशः पाँचों ललित-कलाओं पर विचार करेंगे। वास्तु-कला का मूर्त्त आधार ईंट, पत्थर और लोहा है। यह सभी निर्जीव वस्तु हैं। इनमें जीवन की वह मादकता कहाँ जो कविता अथवा संगीत में पाई जाती है। कोई सुन्दर-से-सुन्दर भवन देखा और समझ लिया कि यह कुतुबमीनार है, ताजमहल है, मस्जिद है, मन्दिर है इत्यादि। यहाँ विचार के लिए चिन्तन के लिए या मनन के लिए बहुत कम स्थान है। इसीलिए पाँचों ललित-कलाओं में वास्तु-कला का स्थान सबसे छोटा है।

मूर्ति-कला में मूर्त्त आधार पत्थर या अन्य प्रकार की कोई वस्तु है। मूर्तिकार अपनी छैनी से काट-छाँटकर उसमें कलात्मकता पैदा करता है, मूर्ति बनाता है। परन्तु इसमें वह गति उत्पन्न नहीं कर सकता। मूर्ति बनाने में मूर्तिकार वास्तुकार की अपेक्षा मानसिक भावनाओं को चित्रित करने में अधिक सामर्थ्य रखता है। वह अपनी मूर्ति में जानदार होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है और कभी-कभी यह भ्रम वास्तविकता से अधिक कला-पूर्ण हो जाता है, चाहे उसकी उपयोगिता कुछ भी न हो। जहाँ तक उपयोगिता का सम्बन्ध है वहाँ तक वास्तु-कला मूर्ति-कला की अपेक्षा अधिक ऊँचा आसन ग्रहण करती है परन्तु ललित-कलाओं के क्षेत्र में मूर्ति-कला का स्थान वास्तु-कला की अपेक्षा उच्चतम है।

चित्र-कला का मूर्त्त आधार कपड़ा, कागज़ इत्यादि हैं। चित्रकार अपनी तूलिका द्वारा उन पर चित्र अंकित करता है। एक मूर्तिकार पत्थर का स्थूल शरीर सम्मुख रखता है और चित्रकार केवल चित्र द्वारा ही वह सब कुछ दर्शक के सम्मुख रखना चाहता है। इसलिए मूर्त्त आधार चित्रकार के सम्मुख मूर्तिकार की अपेक्षा कम रहता है। यहीं पर चित्रकार अपनी कला-कुशलता में मूर्तिकार से आगे निकल जाता है। वह चित्रपट पर अपनी कल्पना द्वारा ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है कि दर्शक के सम्मुख वह दृश्य उपस्थित हो जाता है जिसे वह आँखों से प्रत्यक्ष रूप में देखता है। चित्रकार केवल चित्र की बाहिरी आकार ही दर्शक के सम्मुख प्रस्तुत नहीं करता वरन् वह अपने चित्र की प्रत्येक रेखा में वह आत्मा फूंकता है कि जिससे चित्र सजीव होकर बोलना आरम्भ कर देता है और स्वयं कह उठता है कि मैं अमुक समय का, अमुक देश का और अमुक सभ्यता का चित्र हूँ। सफल चित्रकार मनुष्य अथवा प्रकृति की भाव-भंगी का प्रतिरूप, दर्शक की आँखों के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है और उसमें होता है

उसके अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र ।

नेत्र-गम्य कलाओं के विषय में विचार करने के पश्चात् अब हम श्रव्य-गम्य कक्षाओं पर विचार करेंगे । संगीत का आधार नाद है जो कि मानव-कंठ और यन्त्रों द्वारा उत्पन्न होता है । यह नाद कुछ सिद्धान्तों के आधार पर सात स्वरों में बाँटकर उत्पन्न किया जाता है । एक गायक इसी नाद द्वारा अपने मानसिक भावों को श्रोता के सम्मुख प्रस्तुत करता है । यह प्रभाव बहुत व्यापक होता है और यहाँ तक कि अच्छा गायक जीव-जन्तुओं को भी अपने संगीत के वशीभूत कर लेता है । कहते हैं गान-विद्या में इतनी शक्ति भी रही है कि उसने अपने वश में प्रकृति की शक्तियों को भी वश में कर लिया था । दीपक-राग, मेघ-राग, के विषय में तानसेन इत्यादि की अनेकों किंवदंतियाँ प्रचलित हैं । यदि उन्हें केवल किंवदंतियाँ भी मान लें तब भी इतना तो सत्य ही है कि संगीत में रुलाने और हँसाने की शक्ति विद्यमान है । वह मानव को क्रोध में उन्मत बना सकता है और साथ ही फिर शांत रस में भी डुबो सकता है । अच्छे गायक के गान के का नेत्र बन्द करके सुनने से श्रोता अपने सामने उसी दृश्य का अनुभव कर सकता है जिसका वर्णन वह अपने राग में कर रहा है । तलवारों की झंकार, विरहिणी का रोदन, पक्षियों का कलरव, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट—यह सब भाव रागों में बहुत सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किये जाते हैं । संगीत मानव की आत्मा को प्रभावित करता है । काव्य-कला के अतिरिक्त मानव को प्रभावित करने में संगीत-कला अन्य सब ललित-कलाओं से अधिक सफल है । "संगीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठतम सम्बन्ध है । उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है, एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है ।"—**बाबू श्यामसुन्दर दास, बी० ए०** ।

काव्य-कला का स्थान सब ललित-कलाओं में सर्वोच्च है । काव्य-कला का आधार कोई मूर्त्त पदार्थ नहीं है । इसका अस्तित्व केवल शब्दों पर अवलम्बित है । काव्य-कला नेत्र-गम्य और श्रव्य-गम्य दोनों ही प्रकार की होती है । नाटक काव्य का एक विशेष अङ्ग है जिसका रंगमंच से ही सम्बन्ध रहता है और रंगमंच का सौन्दर्य नेत्रों के ही क्षेत्र के अन्तर्गत आता है । काव्यों के पठन-पाठन में भी नेत्रों से ही काम लेना होता है और उन्हीं के द्वारा काव्य को मस्तिष्क और हृदय तक पहुँचाया जाता है । संसार की सभी वस्तुओं के संकेत भाषा के पण्डितों ने निश्चित कर लिये हैं और भाव तथा ध्वनि के आधार पर उनमें वह अर्थ भी व्यापक हो चुके हैं जो इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क या हृदय अनुभव करता है । जीवन की घटनाओं और चित्रणों को केवल आँखों से देखना ही एक काव्यकार के लिए आवश्यक नहीं, वरन् वह तो अपने शब्दों द्वारा ऐसा चित्र पाठक के सम्मुख प्रस्तुत करेगा कि एक क्षण के लिए पाठक अपने को भूलकर कवि-कल्पना में झूलने लगेगा और वह अनुभव करेगा कि वास्तव में वही चित्र जिसे

वह पढ़ रहा है उसके नेत्रों का सत्य बन गया है। इन्हीं मानसिक चित्रों द्वारा काव्य का पंडित दूसरों के हृदय में अपनी पैठ करता है और वह अपनी पैनी दृष्टि द्वारा दूसरों के हृदय की परख कर लेता है। यह सब कार्य भाषा द्वारा होता है। इसलिए एक लेखक की भाषा उसकी वही वस्तु है जो मूर्ति-कलाकार की छैनी और पत्थर, चित्र-कलाकार की तूलिका और कागज और संगीतकार की मधुर ध्वनि और यंत्र। इसी के द्वारा वह अन्य जगत् से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है।

संसार की सभी वस्तुओं का तथा भावनाओं और कल्पनाओं का ज्ञान हमें बाह्य साधनों द्वारा और आंतरिक साधनों द्वारा होता है। बाह्य साधनों द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान बाह्य ज्ञान कहलाता है और आंतरिक साधनों द्वारा प्राप्त आंतरिक ज्ञान कहलाता है। पूर्व-संचित अनुभवों और कल्पनाओं के द्वारा प्राप्त आंतरिक ज्ञान होता है और संसार की वस्तुओं को आँखों से देखकर, हाथों से छूकर और नाक से सूँघकर बाह्य ज्ञान के साधनों पर विचार किया। लेखक अपनी और अपने पूर्ववर्ती लेखकों की कल्पना-शक्ति का अपने काव्य में प्रयोग करता है और इस प्रकार बाह्य तथा आंतरिक ज्ञान दोनों का ही प्रयोग वह अपने साहित्य की साधना के लिए करता है। साहित्य-कला को हमने ऊपर अन्य सभी कलाओं पर प्रधानता दी है और उसका एक प्रधान कारण यह भी बतलाया है कि काव्य-कला में अन्य कलाओं की अपेक्षा बहुत कम मूर्त्त आधार है, बल्कि यों कह सकते हैं कि बहुत कुछ हद तक है ही नहीं और मानसिक आधार को ही विशेष स्थान दिया गया है। काव्य-कला ही एक ऐसी कला है कि जो बाह्य ज्ञान का बिना आश्रय लिये मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती है वरना इसे छोड़कर अन्य सभी कलाओं को किसी-न-किसी रूप में बाह्य ज्ञान का आश्रय लेना होता है। काव्य-कला पूर्ण रूप से आन्तरिक ज्ञान पर अवलम्बित है। काव्य मन के आधार पर स्थिर है और काव्य की कल्पनाओं और भावनाओं का मूल स्रोत है। साहित्य का उद्गम-स्थान मन होने से यह स्पष्ट है कि उसका प्रभाव भी अन्य कलाओं की अपेक्षा मानव पर अधिक गहरा होगा। काव्य का भंडार प्रतिक्षण और प्रतिफल वृद्धि की ही ओर चलता जाता है। उसका विनाश नहीं होता, वह तो कंजूस की तिजोरी है जो उसमें कुछ डालना सीखा है निकालना नहीं। मूर्त्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, चित्र फट जाते हैं परन्तु साहित्य जो एक बार संसार में आ चुका फिर जाने वाला नहीं। मानव-सृष्टि के आरम्भ से मानव ने जो अनुभव किया, देखा, सोचा और कल्पनाएँ कीं वह सब उसके साहित्य में सुरक्षित रखा है। मानव के लिए यह महाजन की कितनी मूल्यवान धरोहर हो सकती है इससे इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

45-काव्य क्या है ?

साहित्य—साहित्य मानव के विचारों, भावनाओं और संकल्पों की संसार के प्रति भाषामय अभिव्यक्ति है। साहित्य वह है जिसमें अर्थ और हित दोनों निहित हों। शब्द और अर्थ, विचार और भाव दोनों का समन्वय जिस काव्य में हो वही साहित्य है। साहित्य को अंग्रेजी में लिटरेचर (Literature) और अरबी में 'अदब' कहते हैं। काव्य का स्थान साहित्य में बहुत ऊँचा है। साहित्य का हृदय और मस्तिष्क भी हम काव्य को कह सकते हैं।

काव्य के पक्ष—काव्य के दो पक्ष होते हैं, अनुभूत-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष जिसे भाव-पक्ष और कला-पक्ष भी कहते हैं। काव्य में रागात्मकता, कल्पना बुद्धि और शैली का सामंजस्य होता है। कवि अपने काव्य में रागात्मकता को प्रधानता देता है क्योंकि उसके काव्य की आधार-शिला अनुभूति है। कवि कल्पना द्वारा नये चित्र उपस्थित करता है और शैली द्वारा इन सब की अभिव्यक्ति करता है शैली और रागात्मकता के संतुलन के लिए कवि बुद्धि का प्रयोग करता है। और इस प्रकार वह सफल काव्य का निर्माण कर पाता है।

काव्य की परिभाषा और आत्मा—भरत मुनि और विश्वनाथ जी ने रस को काव्य की आत्मा माना है और दण्डी तथा मम्मट आचार्यों ने अलंकार को। हिन्दी में आचार्य केशव ने दूसरे मत का प्रतिपादन किया है परन्तु वह प्रणाली हिन्दी में मान्य नहीं हुई। 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मटाचार्य ने 'गुण-युक्त और दोषरहित-रचना' को काव्य कहा है, चाहे उसमें अलंकार न हों। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी रागात्मक तत्त्व को प्रधानता देकर लिखा है, "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।" इस प्रकार हम काव्य की परिभाषा यह कहते हैं— "काव्य वह सरस रचना है जिसमें गुणों की प्रधानता और दोषों का अभाव हो। आवश्यकतानुसार ध्वनि और चमत्कार का भी प्रयोग उत्तम काव्य में होना चाहिए। रस वास्तव में काव्य की आत्मा है।

काव्य के अंग—काव्य के आचार्यों और लेखकों ने काव्य के अनेकों भेद किये हैं। कवि अथवा लेखक अपनी अनुभूति के स्पष्टीकरण के लिए जिस मार्ग को भी अपनाता है, बस, वही काव्य का एक अंग बन जाता है। काव्य के प्रधानतया दो भेद माने गये हैं, विषय सम्बन्धी (Subjective) जिसे गीतात्मक (Lyric) भी कह सकते हैं और दूसरा वस्तु सम्बन्धी (Objective) जिसे प्रकथनात्मक (Narrative) कहते हैं। महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक रचनाएँ प्रकथनात्मक रचनाएँ हैं। जिस प्रकार पद्य-क्षेत्र में महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक आते हैं उसी प्रकार गद्य-क्षेत्र में उपन्यास, कहानी और गद्य-काव्य

आते हैं। गद्य का क्षेत्र पद्य की अपेक्षा अधिक व्यापक है इसलिए गद्य में उपन्यास, कहानी और गद्य-गीत के अतिरिक्त हमें निबन्ध, जीवनी इत्यादि इसके अन्य विभाग भी मिलते हैं। पद्य-क्षेत्र में इस प्रकार की रचनाएँ नहीं की जा सकतीं। काव्य के क्षेत्र में गद्य और पद्य सब समान रूप से आते हैं। महाकाव्य, खंडकाव्य, गद्य-गीत, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी और समालोचना के अतिरिक्त काव्य का एक और प्रधान विभाग नाटक रह जाता है। नाटक में गद्य और पद्य दोनों का सामंजस्य मिलता है। प्राचीन नाटकों में कविता की प्रधानता थी, तो वर्तमान नाटकों में गद्य की। काव्य के ऊपर दिये गये पदों के अतिरिक्त दो और भी भेद किये जाते हैं। भारतीय शास्त्रज्ञों ने काव्य-भेद श्रव्य-काव्य और दृश्य-काव्य किये हैं। श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत केवल नाटक जिसे रूपक भी कहते हैं, आता है। नाटक 'दृश्य' और 'श्रव्य' दोनों के अन्तर्गत समान रूप से आता है, क्योंकि इसका आनन्द पढ़कर और रंगमंच पर देखकर दोनों ही प्रकार से प्राप्त होता है।

व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान जो ऊपर काव्य के दो भेद पश्चिमी विद्वानों ने निर्धारित किये हैं वह भी सदोष ही हैं, क्योंकि दोनों के बीच कोई निश्चित रेखा खींचना कठिन है। भावना, व्यक्ति और विषय को पृथक्-पृथक् करना कठिन कार्य है। इनका मेल इतना घनिष्ठ है कि पृथक्-पृथक् करने का प्रयास विडम्बना-मात्र है। कोई गीति-काव्य ऐसा नहीं हो सकता कि जिसका बाह्य संसार से कोई सम्बन्ध ही न हो और महाकाव्य कोई ऐसा नहीं लिखा जा सकता कि जिसमें कवि की आर्त्त आत्मा की भावनाओं की अभिव्यक्ति पाई ही न जाती हो। इस प्रकार सीमा निर्धारित करने में केवल भाव की प्रधानता को ही महत्त्व दिया जाता है।

काव्य के आकार विषयक भेद और उनकी विशेषताएँ—आकार के आधार पर श्रव्य-काव्य के तीन भेद किये जाते हैं—गद्य, पद्य और मिश्रित (चम्पू)। दृश्य-काव्य में नाटक या रूपक आता है। पद्य में जहाँ संगीतात्मकता की विशेषता रहती है। वहाँ गद्य में चरित्र-चित्रण और स्पष्टीकरण अधिक उत्तम रूप से किया जा सकता है। आकर्षण दोनों में किसी प्रकार कम नहीं होता। पद्य का आनन्द लाभ जहाँ सब पाठक नहीं ले सकते वहाँ गद्य में कहानी ने आज के युग में इतनी प्रधानता प्राप्त कर ली कि वह काव्य का सर्वप्रिय अंग बन गई है। इसका सबसे प्रधान कारण यही है कि कहानी और गद्य जीवन के अधिक निकट तक पहुँच सकते हैं। कविता जहाँ जीवन के गूढ़ रहस्य के उद्घाटन में अधिक सफल हो सकती है वहाँ उपन्यास और कहानी की साधारण नित्य के व्यवहार में आने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण इतने रोचक ढंग से कर सकते हैं कि पाठक उनमें अपनेपन का अनुभव करने लगता है।

प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध-काव्य में तारतम्य पाई जाती है, कथा लड़ीबद्ध रहती

है, क्रम नहीं टूटता। जैसे—कामायनी।

मुक्तक-काव्य—मुक्तक-काव्य तारतम्यता, क्रमबद्धता और लड़ी बद्धता से मुक्त होकर चलता है स्वच्छंद, अबाध और मुक्त धाराओं में बिहारी सतसई, पल्लव, गुञ्जन, यामा, अनामिका, निशा-निमंत्रण इत्यादि इसके उदाहरण है।

महाकाव्य—महाकाव्य प्रबन्ध-काव्य का भेद है; इसका विशाल आकार भावों की उदारता और जीवन की अनेकरूपता को लिये हुए रहता है। रामायण, कामायनी इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

खण्ड-काव्य—खण्ड-काव्य भी प्रबन्ध काव्य का भेद है और इसमें जीवन के एक खण्ड विशेष पर कवि प्रकाश डालता है। जयद्रथ-वध, पंचवटी इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

इस प्रकार हमने काव्य का सूक्ष्म रूप से निरीक्षण करके देखा कि काव्य साहित्य का वह प्रधान अंग है कि जिसके अन्तर्गत गद्य और पद्य की प्रबन्ध तथा मुक्तक सभी रचनाएँ आ जाती हैं। इन सभी रचनाओं की आत्मा 'रस' है और अलंकार, ध्वनि तथा चमत्कार उसके आकर्षण। आकर्षण और रस यही दोनों वस्तु काव्य को साहित्य का प्रधान अंग बनाएँ हुए हैं और यही काव्य की विशेषताएँ हैं। साहित्य के अन्तर्गत जहाँ इतिहास, भूगोल, गणित इत्यादि सब आते हैं वहाँ काव्य के अन्तर्गत केवल ललित-साहित्य ही आता है।

४१ साहित्य की उपयोगिता

मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करना कला का क्षेत्र है। उपयोगिता और फिर सौदर्न्य प्रधान उपयोगिता, बस यही कला की विशेषता है। कोनैन खाकर ज्वर उतर जाता है परन्तु कोनैन खाने का नाम सुनकर भी ज्वर चढ़ आता है। इसलिए कोनैन उपयोगी होते हुए भी अपने अन्दर सौन्दर्य का समावेश नहीं रखती। इसके विपरीत एक वीर सैनिक युद्ध-क्षेत्र में सनसनाती हुई गोलियों के समक्ष जा रहा है, रण-वाद्यों को सुनता हुआ मस्त हाथी की तरह और मन में तनिक भी भयभीत नहीं होता। वह रण-वाद्य अपने अन्दर एक बल रखते हैं और वह बल है उस कला का, संगीत का।

इस प्रकार काल और उपयोगिता दो पृथक-पृथक वस्तुएं नहीं है जैसा कि कुछ कला के पुजारी या जिन्हें व्यभिचारी कहा जाय, मानते आये हैं। हिन्दी-साहित्य के रीति काल में इस भावना ने विशेष जोर पकड़ा था। सभी कलाएँ कला-उपयोगिता को लेकर चली हैं, केवल कल्पनाओं पर आधारित होकर नहीं चलीं। कल्पना भी यदि सत्य को ठुकराकर चलेगी तो अपना महत्त्व खो बैठेगी; न उनमें सौन्दर्य ही रहेगा और न वह मिठास ही।

संक्षिप्त रूप से हिन्दी के इतिहास पर भी हम दृष्टि डाल सकते हैं। वीरगाथाकाल का साहित्य पहिले उपयोगी था बाद में कलात्मक, इस प्रकार भक्ति-काल का साहित्य पहले उपयोगी था उसके पश्चात् कलात्मक, परन्तु रीतिकाल में यह दृष्टिकोण बदल गया। बदल इसलिए गया क्योंकि पराधीनता के काल में ऐश और आरामतलबी का साम्राज्य छा गया और भक्ति के प्रतीकों को शृंगार का आश्रय बनाकर कवियों ने प्रयोग किया। कवि जीवन-विहीन होकर शृंगारिक कला के हाथों खेलने वाले वह कल-पुर्जे बन गये जो सुई के नकवे में से केवल एक ही नम्बर का सूत निकाल सकते थे। कवियों की स्वाभाविकता नष्ट हो गई, उनकी स्वाधीनता नष्ट हो गई, उनकी कल्पना नष्ट हो गई और वहाँ पर रह क्या गई केवल एक प्रणाली के ही अनुसार निर्जीव छन्दों को मदारी की तरह इधर-उधर नचाना।

यह था कला का पतन-काल। यहाँ कला में उत्थान नहीं था। कला अपने उत्थान में देश का, समाज का, जाति और सब के साथ विश्व के उत्थान का संदेश लेकर चलती है। उसमें संकीर्णता नहीं होती, उसमें होती है व्यापकता, प्रस्फुटन, एक विशाल चिंतन, एक महान् आदर्श जो सुन्दर होने के साथ-ही-साथ उपयोगी भी होता है। कला की उपयोगिता में सौन्दर्य का होना अनिवार्य है।

कला जीवन का ही एक अंग है, इससे पृथक् कोई वस्तु नहीं। उदाहरण के लिए दो युवतियों को ही लीजिए। दोनों एक ही अवस्था की हैं और यौवन के पूर्ण वेग में बह रही हैं परन्तु एक में भोलापन है और दूसरी में चांचल्य। भोली बालिका फटे वस्त्र पहने है परन्तु उसका यौवन फूटा पड़ रहा है, उसने सौन्दर्य प्रसाधनों का प्रयोग नहीं किया है परन्तु उसके कपोलों की लालिमा गुलाब के पुष्प को भी लजा रही है और दूसरी बालिका ने बाहरी आवरणों मे अपने शरीर को सजाया हुआ है। अब यदि दोनों किसी कवि के सम्मुख जायँ तो उस फटे वस्त्र वाली बालिका को ही वह अपनी कविता की नायिकास्वरूप स्वीकार करेगा। क्योंकि उसके स्वाभाविक सौन्दर्य में कला के लिए स्वाभाविक निमंत्रण है। यह निमंत्रण बनावट में कहाँ? कला जीवन की बनावट पर नहीं जाती वह तो आकर्षित होती है जीवन की निर्मलता पर, जीवन की पवित्रता पर और सच तो यह है कि वह जीवन की वास्तविकता को प्रेम करती है।

आज का युग क्या चाहता है? क्या है आज के युग की पुकार? वह कहता है वास्तविकता की ओर चलो, बनावट से मानव ऊब चुका है। भारत का कलाकार भी आज वास्तविकता की खोज कर रहा है और उसी में उसे मिली है अपनी कला की उपयोगिता। कला जीवन के लिए है, कला समाज के लिए है, कला देश के लिए है। यह सत्य कला पर विचार करते समय कभी नहीं भुलाना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द ने कला का जो दृष्टिकोण संसार के सम्मुख रखा है वह हम गर्व के साथ कह सकते हैं कि विश्व-साहित्य में बहुत कम कलाकार रख सके हैं। खेद का विषय है कि उस महान् कलाकार के विचारों को समाज उस समय उचित आदर न दे सका और उसकी रचनाओं का अन्य भाषाओं में प्रकाशन न हो सका, उसे उचित सम्मान और स्थान न मिल सका परन्तु वह हिन्दी-साहित्य में कला का ऐसा रूप प्रस्तुत कर गया कि जिसकी छाप कविता, कहानी, नाटक, सभी पर पड़े बिना न रह सकी। इस उपयोगिता ने ही प्रगतिवाद का रूप ग्रहण किया और रूप के साहित्य तथा विचारावली का भी इस पर प्रभाव पड़ा।

समय बदल गया, युग बदल गया। मूर्ति-कला में नंगी तस्वीर बनाने का समय निकल गया। चित्र-कला में भी नग्न नारियों के तन मात्र दिखलाने से आज काम नहीं चलेगा। संगीत में अभी भी नारियों की विरह-कथा का बोल-बाला है, परन्तु यह तो जीवन की चिरसंगिनी है और उपयोगिता में इसका स्थान किसी प्रकार अन्य भावनाओं से पीछे नहीं रहता। आज भिखारियों के चित्रों को लोग पसन्द करते हैं, किसानों के चित्रों में सौन्दर्य दिखलाई देता है, किसान काव्यों के विषय बनकर काव्यकार के मस्तिष्क में आते हैं, श्रमजीवी के परिश्रम से प्रभावित होकर कवि रचना लिखते हैं और उनसे प्रभावित होकर समय करवट लेता जा रहा है। यह समय की प्रगति है जो रुक नहीं सकती और रुकनी भी नहीं चाहिए क्योंकि वह जीवन में कर्मण्यता का पाठ पढ़ाती है, अकर्मण्यता का नहीं; प्रगति की ओर ले जाती है रूढ़िवाद की ओर नहीं; कुछ करना सिखाती है, आलस्य में पड़े-पड़े जीवन व्यतीत करना नहीं; जीवन में उपयोगिता लाना चाहती है केवल सौन्दर्य और वह भी वासनामय सौन्दर्य मात्र नहीं। आज का युग इस प्रकार की कला के उत्थान में प्रयत्नशील है और आज के कलाकार जीवन के इस उपयोगितावादी मर्म को भली प्रकार समझ चुके हैं। यह व्यर्थ की झूठी प्रयोजन विहीन कलात्मकता में फँसे रहकर अपनी कल्पनाशील, चिंतनशील, अनुभवशील भावनाशील मनोवृत्तियों को कुण्ठित करना नहीं चाहते, वह चाहते हैं उपयोगिता के साथ एक प्रगति, और इस मार्ग में उन्हें सफलता भी कम नहीं मिल रही है। हिन्दी के वर्तमान लेखक इस प्रकार का साहित्य सृजन करने में बहुत यत्नशील हैं।

समय-समय पर कला के पुजारियों ने कला के अपने-अपने विचारों के आधार पर अर्थ लगाकर कला की परिभाषाएँ निर्धारित की हैं। वह कहते हैं—

कला कला के लिए है।

कला जीवन के लिए है।

कला उपयोगिता के लिए है।

कला जीवन की वास्तविकता से पलायन के लिए है।

कला सेवा के लिए है।

कला आत्मानंद का दूसरा नाम है।

कला आत्माभिव्यक्ति के लिए है।

कला विनोद और विश्राम के लिए है।

कला में सृजनात्मकता होनी आवश्यक है।

हम कला में इन सभी गुणों को देखकर प्रसन्न हो सकते हैं यदि उसमें उपयोगिता का अभाव न हो, क्योंकि उपयोगिता कला का प्रधान गुण होना चाहिए।

आज साहित्य-कला पर हमारे देश का भविष्य आधारित है। हमारे बच्चों का जीवन उसी साहित्य के कर-कमलों में पलकर संसार के सम्मुख आयेगा। जिस प्रकार का वह साहित्य होगा उसी प्रकार के हमारी आने वाली पीढ़ी के चरित्र भी होंगे। यदि हमारे साहित्य में उपयोगिता का अभाव हो गया तो हमारे बच्चों के जीवन में उपयोगिता कहाँ से आयेगी, वे बच्चे होंगे हमारे साहित्य की छाया, प्रतिबिम्ब। इसलिए अच्छे कलात्मक साहित्य में उपयोगिता का होना उतना ही आवश्यक है, जितना दूध में घी का होना अथवा उसमें मिठास का होना।

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है-47

साहित्यकार समाज का एक प्राणी है। जो कुछ वह लिखता है अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर लिखता है। समाज के व्यवहार, धर्म, कर्म, वातावरण, नीति और रीति-रिवाज किसी-न किसी रूप में उसके काव्य में आये बिना नहीं रहते। आदि कवि वाल्मीकि ने भी आदि-काव्य रामायण में अपने समय की राज्य कुटुम्ब की व्यवस्था को लेकर उसे आदर्श रूप दिया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में भी यही किया है। साहित्य के इतिहासों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि समाज का साहित्य से कितना घनिष्ठतम सम्बन्ध है। शेक्सपीयर के नाटकों में रानी विक्टोरिया के समय के समाज का प्रतिबिम्ब है और बनार्ड शॉ के साहित्य में आज के युग का। प्रेमचन्द के उपन्यासों में 1930 और उससे पहिले भारत के सामाजिक आन्दोलनों के बिम्ब हैं, और इसी प्रकार मैथिलीशरण के काव्य में भी। काव्यकार क्योंकि समाज का एक अंग है इसलिए वह समाज से बाहर जाकर कोई चमत्कारपूर्ण रचना नहीं कर सकता और यदि करता भी है तो वह समाज में अपनायी नहीं जा सकती, क्योंकि उसमें अपनेपन का अभाव रहता है।

साहित्य में समाज का दो प्रकार का प्रतिबिम्ब मिलता है, एक विपक्षी और दूसरा पक्षी। जो समाज का विपक्षी साहित्य होता है वह समाज की कटु

आलोचना करके उसकी कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करता है वह समाज की पुरातन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करता है और यही विद्रोह की भावना लेकर एक विस्फोट की भाँति आता है। उसमें मंडन न होकर खंडन की प्रवृति होती है। वह निर्माण न करके विनाशकारी प्रवृति से अधिक प्रेरित रहता है। वर्तमान प्रगतिवादी साहित्य इस प्रकार के साहित्य का प्रतीक है। यह साहित्य एक नया समाज चाहता है, नये रीति-रिवाज चाहता है। धर्म के बेखेड़ों से मानव को मुक्त कर देना चाहता है, जाति-पाँति के बन्धनों को तोड़ देना चाहता है, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा यह सब कुछ, यह कुछ नहीं देखना चाहता। यह समाज की किसी मान्यता को नहीं मानता। इसकी मान्यताएँ नवीन हैं, इसका सामाजिक ढाँचा नवीन है, इसकी कल्पनाएँ नवीन हैं और इसकी विचारधारा नवीन है। इस साहित्य में हमें समाज का धुँधला-सा प्रतिविम्ब दिखलाई देता है परन्तु आने वाले समाज की यह साहित्य आधार-शिला होता है। इस प्रकार के साहित्य को हम समाजगत न कहकर व्यक्तिगत कहेंगे।

दूसरा साहित्य वह है जो समाज की मान्यताओं को मानते हुए सुधारात्मक प्रवृत्तियाँ लेकर चलता है। वह समाज को जैसा देखता है वैसा-का-वैसा ही चित्रित भी करता है। वह सामाजिक व्यवस्था की कटु आलोचना नहीं करता और न क्रान्ति-दृष्टा ही होता है। कहीं-कहीं पर यह समाज की त्रुटियों की उपेक्षा भी करता है। समाज की नीति, धर्म, मर्यादा इत्यादि का यह खण्डन नहीं करता। यह समाज की स्वीकृति का साहित्य है, जिसमें समाज का स्पष्ट प्रतिबिम्ब रहता है। यह साहित्य अपने समय की परिस्थितियों से सन्तुष्ट रहता है, समय की वाह-वाह इसके साथ रहती है और समाज के प्रति असन्तोष की भावना इसमें नहीं रहती। इस साहित्य में गति कम होती है और भविष्य के प्रति विचार भी कम होता है। यह अपने ही काल मे सन्तुष्ट रहता है। यह साहित्य पूर्ण रूप से समाजगत होता है और इसमें व्यक्ति की प्रधानता न होकर समाज की प्रधानता रहती है।

हमने साहित्य को व्यक्तिगत और समाजगत दो भागों में विभक्त किया है। पर दोनों प्रेरणा समाज से ही प्राप्त करते हैं। उद्गम एक होकर भी मूल दोनों के पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। समाजगत साहित्य में प्रतिक्रिया मिलती है। वह समाज को ज्यों-का-त्यों स्वीकार ही नहीं करता वरन् उसकी रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न होता हुआ भी नहीं देख सकता। सामाजिक रूढ़ियों के प्रति उस के अन्दर एक मोह रहता है एक प्रेम रहता और आकर्षण भी। इसके ठीक विपरीत व्यक्तिगत साहित्य समाज में उथल-पुथल कर देना चाहता है; वह चाहता है परिवर्तन, एक क्रान्तिकारी परिवर्तन। यह वर्तमान पर दृष्टि न डालकर भविष्य पर ही देखता है। वह ज्यों-का-त्यों रहने का आदी नहीं, वह तो प्रगति चाहता है धर्म में, समाज में, रीति रिवाजों में और यहाँ तक कि राजनीति में भी। जहाँ

पहिले प्रकार का साहित्य समाज में स्थिरता चाहता है वहाँ दूसरे प्रकार का साहित्य उसमें ताज़गी लाने का प्रयत्न करता है और समय के पुरानेपन के कारण उसमें जो सड़न पैदा हो गई है उसे काटकर फेंक देना चाहता है।

भक्ति काल, रीति-काल और वर्तमान काल के सुधारवादी साहित्य समाज की मान्यताओं को मानकर चले हैं। कुछ सुधारात्मक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कोई क्रान्ति की भावनाएँ उनमें नहीं मिलतीं। अपने-अपने काल का प्रतिबिम्ब उन साहित्यों में स्पष्ट रूप से वर्तमान है। उनमें पूर्ण रूप से स्वीकृति की भावना है, विद्रोह की नहीं। यही कारण था कि इस साहित्य के सृजनकर्त्ता अपने समय में पूजे गये, सम्मानित हुए और उनकी रचनाओं को समाज ने अपना कह-कर अपनाया। सन्त साहित्य ने समाज की कुरीतियों के विरुद्ध विद्रोह किया, एक क्रान्ति पैदा करने का प्रयत्न किया, इसलिए समाज ने उनकी उपेक्षा की और उन्हें वह सम्मान न मिल सका जो भक्त कवियों को प्राप्त हुआ। आज के युग के प्रगतिशील लेखक समाज के कटु आलोचक हैं। वह समाज के रीति-रिवाजों पर गहरी चोट करते हैं और उसकी मान्यताओं को नहीं मानते। सुधारवादियों में भी क्रान्ति की लहर दौड़ रही है। समाज की रूढियों को ज्यों-का-त्यों मानकर चलने वाले साहित्य को संघर्ष के अन्दर से होकर नहीं निकलना होता और दूसरे वर्ग को प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए समाज से टक्कर लेनी होती है। पहिले प्रकार के साहित्य के मार्ग में सब सुविधाएँ हैं और दूसरे प्रकार के साहित्य के मार्ग में सब अमुविधाएँ ही असुविधाएँ हैं।

समाज का प्रतिबिम्ब साहित्य में दो प्रकार से होता है। एक प्रत्यक्ष रूप से और दूसरा अप्रत्यक्ष रूप से। जिस साहित्य में प्रत्यक्ष रूप से समाज का प्रतिबिम्ब होता है वहाँ पर समाज को आधार रूप से लेकर लेखक चलता है और जहाँ अप्रत्यक्ष रूप से समाज का प्रतिबिम्ब आता है वहाँ साहित्य में समाज आधारस्वरूप न आकर गौण रूप से आता है, परन्तु कोई भी साहित्य ऐसा नहीं लिखा जा सकता कि जिसे लेखक समाज से नितान्त अछूता ही रख सके। हम ऊपर भी कह चुके हैं कि लेखक समाज का एक अंग मात्र है और वह कोई भी रचना ऐसी नहीं लिख सकता कि जिसमें उसके अपने व्यक्तित्व की कहीं-न-कहीं पर झलक न आ जाय और यदि कहीं पर भी उसके साहित्य में अपनी झलक आ जाती है तो वह झलक उसकी अपनी न होकर समाज की ही होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कोई भी कवि अथवा लेखक ऐसा नहीं है कि जिसके साहित्य में उसके समय की छाप न मिलती हो। यही दशा संसार के सभी साहित्यों की है। इससे सिद्ध हुआ कि साहित्य समाज से दूर रहकर अपना स्वतन्त्र रूप से निर्माण नहीं कर सकता। कला कला के लिए चिल्लाने वाले कलाकार भी समाज से अपने को पृथक करके नहीं चल सकते। उनके साहित्य में भी किसी-न-किसी रूप में समाज की झलक आ ही जाती है।

48-कविता का अभिप्राय

साहित्य दर्पणकार ने रसात्मक वाक्य को काव्य माना है। रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के समूह को रसगंगाधर के रचियता ने काव्य कहा है। काव्य के अन्तर्गत गद्य और पद्य दोनों ही आ जाते हैं। यहाँ हम केवल कविता विषय पर ही विचार करेंगे। जिस पद्यमयी रचना को पढ़कर चित्त आह्लादित हो उठे, अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो, मन सांसारिक दुःख को भूलकर आनन्द-विभोर हो उठे उसे कविता कहते हैं। इस विषय पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार देखिये—

"कविता वह साधना है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है। राग से यहाँ अभिप्राय प्रवृति और निवृति के मूल में रहने वाली अन्तःकरण की वृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिए भी कुछ विषयों का बाह्य या प्रत्यक्ष मानस अपेक्षित होता है। यही हमारे रोगों या मनोवेगों के—जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं—विषय है।

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन प्रवृत्तियों को समेटकर मनुष्य अन्तःकरण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या सन्देह है ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूम-घूम कर बहते हुए नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह ढलते हुए झरनों, को देख क्षण भर लीन न हुआ, तो उसके जीवन में क्या रह गया ? नाना रूपों के साथ मनुष्य की रागात्मिका प्रवृत्ति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम, क्रोध, करुणा, घृणा आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करने का भी प्रयोग करती है।

कविता हमारे मनोभावों को उच्छ्वसित करके हमारे जीवन में एक नया जीवन डाल देती है। हम सृष्टि के सौन्दर्य को देखकर मोहित होने लगते हैं कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है, हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है। कविता की प्रेरणा से कार्य में प्रवृत्ति बढ़ जाती है। केवल विवेचना के बल से हम किसी कार्य में बहुत कम प्रवृत्त होते हैं। केवल इस बात को जानकर ही हम किसी काम के करने या करने के लिए प्रायः तैयार नहीं होते कि वह काम अच्छा है या बुरा, लाभदायक है या हानिकारक। जब उसकी या उसके परिणाम की कोई ऐसी बात हमारे सामने उपस्थित हो जाती है तो हमें आह्लाद

क्रोध, करूणा आदि से विचलित कर देती है तभी हम उस काम को करने या न करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। केवल बुद्धि हमें काम करने के लिए उत्तेजित नहीं करती। काम करने के लिए मन ही हमको उत्साहित करता है। अतः कार्य-प्रवृत्ति के लिए कविता मन में वेग उत्पन्न करती है।

कविता के द्वारा हम संसार के सुख, दुःख, आनन्द और क्लेश आदि यथार्थ रूप से अनुभव करने में अभ्यस्त होते हैं जिससे हृदय की स्तब्धता हटती है और मनुष्यता आती है।

मनोरंजन करना कविता का वह प्रधान गुण है जिससे वह मनुष्य के चित्त को अपना प्रभाव जमाने के लिए वश में किये रहती है, उसे इधर-उधर जाने नहीं देती। यही कारण है कि नीति और सम्बन्धी उपदेश चित्त पर वैसा असर नहीं करते, जैसा कि काव्य या उपन्यास से निकली हुई शिक्षा असर करती है। केवल यही कहकर कि 'परोपकार करो', 'सदा सच बोलो', 'चोरी करना महा पाप है' हम यह आशा कदापि नहीं कर सकते कि कोई अपकारी मनुष्य परोपकारी हो जायगा; झूठा सच्चा हो जायगा, और चोर चोरी करना छोड़ देगा। क्योंकि पहले तो मनुष्य का चित्त ऐसी सूखी शिक्षाएँ ग्रहण करने के लिए उद्यत ही नहीं होता, दूसरे मानव-जीवन पर उनका कोई प्रभाव अंकित न देखकर वह उनकी कुछ परवाह नहीं करता। परन्तु कविता अपनी मनोरंजक शक्ति के द्वारा पढ़ने या सुनते वाले का चित्त उछटने नहीं देती, उसके हृदय के मर्मस्थानों को स्पर्श करती है और सृष्टि में उक्त कामों के स्थान और सम्बन्ध की सूचना देकर मानव-जीवन पर उनके प्रभाव और परिणाम विस्तृत रूप से अंकित करके दिखलाती है।

परन्तु केवल मन को अनुरंजित करना और सुख पहुँचाना ही कविता का धर्म नहीं है। कविता केवल विलास की सामग्री नहीं। क्या हम कह सकते हैं कि वाल्मीकि का आदि-काव्य, कालिदास का मेघदूत, तुलसीदास का रामचरितमानस या सूरदास का सूरसागर विलास की सामग्री हैं? यदि इन ग्रन्थों से मनोरंजन होता है तो चरित्र-संशोधन भी अवश्य होता है। हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने शृंगार-रस की उन्मादकारिणी उक्तियों से साहित्य को इतना भर दिया है कि कविता भी विलास की एक सामग्री समझी जाने लगी है।

चरित्र-चित्रण द्वारा जितनी सुगमता से शिक्षा दी जा सकती है, उतनी सुगमता से किसी और उपाय द्वारा नहीं। आदि-काव्य रामायण में जब हम भगवान् रामचन्द्र के प्रतिज्ञा-पालन, सत्यव्रताचरण और पितृ-भक्ति आदि की छटा देखते हैं, भरत के सर्वोच्च स्वार्थ-त्याग और सर्वांगीपूर्ण साहिप्यक चरित्र का अलौकिक तेज देखते हैं, तब हमारा हृदय श्रद्धा, भक्ति और आश्चर्य से स्तंभित हो जाता है। इसके विरुद्ध जब हम रावण की दुष्टता और उद्दंडता का

चित्र देखते हैं, तब समझते हैं कि दुष्टता क्या चीज है और उसका प्रभाव और परिणाम सृष्टि में क्या है ? अब देखिए, कविता द्वारा कितना उपकार होता है। उसका काम, भक्ति, श्रद्धा, दया, करुणा, क्रोध और प्रेम आदि मनोवेगों को तीव्र और परिमार्जित करना तथा सृष्टि की वस्तुओं और व्यापारों से उनका उचित और उपयुक्त सम्बन्ध स्थिर करना है।

कविता मनुष्य के हृदय को उन्नत करती है और ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट और अलौकिक पदार्थों का परिचय कराती है, जिसके द्वारा यह लोक देव-लोक और मनुष्य देवता हो सकता है।

कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य होगी। इसका क्या कारण है ? बात यह है कि मनुष्य अपने ही व्यापारों का ऐसा घना बंडल बाँधता आ रहा है, जिसके भीतर फँस-कर वह शेष सृष्टि के साथ अपने हृदय का सम्बन्ध कभी-कभी नहीं रख सकता। इस बात से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी-प्रकृति को जागृत रखने के लिए कविता मनुष्य-जाति के संग लग गई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि शेष प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पाय।

कविता सृष्टि-सौन्दर्य का अनुभव कराती है और मनुष्य को सुन्दर वस्तुओं में अनुरक्त और कुत्सित वस्तुओं से विरक्त कराती है कविता जिस प्रकार विकसित कमल, रमणी के मुख आदि का सौन्दर्यचित्त में अंकित कराती है, उसी प्रकार आदर्श , वीरता, त्याग, दया इत्यादि का सौन्दर्य भी दिखाती है। जिन वृत्तियों का प्रायः बुरा रूप ही हम संसार में देखा करते हैं उनका सुन्दर रूप भी वह अलग करके दिखाती है। दश-वदन निधन-कारी राम के क्रोध के सौन्दर्य पर कौन मोहित न होगा ? जो कविता रमणी के रूप-सौन्दर्य से हमें आह्लादित करती है, वही उसके अन्तःकरण को सुन्दरता और कोमलता आदि की मनोहारिणी छाया दिखाकर मुग्ध भी करती है। बाह्य सौन्दर्य के अवलोकन से हमारी आत्मा को जिस प्रकार संतोष होता है, उसी प्रकार मानसिक सौन्दर्य से भी। जिस प्रकार वन, नदी, पर्वत, झरने आदि से हम आह्लादित होते हैं, उसी प्रकार मानसिक अंतःकरण में प्रेम स्वार्थ-त्याग, दया-दाक्षिण्य, करूणा, भक्ति आदि उदात्त वृत्तियों को प्रतिष्ठित देख हम आनन्दित होते हैं। कविता सौन्दर्य और सात्विक वृत्ति या कर्त्तव्य पराणयता नहीं देखना चाहती। इसी से उत्कर्ष-साधन के लिए कवियों ने प्रायः रूप-सौन्दर्य और अन्तःकरण के सौन्दर्य का मेल कराया है।

जो लोग स्वार्थ-वश व्यर्थ की प्रशंसा और खुशामद करके वाणी का दुरुप-योग करते हैं, वे सरस्वती का गला घोंटते हैं। ऐसी तुच्छ वृत्ति वालों को कविता

न करनी चाहिए। कविता उच्चारण, उदार और निःस्वार्थ हृदय की उपज है। सत्कवि मनुष्य-मात्र के हृदय में सौन्दर्य का प्रवाह बहाने वाला है। उसकी दृष्टि में राजा और रंक सब समान हैं। वह उन्हें मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं समझता।

कविता की भाषा—कविता का सम्बन्ध संगीत से है, इसलिए कविता की भाषा में माधुर्य और प्रसाद गुणों का होना आवश्यक है। कविता में कर्ण-कटु शब्दों का प्रयोग अखरता है और सरस शब्द उच्चारण में अच्छे प्रतीत होते हैं। स्वराघात का ध्यान रखते हुए भाषा का कविता में प्रयोग किया जाना चाहिए। ऐसा न होने पर कविता गायक और पाठक दोनों की ही प्रिय नहीं बन सकती। भाषा कविता का शरीर है। आत्मा के सौन्दर्य के साथ-साथ शरीर-सौन्दर्य की भी आवश्यकता होती है। पाठक अथवा श्रोता का प्रथम आकर्षण कविता के बाह्य रूप के ही कारण होता है और फिर वह कविता की अन्तरात्मा तक पहुँचता है। साधारणतया सभी पाठक कविता की अन्तरात्मा तक पहुँच भी नहीं पाते हैं और यदि उनके सामने बाह्यरूप से कुरूप कविता आय तो वह उसके पठन-पाठन से भी वंचित रह जाते हैं। कविता को यदि हम एक नारी का रूप मान लें तब भी उसका प्रथम आकर्षण उसका रूप, उसका सौन्दर्य ही रहेगा। नारी का स्वभाव, उसका शील, उसका कर्त्तव्य यह बाद की वस्तु हैं जिन्हें पहचानने और जानने में समय लगता है, कठिनाई होती है और कभी-कभी असफलता भी हो जाती है। यही दशा कविता की भी है। इसलिए कविता के अर्थ और भावों के साथ-साथ उसकी भाषा में सौन्दर्य आना भी आवश्यक है।

कविता के गुण—गुणों का सम्बन्ध विशेष रूप से रसों में रहता है। कविता में रसों का होना जितना आवश्यक है उतना ही गुणों का भी। प्रसाद, ओज, माधुर्य इत्यादि गुण कविता में रसों के साथ भावों के अनुसार ही कवि रख सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि कविता में जैसा रस चल रहा है उसमें उसी प्रकार की भाषा और गुण कवि को प्रयोग करना चाहिए। गुण और रसों में विभिन्नता हो जाने से काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। इसलिए लेखक को रस और गुण का सामंजस्य करके अपनी रचना को उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

रस—रस कविता की आत्मा है। रीतिकालीन कवियों ने कविता में अलंकारों को प्रधानता दी है परन्तु आज के युग में उनका सिद्धान्त मान्य नहीं है। आज के युग के आचार्य रस को काव्य की आत्मा मानते हैं और अलंकारों को काव्य के सौन्दर्य की सामग्री मात्र। अब यह विवाद समाप्त हो चुका है। आज अलंकार वर्ण्य-विषय न रहकर केवल सौन्दर्य बढ़ाने का साधन-मात्र रह गये हैं। रस-विहीन काव्य नीरस होने से काव्य ही नहीं रहता, न उसमें कोई सौन्दर्य होता है और न हृदय-ग्राहिता। इसलिए कविता में रस का होना नितान्त आव-

श्यक है। कविता में कुछ-न-कुछ पुराने शब्द भी आ जाते हैं। उनका थोड़ा-बहुत बना रहना अच्छा भी है। वे आधुनिक और पुरातन कविता के बीच सम्बन्ध-सूत्र का काम देते हैं। अंग्रेज़ी कविता में भी ऐसे शब्दों का अभाव नहीं है जिनका व्यवहार बहुत पुराने जमाने से कविता में होता आया है। 'Main', 'Sawain' (मेन, स्वेन) आदि शब्द ऐसे ही हैं। अंग्रेज़ी कविता समझने के लिये इनसे परिचित होना आवश्यक है पर ऐसे शब्द बहुत थोड़े आने चाहिएँ, वे भी ऐसे जो भद्दे और गँवारू न हों। कविता में कही गई बातें चित्र-रूप में हमारे सामने आती हैं, संकेत रूप में नहीं आतीं।

श्रुति सुख-दाता, भाव-सौन्दर्य और नाद-सौन्दर्य के संयोग से कविता की सृष्टि होती है। श्रुति-कटु मानकर कुछ अक्षरों का परित्याग, वृत्ति-विधान और अंत्यानुप्रास का बन्धन, इसी नाद-सौन्दर्य के निबाहने के लिए है। बिना इसके कविता करना अथवा इसी को सर्वस्व मानकर कविता करने की कोशिश करना निष्फल है। नाद-सौन्दर्य के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य भी होना चाहिए। कुछ लोग अंत्यानुप्रास की बिलकुल आवश्यकता नहीं समझते। छन्द और तुक दोनों ही नाद-सौन्दर्य के उद्देश्य से रखे गये हैं। फिर क्यों एक निकाला जाय और दूसरा नहीं? नाद सौन्दर्य कविता के स्थायित्व का वर्द्धक है, उसके बल से कविता ग्रन्थाश्रयविहीन होने पर भी किसी-न-किसी अंश में लोगों के कंठ में बनी रहती है। यह कविता की आत्मा नहीं तो शरीर अवश्य है।

अलंकार—कविता में भाषा को खूब जोरदार बनाना पड़ता है। उसकी सब शक्तियों से काम लेना पड़ता है। वस्तु या व्यापार का चित्रण चटकीला करने और रस-परिपाक के लिए कभी वस्तु के रूप और गुण को वैसा ही और वस्तुओं के साहचर्य द्वारा और मनोरंजक बनाने के लिए उसके समान रूप और धर्म वाली और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। इस तरह की भिन्न-भिन्न वर्णन-प्रणालियों का नाम अलंकार है। इनका उपयोग काव्य में प्रसंगानुसार विशेष रूप से होता है। इनसे वस्तु-वर्णन में बहुत सहायता मिलती है। कहीं-कहीं तो इनके बिना कविता का काम ही नहीं चल सकता। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अलंकार ही कविता है। जहाँ किसी प्रकार की रस व्यंजना होगी, वहीं किसी वर्णन-प्रणाली को अलंकारिता प्राप्त हो सकती है। जिस प्रकार कुरूपा स्त्री अलंकार धारण करने से सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार अस्वाभाविक, भद्दे और क्षुद्र भावों को अलंकार-स्थापना सुन्दर और मनोहर नहीं बना सकती।

रूपक (नाटक) की रूपरेखा-49

रूपक दृश्य-काव्य है। यह श्रव्य-काव्यों की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है, क्योंकि इसमें कल्पना को दृश्यों का प्रत्यक्ष आश्रय मिलता है। नाटक में स्थापत्य, चित्र-कला, संगीत, नृत्य और काव्य इन सभी कलाओं का सामंजस्य मिलता है। भरत मुनि ने कहा है योग, कर्म, सारे शास्त्र, सारे शिल्प और विविध कार्यों में कोई ऐसा नहीं है जो नाटक में न पाया जाय। नाटक में केवल वर्णन-मात्र ही नहीं होता वरन् उनका प्रदर्शन भी नेत्रों के सम्मुख आता है। शास्त्रीय भाषा में नाटक को रूपक कहते है। नाटक में रस का संचार काव्य और अभिनय, दोनों के ही द्वारा होता है, इसलिए अन्य काव्यों की अपेक्षा नाटक रस-प्रवाह में सबसे अधिक सफल हुआ है। नाटक अनुकरण का दूसरा नाम है। हम नाटक में दूसरों की आत्माभिव्यक्ति कर लेते हैं और इस प्रकार रसास्वादन करते हैं। नाटक में पारस्परिक परिचय प्राप्त होता है और अनुकरण द्वारा हम दूसरों के जीवन में अपनी पैठ कर लेते हैं।

नाटक के प्रधान तत्त्व—नाटक के कथानक में पात्रों की विशेषता रहती है। चरित्र-चित्रण नाटककार अपने मुख से कहकर अभिनय अन्य पात्रों द्वारा कराता है। कथानक भी कथनीय कथनों द्वारा ही प्रस्फुटित होता है। पात्रों का भाव-भंगी और क्रिया-कलाप भी इसमें सहायक होते हैं। नाटक लिखने का कुछ-न-कुछ उद्देश्य भी अवश्य रहता है। उसका सम्बन्ध धर्म, समाज, जाति अथवा इतिहास किसी से भी हो सकता है। इस प्रकार इन सभी कार्यों की पूर्ति के लिए नाटक में कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, अभिनय और रस के उद्देश्य का होना नितान्त आवश्यक है। नाट्य-शास्त्र में नाटक के चार तत्त्व माने हैं—वस्तु, पात्र, रस और अभिनय। कुछ आचार्य वृत्ति को पाँचवाँ तत्त्व मानते हैं। वृत्ति वास्तव में क्रिया-प्रधान शैली है जो कि अभिनय के अन्तर्गत भी आ सकती है।

कथावस्तु—नाटक का कथानक 'कथावस्तु' कहलाता है। अंग्रेजी में इसे प्लाट (Plot) कहते हैं। यह मुख्य और गौण दो प्रकार का होता है जिसका सम्बन्ध गौण पात्रों तथा समस्याओं से रहता है। रामायण में राम की प्रधान कथा है परन्तु इसके अन्तर्गत, सुग्रीव, विभीषण इत्यादि की भी कथाएँ आ जाती हैं। वह अपने में सम्पूर्ण हैं परन्तु फिर भी काव्य में उनका स्थान गौण ही है। कथा-वस्तु विशेष रूप से पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक अथवा काल्पनिक होती है। इसमें से किन्हीं भी दो के सम्मिश्रण से एक नवीन प्रकार की कथावस्तु भी बन सकती है। कथावस्तु की पाँच श्रेणियाँ या अवस्थाएँ नाट्य-शास्त्र में मानी हैं—(1) **प्रारम्भ**—इसमें किसी फल के लिए इच्छा होती है। (2) **यत्न**—इच्छा-पूर्ति का प्रयत्न इसके अन्तर्गत आता है। (3) **प्राप्त्याशा**—इच्छित फल

की प्राप्ति की आशा इसमें होती है। (4) **नियताप्ति**—इस दशा में प्राप्ति के विषय में कुछ निश्चय हो जाता है। (5) **फलागम**—क्योंकि नाटकों को सुखांत माना है इसलिए अंत में फल-प्राप्ति आवश्यक है। यूरोपीय नाट्य-शास्त्रों में भी यह पाँच अवस्थाएँ—Exposition, Incident, Rising, Action, Crisis, Denoument, Catastrophe के नामों से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं अवस्थाओं द्वारा नाटक का उतार-चढ़ाव होता है।

अर्थ-प्रकृतियाँ—अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के वह चमत्कार-पूर्ण अंग हैं जो कथावस्तु को कार्य की ओर ले जाते हैं। यह 'बीज', 'बिन्दु', 'पताका', 'प्रकरी' और 'कार्य' पाँच होती हैं।

संधियाँ—संधियों में अवस्थाओं और अर्थ-प्रकृतियों का मेल कराया जाता है। यह संधियाँ एक-एक अवस्था की समाप्ति तक चलती हैं और प्रकृतियों से मेल कराती हैं। संख्याएँ भी अर्थ-प्रकृतियों की भाँति पाँच हैं—'मुख', 'प्रति-मुख', 'गर्भ', 'विमर्श' और 'निर्वहण'।

अर्थोपिक्षक—नाटक में कुछ सामग्री ऐसी होती है जिसकी दर्शक को केवल पात्रों द्वारा सूचना भर दिलाई जाती है; उसे सूच्य कहते हैं और सूच्य की सूचना देने के साधन अर्थोपिक्षक कहलाते हैं। यह भी पाँच होते हैं। (1) **विष्कम्भक**—इसमें पहले हो जाने वाली या बाद में होने वाली घटना की सूचना दी जाती है। केवल दो अप्रधान पात्रों के कथोपकथन द्वारा ऐसा कराया जाता है। नाटक के प्रारम्भ अथवा दो अंकों के बीच में यह आ सकता है। शुद्ध और सकर इसके दो प्रकार हैं। (2) **चूलिका**—पर्दे के पीछे से जिस कथा भाग की सूचना दी जाती है वह चूलिक कहलाता है। (3) **अंकास्य**—अंक के अन्त में मंच छोड़कर जाने वाले पात्रों से आगामी अंक की जो सूचना दिलाई जाती है वह अंकास्य कह-लाता है। (4) **अंकावतार**—अंकावतार में बिना पात्रों के बदले हुए ही पिछले अंक की कथा को आगे चलाया जाता है। पहले ही अंक के पात्र बाहर जाकर फिर लौट आते हैं। (5) **प्रवेशक**—प्रवेशक घटनाओं की सूचना देने के लिए होता है।

कथोपकथन—कथोपकथन चार प्रकार का होता है। (1) **सर्वश्राव्य**—जो सबके सुनने के लिए होता है। (2) **अश्राव्य**—जो अन्य पात्रों के सुनने के लिए नहीं होता। (3) **नियत काव्य**—जो कि कुछ नियत पात्रों के सुनने के लिए होता है और (4) **आकाशभाषित**—जिसमें कि आकाश की ओर मुँह करके किसी कल्पित व्यक्ति से बात की जाती है।

पात्र—नाटक में पात्रों की विशेषता रहती हैं। नाटक के सभी तत्त्व पात्रों के ही आश्रित रहकर चलते हैं। कथा का प्रधान पात्र नायक कहलाता है और उसे परखने की कसौटी यह है कि कथा का फल जिस पात्र से सम्बन्धित हो, बस वही नायक है। श्रोता, दृष्टा और पाठक नायक के ही उत्थान और पतन

में अधिक रुचि रखते हैं। हमारे नाट्य-शास्त्रों में नायक को सभी उच्च और उदार गुणों से सम्पन्न माना है। वह विनयशील, त्यागी, कर्त्तव्य-परायण, कार्य-कुशल, वीर, पराक्रमी, उच्च वंशज, साहसी, स्वाभिमानी, कलाकार, सुन्दर इत्यादि गुण वाला होना चाहिए। आज का नाटककार अपने नायक को सर्वगुण सम्पन्न तो चाहता है परन्तु वह उच्च-वंशज भी हो इसकी ओर विशेष ज़ोर नहीं देता। वह तो कीचड़ से कमल खोजने का प्रयत्न करता है और मिट्टी से हीरा निकालता है। आज का नाटककार नायक को मानव मानकर चलता है, इसलिए उसके चरित्र में कमज़ोरियाँ आ सकती हैं। नायक कुछ विशेष गुण सम्पन्न होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह सांसारिक कमज़ोरियों से मुक्त है। नाट्य-शास्त्र में नायक चार प्रकार के माने हैं। (1) **धीरोदात्त**—यह नायक शोक और क्रोध में विचलित नहीं होता, गम्भीरता, क्षमादान, आत्म-श्लाघा न करने वाला, अहंकार-शून्य, दृढ़-व्रत होना यह इसके प्रधान गुण हैं। महाराज रामचन्द्र **धीरोदत्त**—के आदर्श हैं। (2) **धीरललित**—यह नायक सरल स्वभाव वाला, सुख-सन्तोषी, कलाविद् और निश्चिन्त होता है। शकुन्तला के महाराज दुष्यन्त इसके उदाहरण हैं। (3) **धीरप्रशान्त**—यह नायक ब्राह्मण या वैश्य होता है, क्षत्रिय नहीं, क्योंकि सन्तोष इसका प्रधान गुण है। 'माधवी-माधव' का माधव इसका उदाहरण है। (4) **धीरोद्धत**—यह नायक मायावी और आत्मप्रशंसापरायण होता है। धोखा और चपलता इसकी नस-नस में भरा रहता है। अहंकार और दर्प इसके गुण हैं। रावण इसका उदारण है।

नायकों के श्रृंगारिक दृष्टिकोण को सामने रखकर उन्हें चार भेदो में बिभाजित किया गया है (1) **अनुकूल**—ऐसा नायक एक पत्नी-व्रत होता है जैसे श्री रामचन्द्र। (2) **दाक्षिण्य**—जो नायक कई रानियाँ रखकर भी प्रधान महिषी का आदर करता हो और यथासम्भव सबको प्रसन्न रखता हो। उदा-हरणस्वरूप श्रीकृष्ण को ले सकते हैं। (3) **शठ**—यह नायक अन्य स्त्रियों से भी प्रेम प्रकट अवश्य करता है परन्तु निर्लज्जता के साथ नहीं। (4) **धृष्ट**—यह नायक खुले रूप में दुराचार करता है और निर्लज्ज भी होता है। वह अपनी स्त्री का दिल दुखाने में भी नहीं चूकता।

विदूषक—संस्कृत नाटकों में रहस्योद्घाटन के लिए बिदूषक का प्रयोग किया जाता था। अंग्रेजी नाटकों में इस प्रकार के पात्र को क्लाउन कहते हैं। यह पात्र नाटक के गम्भीर वातावरण में हास्य की पुट लाता है। नायक का यह विश्वासपात्र होता है। संस्कृत-नाटकों में उसका ब्राह्मण होना आवश्यक था। नायक के प्रेम-कार्य में यह विशेष सलाहकार रहता है।

अन्य पात्र—नायक और विदूषक के अतिरिक्त प्रतिनायक, नायिका, प्रति-नायिका यह तीन अन्य प्रधान पात्र होते हैं। नायक का कार्य बिना प्रतिनायक के सम्पन्न हो ही नहीं सकता और नायिका का इसी प्रकार प्रतिनायिका के

बिना। इसलिए ये पात्र भी नाटक में उतने ही आवश्यक हैं।

चरित्र-चित्रण—नाटक में चरित्र-चित्रण उपन्यास की भाँति विश्लेषणात्मक ढंग से न होकर परोक्ष या अभिनयात्मक ढंग से होता है। नाटक के पात्र एक दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं और कभी-कभी पात्र स्वयं अपने चरित्र का भी उद्घाटन करते हैं। स्वगत-कथा अस्वाभाविक अवश्य लगती है, परन्तु वह चरित्र पर प्रकाश डालने के लिए कहीं-कहीं पर आवश्यक हो जाता है।

रस-सिद्धान्त—रस-सिद्धान्त की विवेचना हमारे यहाँ नाटकों से ही आरम्भ होती है। प्रत्येक नाटक में कोई-न-कोई रस अंगी रूप से ले लिया जाता है और अंग रूप से दूसरे रस भी उसमें आते हैं। पश्चिमी नाटककारों ने इसकी अपेक्षा उद्देश्य को प्रधानता दी है। जैसे हमारे नाटककार किसी प्रधान रस को लेकर रचना करते हैं वैसे पाश्चात्य नाटककार किसी विशेष उद्देश्य को व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से लेकर चलते हैं। यह उद्देश्य आन्तरिक और बाह्य रूपों से सम्बन्ध रखते हैं।

दुखान्त और सुखान्त नाटक—भारतीय साहित्य की आदर्शवादी बपौती है। इसी के आधार-स्वरूप संस्कृत-साहित्य में दुखान्त नाटकों का समावेश नहीं किया गया। अच्छे काम करने वाले का अन्त दुःखमय दिखाकर समाज में अच्छे कामों के प्रति अभिरुचि नहीं हो सकती। यही कारण था कि नाटक में घोर करुणा रस का प्रवाह होने पर भी नाटककार उन्हें अन्त में सुखान्त ही कर देते थे। पाश्चात्य साहित्य में आदर्शवादिता का अभाव और यथार्थवादिता की प्रधानता मिलती है। दुखान्त नाटक में दर्शक की सहानुभूति पात्रों के साथ स्वाभाविक रूप से हो जाती है। इस स्वाभाविक आकर्षण को भारतीय कलाकारों ने कला की कमजोरी मानकर उसे नहीं अपनाया। साथ ही भारतवासी जीवन का आदर करते थे और मंच पर मानव को इस प्रकार कष्ट होता हुआ देखकर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि भारतीय नाटककारों ने दुखान्त नाटक न लिखकर सुखान्त नाटक ही लिखे हैं। आज के युग में दुखान्त नाटक का लिखा जाना भी प्रारम्भ हो गया है।

अभिनय—अभिनय नाटक का प्रधान अंग है। भरत मुनि ने अभिनय की विशद विवेचना की है। अभिनय के चार प्रधान प्रकार हैं। (१) **आंगिक**—आंगिक अभिनय का सम्बन्ध पात्रों के रंगमंच पर अंग-संचालन-विधि से है। वह किस प्रकार चलता है, उठता है, बैठता है, हाथ चलाता है, पैर चलाता है, नेत्र घुमाता है, भौंहें चलाता है, मुस्कराता है इत्यादि। (2) **वाचिक**—इसके अन्तर्गत वाणी और स्वर का सम्बन्ध है। वाणी द्वारा आंगिक अभिनय को स्पष्टता मिलती है। भरत मुनि ने वाणी के अभिनय में स्वर-शास्त्र, व्याकरण तथा छन्द-शास्त्र को लिया है। इसके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न श्रेणी के पात्रों से भिन्न-भिन्न स्वराघात के साथ भाषा बुलवाई जाती है। (3) **आहार्य अभिनय**—इसके अन्तर्गत

पात्रों के विभिन्न प्रकार के आभूषणों, वस्त्रों और उनके रंगों का विवेचन किया जाता है। पात्रों के वर्णों का भी सम्बन्ध **आहार्य अभिनय** से ही है। (4) **सात्विक अभिनय**—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कम्पन और अश्रुप्रभृत्ति द्वारा अवस्थानुकरण को सात्विक अभिनय कहते हैं।

वृत्तियाँ—नाटक में चार वृत्तियां होती हैं (1) **कौशिकी वृत्ति**—इसका सम्बन्ध शृंगार और हास्य से है। (2) **सात्विती वृत्ति**—इसका सम्बन्ध शौर्य, दान, दया और दाक्षिण्य इत्यादि से है। (3) **आरभटी वृत्ति**—माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष, आघात-प्रतिघात इत्यादि इसके अन्तर्गत आते हैं। (4) **भारती वृत्ति**—इसका सम्बन्ध स्त्रियों से न होकर पुरुष नटों से रहता है। साहित्य-दर्पणकार का मत है कि यह सभी रसों में प्रयोग की जाती हैं। इनका सम्बन्ध केवल शब्दों से है।

रूपकों के भेद—नाटक शब्द से रूपक शब्द अधिक व्यापक है। इसलिए भारतीय नाट्य-शास्त्रज्ञों ने रूपक शब्द का ही प्रयोग किया है। रूपक रस प्रधान होते हैं और उपरूपक भाव-प्रधान। रूपक दस प्रकार के होते हैं। (1) **नाटक**—नाटक में पाँच संधियाँ, चार वृत्तियाँ और चौंसठ संध्य माने गए हैं। पाँच से दस तक अंक इसमें होते हैं। इसका विषय कल्पित नहीं होता और नायक धीरोदात्त होता है। उदाहरण में भवभूति के उत्तर-रामचरित नाटक को ले सकते हैं। (2) **प्रकरण**—इसकी कथावस्तु नाटक की-सी होती है, परन्तु इसका विषय कल्पित होता है। शृंगार-रस की इसमें प्रधानता रहती है। (3) **भाण**—यह एक अंक और एक पात्र होता है। इसमें धूर्त पात्र हास्य-प्रधान अभिनय करके दर्शकों को हँसाता है। (4) **व्यायोग**—यह वीर रस प्रधान एकांकीय नाटक होता है। इसमें स्त्री पात्र का अभाव रहता है। (5) **समवकार**—१२ तक इसके नायक हो सकते हैं। देवता और दानवों की इसमें कथा रहती है। (6) **डिम**—इसमें ४ अंक और १६ नाटक होते हैं। रौद्र रस का इसमें प्राधान्य रहता है। (7) **ईहा-मृग**—इसमें धीरोदात्त नायक और एक प्रतिनायक रहता है। इसमें चार अंक होते हैं और कथा में प्रेम-प्रधान रहता है। (8) **अंक**—यह एक अंक का करुण रस प्रधान नाटक होता है। (9) **बीथी**—यह शृंगार रस का कल्पित एक अंक का नाटक होता है। (10) **प्रहसन**—इसमें हास्य रस की प्रधानता रहती है। उपरूपकों के यह अठारह भेद हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी-सट्टक, नाट्य-रासक, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य, प्रेंखण, रासक, संलापक श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका, हल्लीश और भाणिका।

रंगमंच—अभिनय नाटक का प्रधान गुण है और इसके लिए रंगमंच की आवश्यकता है। हिन्दी का रंगमंच अपूर्ण और अधूरा है। भरत मुनि ने तीन प्रकार की नाट्यशालाएँ बतलाई हैं—चतुरस्त्र, विकृष्ट और व्यस्य। वर्तमान युग में रंगमंच बहुत उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका है। बिजली ने रंगमंच में

कुछ ऐसी विशेषताएं पैदा कर दी हैं कि दर्शक देखकर चकित रह जाता है। नवीन अविष्कारों ने रंगमंच के उत्थान में बहुत सहयोग दिया है। जो नाटक रंगमंच पर सफल नहीं हो सकते वह अधूरे हैं और उन्हें वह सम्मान प्राप्त नहीं हो सकता जो रंगमंच पर सफल उतरने वाले नाटकों को प्राप्त होगा।

इस प्रकार हमने रूप-शीर्षक के अन्तर्गत नाटक के प्रधान तत्त्वों, नाटक की कथावस्तु, संधियाँ, अर्थप्रकृतियाँ, कथोपकथन, पात्र चरित्र-चित्रण, रस-सिद्धान्त, वृत्तियाँ और रंगमंच पर विचार किया। यह नाटक के प्रधान तत्त्व हैं और उत्तम नाटककार इन सबका सामंजस्य करके अपने ग्रन्थ की रचना करता है।

50-उपन्यास क्या है ?

उपन्यास की परिभाषा विद्वानों ने कई प्रकार से की है। कविता की परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ हैं। किन्हीं दो विद्वानों की राय नहीं मिलती। उपन्यास के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जिस पर सभी लोग सहमत हों। उपन्यास के विषय में मुँशी प्रेमचन्द इस प्रकार लिखते हैं—

'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

जैसे दो आदमियों की सूरतें नहीं मिलतीं, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नहीं मिलते। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिनय में भिन्नता और विभिन्नता में अभिन्नता दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। हमारा चरित्राध्ययन जितना ही सूक्ष्म—जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रों का चित्रण कर सकेंगे।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार को चरित्रों का चित्रण करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिए—उसमें अपनी तरफ़ से काँट-छाँट, कमी-वेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए चरित्रों में कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए।

यहीं से उपन्यासकारों के दो वर्ग हो जाते हैं। एक आदर्शवादी वर्ग और दूसरा यथार्थवादी वर्ग।

यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न-रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम अच्छा होता है या कुचरित्रता का परिणाम बुरा—उसके चरित्र अपनी कमजोरियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं। संसार में सदैव नेकी और बदी का फल बन्द नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है। नेक आदमी धक्के

खाते हैं, यातनाएँ सहते हैं; मुसीबतें झेलते हैं और अपमानित होते हैं। नेकी का फल उलटा मिलता है। बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं। यशस्वी बनते हैं। उनको बदी का फल उलटा मिलता है। यथार्थवाद अनुभव की बेड़ियों से जकड़ा होता है और क्योंकि संसार में बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल-से-उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ दाग धब्बे रहते हैं; इसलिए यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं: हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है। मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है और हमको अपने चरित्रों की बुराई नजर आने लगती है।

इसमें सन्देह नहीं कि समाज की कु-प्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना, बहुत सम्भव है, हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम लें और चित्र को उससे काला नहीं दिखाएँ जितना वह वास्तव में है, लेकिन जब वह दुर्बलताओं का चित्रण करने में शिष्टता की सीमाओं से आगे बढ़ जाता है, तो आपत्तिजनक हो जाता है। फिर, मानव-स्वभाव की विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नहीं कर सकती। वह थोड़ी देर के लिए ऐसे संसार में उड़कर पहुँच जाना जाहता है, जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले—वह भूल जाए कि मैं चिन्ताओं के बन्धन में पड़ा हुआ हूँ; जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों; जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल में ख्याल होता है कि जब हमें किस्से-कहानियों में भी उन्हीं लोगों से साबका है जिसके साथ आठों पहर व्यवहार करना पड़ता है, तब फिर ऐसी पुस्तक पढ़ें ही क्यों ?

यथार्थवाद यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धांतों की मूर्ति-मात्र हों और जिनमें जीवन न हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नहीं है लेकिन उस देवता में प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिए वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं जहाँ यथार्थ और आदर्श दोनों का समावेश हो गया है। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।

चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं कि वह निर्दोष हो,—महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ-न कुछ कमजोरियाँ होती हैं—चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने में कोई

हानि नहीं होती बल्कि, यही कमजोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ नहीं सकेंगे। उस चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, केवल मनोरंजन-मात्र हो सकता है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ आत्म-परिष्कार भी है। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों, मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारी मनुष्यता को जगाता है, हम में सद्भावों को भरता है और हमारी दृष्टि को फैलाता है।"

इस प्रकार मुंशी प्रेमचन्द जी ने उपन्यासों के दो भेद किये, एक यथार्थवादी और दूसरा आदर्शवादी। इन दो भेदों के अतिरिक्त भी उपन्यासों के अनेकों भेद और उपभेद होते हैं।

कथा-प्रधान उपन्यास—कथा-प्रधान उपन्यास में लेखक का ध्यान विशेष रूप से उपन्यास की कथा और घटनाचक्रों पर रहता है। वह पाठक को कथा के सौन्दर्य में फँसाकर रखता है और उसी सौन्दर्य से अपने उपन्यास को रोचक बनाने का प्रयत्न करता है। कथा का तारतम्य कहीं पर टूटने नहीं देता। जासूसी उपन्यासों में विशेष रूप से यह सौन्दर्य मिलता है। इन उपन्यासों में घटनाओं का जमाव इतना रोचक और सुव्यवस्थित होता है कि पाठक एक बार कथा प्रारम्भ करके फिर समाप्त करने से पूर्व छोड़ नहीं सकता। यह उपन्यास का प्रकार भी है और एक गुण भी। इन उपन्यासों में घटनाओं की जादूगरी के लिए ही प्रधान स्थान रहता है। जीवन पर इन उपन्यासों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता और यदि पड़ता भी है तो यह उपन्यास व्यसन के ही रूप में पड़ता है। क्योंकि जीवन के रहस्य के विषय में वह कुछ कहते ही नहीं हैं।

चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यास—चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यासों में कथा और घटनाओं पर विशेष ज़ोर न देकर चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया जाता है। इन उपन्यासों में जीवन की समस्याओं को लेकर लेखक चलता है और उन्हीं के आधार पर चरित्रों का निर्माण करता है। उसके पात्र समाज के चरित्रों के प्रतीक बनकर चलते हैं और इस रूप में वह न केवल देश और समाज का ही वरन् मानव-जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं। लेखक अपने पात्रों में वह जीवन भरता है जिसकी मानव-समाज को आवश्यकता होती है और साथ-साथ उन्हें उन पात्रों के साथ रखता है जिनके कारण समाज दूषित है, कलुषित है और निन्दित है। चरित्र-चित्रण-प्रधान उपन्यासकार के सम्मुख एक बड़ा भारी उत्तरदायित्व रहता है और चरित्र-चित्रण में जितनी स्वतन्त्रता एक उपन्यासकार को है उतनी अन्य किसी भी साहित्यकार को नहीं है। नाटककार, निबन्धकार, काव्यकार, कवि कोई भी इतनी स्वतन्त्रता से अपने पात्रों का चित्रण नहीं कर सकता जितना एक उपन्यासकार। इसलिए उपन्यास का चरित्र-चित्रण

सबसे पूर्ण रहता है। इस कोटि के उपन्यास सबसे उत्तम कोटि के उपन्यास कहलाते हैं।

सामाजिक उपन्यास—सामाजिक उपन्यासों में समाज के यथार्थवादी चरित्र उपन्यासकार प्रस्तुत करता है। देश और समाज के हित के लिए ऐसे उपन्यास-कार हितकर सिद्ध होते हैं और ऐसे उपन्यासकारों को समाज में प्रसिद्धि भी अधिक मिलती है। इस प्रकार के उपन्यासों में क्योंकि समाज को अपने चित्र देखने को मिलते हैं इसलिए उसे सबसे अधिक प्रिय इसी प्रकार की रचनाएँ होती हैं। चरित्र-चित्रण भी लेखक कई प्रकार से करते हैं। एक तो केवल ऊपरी परिस्थितियों को लेकर वर्णनात्मक रूप से करते हैं और दूसरे मनोवैज्ञानिक रूप से करते हैं। मुं० प्रेमचन्द के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिकता न मिलकर वर्णना-त्मकता अधिक मिलती है। आज के उपन्यासकारों में मनोवैज्ञानिकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

ऐतिहासिक उपन्यास—ऐतिहासिक उपन्यास कथा-प्रधान भी हो सकते हैं और चरित्र-चित्रण-प्रधान भी। इन उपन्यासों में पात्र और कथा इतिहास में से ली जाती हैं। ऐतिहासिक कहने का अर्थ यह नहीं होता है कि उनमें इतिहास के आधार पर कोरी कथा-मात्र का वर्णन होता है। उपन्यासकार अपनी कल्पना के आधार पर इसमें रोचकता पैदा करने के लिए उलट-फेर भी कर सकता है, परन्तु वह उलट-फेर इतना अधिक नहीं होना चाहिए कि जिससे प्रधान तथ्यों का अनुमान गलत लगने लगे। हिन्दी में श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने इस प्रकार के सुन्दर उपन्यास लिखे हैं।

इस प्रकार हमने उपन्यास-साहित्य पर विचार किया और उपन्यास को किन-किन वर्गों में बाँटा जा सकता है इस भी विचार किया। चरित्र-चित्रण का उप-न्यास में अन्य सभी प्रकार के साहित्य से अधिक क्षेत्र है, इसलिए जीवन की जितनी सुन्दर विवेचना उपन्यास में हो सकती है उतनी न प्रबन्ध-काव्य में हो सकती है और न नाटक या मुक्तक कविता में। निबन्ध और कहानी के तो क्षेत्र ही बहुत सीमित होते हैं इसलिए मानव-जीवन की विवेचना का उपन्यास सबसे अच्छा और व्यापक माध्यम है।

कहानी की रूपरेखा-51

मुंशी प्रेमचन्द के शब्दों में 'आख्यायिका केवल घटना है।' आंशिक रूप में यह सत्य भी है और जिस दृष्टिकोण से मुंशी प्रेमचन्द ने कहानियाँ लिखी हैं वहाँ यह पूर्ण रूप से सत्य थी। परन्तु आज बहुत-सी कहानियों में हमें घटना मिलती ही नहीं, केवल पात्र या परिस्थिति का विश्लेषणात्मक चित्रांकन ही मिलता है। वह भी कहानियाँ हैं और बहुत कला-पूर्ण कहानियाँ। प्रेमचन्द जी

ने स्वयं भी लिखा है, 'वर्तमान आख्यायिका (या उपन्यास) का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ या पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है। उदाहरणतः मेरी 'सुजान भगत', 'मुक्ति-मार्ग', 'पंच परमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' इत्यादि कहानियों में एक-एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।" इस प्रकार प्रेमचन्द जी के विचारानुकूल यदि हम कहानी की परिभाषा दें तो यों कह सकते हैं कि कहानी एक घटना है जिसका स्थान मानव के मन में भी हो सकता है और जीवन की बाह्य परिस्थिति में भी।

आज की कहानी नानी-धेवते की कहानी न होकर कला-पूर्ण मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्‌घाटन है। किन्तु जब कहानी मनोवैज्ञानिकता से न फिसलकर मनोरंजन के क्षेत्र में आ जाती है तो उसकी परिभाषा हमें फिर बदलनी पड़ती है। यह सर्वदा नहीं होता कि सभी कहानियाँ किसी लक्ष्य, धर्म अथवा नीति और समस्या को ही लेकर लिखी जायें। कितनी ही रचनाएँ लेखक की कल्पना पर आधारित रहकर उसकी कला के चमत्कारस्वरूप ही प्रस्फुटित होती हैं। उनमें सौन्दर्य होता है, चमत्कार होता है, हृदय-ग्राहिता होती है परन्तु समस्या या मनोवैज्ञानिकता नहीं होती और इस प्रकार की कुछ कहानियाँ संसार-साहित्य में उच्च कोटि की कहानियाँ हैं। उदाहरण-स्वरूप हम 'गिफ्ट आफ मैगी' को ले सकते हैं। कहानी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है और साथ ही उसकी टैकनीक भी एक प्रकार की नहीं होती। वह अनेकों प्रकार की होती हैं। जिस प्रकार प्रबन्ध-काव्य और नाटक से उपन्यास का क्षेत्र अधिक व्यापक है उसी प्रकार निबन्ध, मुक्तक-कविता और गद्य-गीत इत्यादि से कहानी का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है।

कहानी में मानव-अमानव सभी प्रकार के पात्र लिये जा सकते हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में वर्तमान कहानी का प्रारम्भिक रूप भी देखने को नहीं मिलता, क्योंकि कहानी और उपन्यास संस्कृत-साहित्य की देन नहीं हैं। फिर भी संस्कृत-साहित्य में कुछ कहानी के आकार की रचनाएँ अवश्य मिलती है जिसमें गम्भीर विषयों को सरल बनाकर समझाने का विद्वानों ने प्रयत्न किया है। जावालि और नचिकेता के उपाख्यान इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। ऋग्वेद की अपाला की कथा और ब्राह्मणों की बामदेव और रोहित की कथाओं में भी कहानी का ही रूप मिलता है। संस्कृत-साहित्य के पश्चात् हमें बौद्ध भिक्षुओं की जातक कथाएँ मिलती हैं। यह कथाएँ मध्य एशिया, यूरोप, अरब, मिश्र इत्यादि प्रदेशों तक बौद्ध भिक्षुओं द्वारा पहुँचीं। ३०० ई० पू० डेमी ट्रीमिस ने यूनान में इनका संग्रह किया और बाद में यही संग्रह 'ईसप की कहानियाँ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यूरोप के सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य पर इन कहानियों का प्रभाव मिलता है। जातक कथाएँ पाली और प्राकृत भाषा में लिखी गई

थीं । अपभ्रंश और पैशाचिक भाषाओं में भी इन बौद्ध-कथाओं के आधार पर कथाओं की रचना हुई । गुणाड्य की 'बृहत्-कथा' 600 ई० पू० में लिखी गई । यह ग्रन्थ अब नहीं मिलता परन्तु संस्कृत 'बृहत्-कथा-मंजरी' 'कथा-सरित्सार' में इसकी कथाएँ मिलती हैं । यह कथाएँ आरम्भ में उपदेशात्मक प्रवृत्ति को लेकर लिखी गईं परन्तु धीरे-धीरे यह मनोरंजकता की ओर बढ़ती गईं । 'दशकुमार-चरित्' की रचना तक इन कथाओं में धार्मिक प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होकर साँसारिकता आ गई ।

आज की कहानी का इस प्राचीन कहानी-साहित्य से कोई सम्बन्ध नहीं और न ही यह साहित्य उस प्राचीन साहित्य की देन ही है । आज के युग का कथा-साहित्य पूर्ण रूप से पश्चिम की उपज है । 19वीं शताब्दी के पूर्व कहानी अपने वर्तमान रूप में नहीं थी । परन्तु उपन्यास और नाटक इत्यादि में कथा के तत्त्व वर्तमान थे । कहानी ने नाटक से कथोपकथन और नाटकीयता ली और उपन्यास से चरित्र-चित्रण । काव्य से कहानी ने प्रकृति-चित्रण और रसात्मकता ली । इस प्रकार वर्तमान कहानी ने नाटक, काव्य और उपन्यास तीनों तत्त्वों का अपने में सामंजस्य करके पाठकों का मनोरंजन किया । तीन तत्त्वों की प्रधानता होने के कारण ही आज कहानी-साहित्य ने जो सर्वप्रियता प्राप्त की है वह साहित्य का कोई भी अंग प्राप्त नहीं कर सका ।

कहानी में एक भाव, एक घटना, एक स्थान और एक चरित्र-चित्रण होने की आवश्यकता होती है, परन्तु यह प्रतिबन्ध निभाने कभी-कभी लेखक के लिए कठिन हो जाते हैं, कथानक से इन सब का सम्बन्ध है । कहानी एक उद्देश्य या दृष्टिकोण को लेकर चलती है तो उसमें आद्योपांत भाव की एकता भी रहेगी । कहानी का बीज-वस्तु एक और स्पष्ट होना चाहिए । लेखक को लिखते-लिखते बीज-वस्तु से बहककर इधर-उधर नहीं निकल जाना चाहिए । कथा का कथानक बीज-वस्तु पर ही केन्द्रित रहकर चलना चाहिए । कथा के तीन अंग होते हैं—आरम्भ, कथानक और अन्त । परन्तु इन सब का विभाजन करके ही लेखक लेखनी उठाए यह आवश्यक नहीं । कथा सर्वदा सुसंगठित रहनी चाहिए । कथा में जहाँ तक हो सके एक ही घटना रखी जाय और यदि एक से अधिक रखनी अनिवार्य हो जायँ तो उनका पारस्परिक सूत्र सुदृढ़ होना चाहिए । कथा में पात्र जितने कम हों उतना अच्छा है । व्यर्थ के पात्र तो होने ही नहीं चाहिएँ । कथावस्तु स्वाभाविक, सरल और मनोरंजक होनी चाहिए, जिससे पाठक उसे पढ़ने में उकता न जाए । कथा सांकेतिक हो तो और भी अच्छा है । कथा का प्रवाह टूटना नहीं चाहिए और न ही उसमें बाधा पड़नी चाहिए । कहानी अप्रतिपादित वस्तु की ओर कलात्मक रूप से संकेत करने वाली होनी चाहिए । उसे इतिवृत्तात्मक कथा-मूलक निबन्ध की भाँति नहीं लिखा जा सकता । कला होने के नाते इसमें साँकेतिक प्रवृत्ति का आना बहुत आवश्यक है ।

वर्तमान कहानियों में चरित्र का निर्माण मनोविज्ञान के आधार पर होता है। केवल समस्यामूलक कहानियों में ही हमें चरित्र-चित्रण मिलता है कथा-प्रधान कहानियों में नही। पात्र-प्रधान कहानियों में पात्रों का विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। चरित्र-चित्रण उपन्यास का विषय अवश्य है परन्तु चरित्र का 'निर्माण' कथा में ही होता है और उसका विकास और विश्लेषण उपन्यास में हो पाते हैं। पात्र-प्रधान कहानी में चरित्र-चित्रण प्रधान है और मनोवैज्ञानिक कहानियों में समस्या का उद्घाटन। परन्तु समस्या के उद्धाटन में चरित्र-चित्रण कुछ-कुछ अंशों में अवश्य आ जाता है। यहाँ तक हम कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण पर विचार कर चके। अब हमें शैली पर विचार करना है।

शैली का सम्बन्ध कला के विषय और लिखने की प्रणाली से विशेष होता है। शैली विषय, और लेखक की प्रणाली तथा भाषा तीनों के सामंजस्य से बनती है। वस्तु-प्रधान, कथोपकथन-प्रधान, दृश्य-चित्रण-प्रधान तथा सम्बोधन प्रधान शैलियों द्वारा कहानियाँ लिखी जाती हैं। कुछ कहानियाँ केवल कथोपकथन के आधार पर चलती है। जयशंकर 'प्रसाद' जी की कहानियाँ इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। कुछ कहानियों में कथोपकथन तथा वस्तु-वर्णन दोनों का सामंजस्य करके कहानीकार चलता है और इस सम्मेलन को बहुत कला-पूर्ण ढंग से निभाता है। कुछ लेखक अपनी शैली में सम्बोधन पर विशेष जोर देते हैं तो उनकी शैली सम्बोधन-प्रधान कहलाती है। कुछ शैलियाँ विचारों के आधार पर बनती हैं। कुछ लेखक की भाषा के आधार पर बनती हैं और कुछ व्यक्ति-प्रधान शैलियाँ होती हैं। इस प्रकार हमने कहानियों की विभिन्न शैलियों पर प्रकाश डाला है। इसे पढ़ने पर विद्यार्थियों को इस विषय का ज्ञान हो जायगा और वह स्वयं भी विभाजन करके नवीन शैलियों के नामकरण कर सकते हैं।

इस प्रकार कहानी वह साहित्य-कला है जो आज के हर पाठक को सर्वप्रिय है और विशेष रूप से भावुक प्रेमियों को। साहित्य का यह अंग अन्य सभी अंगों की अपेक्षा अधिक वृद्धि कर रहा है और करेगा भी क्योंकि जीवन की समस्याओं का सब से मनोरंजक रूप केवल यही साहित्य-कला प्रस्फुटित कर सकती है।

52-समालोचना और साहित्य का सम्बन्ध

समालोचक साहित्यकार का पथ-प्रदर्शक होता है और आलोचना-साहित्य का निर्धारित मार्ग। आलोचना के विषय में पहिले एक बात समझ लेनी चाहिए कि इस विषय पर लेखनी उठाने का साहस केवल विषय के पंडितों को ही करना चाहिए अन्यथा वह आलोचना पथ-भ्रष्ट करने वाले मूर्ख गाइड का

कार्य करेगी जिससे लेखक, रचना और विशेष रूप से साहित्य की हानि होगी। आलोचना करने का अधिकार केवल उस व्यक्ति को ही है जो विषय का भली प्रकार ज्ञाता हो, विषय के ऊँच-नीच को समझता हो तथा उसके पक्ष और विपक्ष पर अपनी राय प्रकट कर सके।

आलोचना-क्षेत्र में जो कुछ भी कार्य हुआ है वह गद्य-युग में ही समझा जा सकता है। वैसे संस्कृत-साहित्य में भी हमें बड़े-बड़े ग्रन्थों के भाष्य मिलते हैं और उसकी सुन्दर टीकाएँ भी हुई हैं परन्तु उस काल की और वर्तमान काल की टीका-प्रणाली में महान् अन्तर है। प्राचीन आलोचना को हम समालोचना कहें, भाष्य कहें, टीका कहें, प्रशंसा कहें या और भी इसी प्रकार का कोई शब्द खोजा जा सकता है, परन्तु यह मानना होगा कि आचार्यों ने सभी ग्रन्थों के केवल एक पहलू पर विचार किया है या दूसरे पर नहीं। यदि प्रशंसा करने पर तुल गये हैं तो राई को पर्वत कर दिया है और यदि बुराई पर उतर आये हैं तो पर्वत को राई बना दिया है। संस्कृत-साहित्य के महावीरप्रसाद द्विवेदी-युग तक हमें यह प्रणाली देखने को मिलती है। पं० पद्मसिंह शर्मा की बिहारी सतसई की टीका को देखने से यह पता चलता है कि शर्मा जी ग्रन्थ हाथ में लेकर इस बात पर तुल गये थे कि उन्हें ग्रन्थ की प्रशंसा ही करनी है। यदि ग्रन्थ में कहीं पर ज्योतिष का कोई शब्द आ गया है तो वैद्यराज। इसी प्रकार एक-एक शब्द से शर्मा जी ने बिहारी को न जाने कितनी उन विद्याओं का प्रकांड पंडित ठहराया है जिन्हें एक-एक को सीखने में मनुष्य का जीवन चला जाता है और उनका अध्ययन समाप्त नहीं होता।

खैर, यह थी प्राचीन प्रणाली। आज का आलोचक या समालोचक इस दृष्टिकोण से यदि चलेगा तो वह लेखक का तो मार्ग अवरुद्ध करेगा ही अपना भी मार्ग अवरुद्ध कर लेगा। आज केवल तारीफ़ करने वाली आलोचना काम नहीं देती। समालोचक को विषय का विश्लेषण करना होता है। विषय के अच्छे-अच्छे तत्त्वों को एक ओर निकालना होता है और न्यूनता प्रदर्शित करने वाले तत्त्वों को एक तरफ़। फिर समालोचक को यह भी प्रदर्शित करना होता है कि लेखक के उन तत्त्वों में कमी रह जाने का कारण क्या है और जिन तत्त्वों में सौन्दर्य आया है, उनमें सौन्दर्य लेखक की किस विशेषता के कारण आया। आज के समालोचक को रचना के साथ-साथ लेखक को भी समझना होता है। समालोचक का कर्त्तव्य केवल अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा भर कह कर समाप्त नहीं होता। यदि वह किसी चीज़ को बुरा कहने का साहस करता है तो उसे अच्छी वस्तु का उदाहरण देना होता है, उसके अनुकूल परिस्थितियों का संकेत करना होता है और लेखक के सम्मुख एक सुझाव रखना होता है जिससे वह भविष्य में इस प्रकार की भूल अपनी रचनाओं में न करे। ऐसा करने का साहस साधारण समालोचक नहीं कर सकता।

समालोचना पर साहित्य का भविष्य आधारित है। यदि आलोचनाएँ उचित हैं और उनका मार्ग-प्रदर्शन ठीक है तो कोई कारण नहीं कि साहित्य का भविष्य उज्जवल न होगा और यदि आलोचनाओं में स्वार्थ और द्वेष की बदबू आती है तो समझ लो कि उन आलोचनाओं से प्रभावित होने वाला साहित्य भी सड़ जाएगा और एक-न-एक दिन उससे भी बदबू आने लगेगी। यदि अच्छे लेखक को प्रोत्साहन न मिला तो वह लिखना बन्द कर देगा और यदि खराब लेखक की प्रशंसा हुई, उसे प्रोत्साहन मिला तो वह अपनी त्रुटियों को साहित्य में ज्यों-का-त्यों रखकर गले-सड़े साहित्य-भडांर को भर देगा और कोई कारण नहीं है कि फिर उसके सम्पर्क में आकर अच्छे साहित्य में भी सड़न पैदा न हो जाय। अच्छे लेखक उसका अनुकरण करना आरम्भ कर देंगे और इस प्रकार एक ऐसी गलत प्रणाली का साहित्य में आविष्कार होगा कि आवे का आवा ही खराब हो जाएगा और फिर कुम्हार के उस आवे में से जो बर्तन भी निकलेगा वह या तो टूटा हुआ होगा, या कच्चा होगा। परिपक्वता नहीं आ पायेगी और साहित्य में एक कमज़ोर उथलापन आ जाएगा। वह साहित्य उच्च कोटि के साहित्यों में गिना जाना बन्द हो जाएगा। वह अन्य साहित्य से दौड़ में पछड़कर पीछे रह जाएगा और इस सबका दोष जायगा समालोचकों के सिर पर।

समालोचना स्वयं भी एक साहित्य है। यह न केवल साहित्य के समझने में सहायक के रूप में ही प्रशंसनीय है वरन् स्वतन्त्र रूप से भी अपने में अपनापन रखती है। कहानी, उपन्यास इत्यादि के पढ़ने में जिस प्रकार पाठक अनान्द-लाभ करते हैं उसी प्रकार अच्छी समालोचना के पढ़ने पर भी पण्डितों के सिर झूम जाते है और वह लेखक के प्रति वाह-वाह कहे बिना नहीं रहते। समालोचना उथला विषय नहीं है, गूढ़ विषय है, खोज का विषय है जिसमें लेखक को मस्तिष्क और भावुकता दोनों से काम लेना होता है। लेखक की खोज करते हुए भी समालोचक को लेखक के प्रति भावुकता को नहीं खो देना होगा। समालोचक चाहे डाक्टर की भाँति लेखों को काट-छाँटकर फेंक दे परन्तु उसका उद्देश्य सर्वदा लेखक का सुधार करना ही होना चाहिए। नश्तर मारने वाला डाक्टर भी हमें प्रिय लगता है और वह समाज का सबसे बड़ा हितैषी है। इसी प्रकार समालोचक भी साहित्य का सबसे बड़ा हितैषी होता है। डाक्टरों की भाँति इनके भी दो भेद हैं। एक वह जो मीठी तथा पैनी छुरी से काम लेता है और दूसरा वह जो भावुकता को पास तक नहीं फटकने देता। वह यदि कोनैन देना चाहता है तो खाँड़ चढ़ी हुई गोलियाँ नहीं देता, बस साधारण ही दे डालता है।

इस प्रकार समालोचना साहित्य का प्राण है, स्फूर्ति है। मार्ग-दर्शक है, न्यूनता-निवारण-विधि है, सहयोग है, प्रोत्साहन है, क्या नहीं है आलोचना,

यदि वह वास्तव में अपने कर्त्तव्य को समझकर लिखी गई है। एक बच्चे का बनना और बिगड़ना जिस प्रकार एक शिक्षक पर आधारित है उसी प्रकार एक लेखक का बनना और बिगड़ना उसके समालोचकों पर आधारित है।

काव्य में रस और अलंकार का स्थान-53

साहित्य के आचार्यों में काव्य के विषय में दो प्रधान विचारधारा मिलती हैं। एक चमत्कारवादी विचारधारा और दूसरी रसवादी विचारधारा। रीति-काल में विशेष रूप से जिस धारा का जोर रहा वह अलंकारवादी विचारधारा है। शेष सभी कालों में रसवादी धारा का प्राधान्य मिलता है। अलंकारवादी विचारधारा के दो प्रवाह हिन्दी-साहित्य में आये, एक केशव द्वारा, जिसमें मम्मट और उद्भट का अनुकरण किया गया था। इस चमत्कारवादी काव्यधारा में प्रवाहित होने वाले कवि कविता को अलंकारों के लिए मानते थे। वहाँ वाह-वाह का बोलबाला रहता था और हृदय को छूने वाले तत्त्वों का अभाव। केशव की तमाम रामचन्द्रिका को पढ़ जाने पर भी कहीं एक पंक्ति भी ऐसी न मिलेगी जिसे पढ़कर पाठक एक क्षण के लिए भी हृदय थामकर बैठ जाय। हाँ, यह अवश्य है कि यदि पण्डित है तो वह शब्दों की उछल-कूद पर वाह-वाह हर पद पर कर सकता है। चमत्कार-प्रधान कविता लिखने वाले कवियों में बिहारी को हम अपवादस्वरूप ले सकते हैं, क्योंकि उसकी कविता में चमत्कार की प्रधानता होते हुए भी रस का नितान्त अभाव हो, ऐसी बात नहीं है।

अलंकार का अर्थ है 'सौन्दर्यवर्धक आभूषण'। आभूषण किसी भी वस्तु का बाह्य रूप बन सकता है, अंतरंग नहीं। बाह्य रूप कितना भी सुन्दर क्यों न हो जब तक उसमें प्राण न हों, जीवन का रस न हो तब तक वह बाह्य रूप व्यर्थ ही रहता है। 'रस' का सम्बन्ध काव्य के बाह्य रूप से न होकर उसकी आत्मा से होता है। काव्य की आत्मा में जीवन-स्फूर्ति लाना, मादकता लाना, हृदय-ग्राहिता लाना, यह सब रस का कार्य है। यदि 'अलंकार' काव्य में आकर्षण पैदा करता है तो 'रस' काव्य को जीवन प्रदान करता है। जिस प्रकार एक पत्थर की सुन्दर मूर्ति को आभूषण से लादने पर भी वह चल नहीं सकती, चाहे संगतराश ने उसे कितना ही सुन्दर क्यों न बनाया हो और उसका अङ्ग-अङ्ग आभूषणों से लदा हुआ क्यों न हो, उसी प्रकार काव्य भी बिना रस के उसी सुन्दर प्रस्तर-मूर्ति के समान है यदि उसमें रस का संचार नहीं। इसका संचार काव्य की प्रधान आवश्यकता है।

रस का सम्बन्ध संचारी भावों और उद्भावों से है और उन्हीं का आश्रय लेकर वह परिपक्व अवस्था तक पहुँचता भी है। रस विहीन काव्य उस खोई के

पट्ठे के समान है जिस गन्ने को कोल्ह में पेलकर रस निकाल लिया गया हो और वह सूखा पट्ठा अवशेष रह गया हो। अलंकारों से काव्य का सौन्दर्य बढ़ता है, उसमें प्रभावोत्पादकता आती है, भाषा में सौन्दर्य आ जाता है और कहीं-कहीं पर चमत्कार रस-प्रवाह में भी सहायक होता है परन्तु फिर भी अलंकारों का प्रयोग सोच-समझकर करना होता है, आँख मींचकर नहीं। घी बल-वर्द्धक पदार्थ है परन्तु अधिक पी लेने से हानिप्रद ही सिद्ध होता है। मात्रा से अधिक अलंकारों का प्रयोग भी काव्य में सौन्दर्य लाने की अपेक्षा उल्टा भद्दापन लाने लगता है और काव्य उनके भार से बोझिल हो उठता है। उनकी दशा ठीक उसी प्रकार की हो जाती है जैसे मानो किसी नाजुक-सी बालिका के गले में पाँच सेर की माला डाल दी जाय, उसके हाथों में दो सेर के कड़े, पैरों में पाँच-पाँच सेर के अभूषण और इसी प्रकार आभूषणों से उसे लाद दिया जाय। अब चाहे वह आभूषण सोने के ही क्यों न हों, और उसमें हीरे-जवाहरात ही क्यों न जड़े हों, परन्तु उस बालिका का बदन तोड़ने के लिए तो वह आभूषण का कार्य न करके हथकड़ी, बेड़ी और तौक़ का कार्य करेंगे और बोझ के कारण उसकी गर्दन ऐसी झुक जायगी कि वह अपने साधारण सौन्दर्य को भी अवशेष नहीं रख सकेगी। उसकी गर्दन झुक जायगी कमर में बल पड़ जाएगा, मुँह पर स्वेद-कण झलक आयेंगे, मस्तक पर उद्विग्नता के चिह्न होंगे और वह अपने को उन आभूषणों से मुक्त करने के लिए छटपटाने लगेगी। अब सोचिए ऐसे आभूषणों से क्या लाभ ? काव्य की दशा भी अधिक अलंकारों के चक्कर में पड़कर ठीक उसी बालिका की ही भाँति होती है। काव्य का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है और अलंकारों की कूद-फाँद नट की कलाबाजी से बढ़कर और कुछ नहीं रहती।

किसी काव्य को सुनकर या अभिनय को देखकर हृदय में जो अकथनीय और अनुपम रस उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं। बुद्धि, कल्पना और अनुराग का आश्रय लेकर कवि काव्य का सृजन करता है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव मानव के मन में उत्पन्न होते रहते हैं। स्थायी भाव स्थिर रहते हैं और अन्य सब परिस्थितियों-वश उत्पन्न होते रहते हैं। "स्थायी भाव विभाव के सहारे उत्पन्न और पोषित होकर अनुभाव रूपी वृक्ष बनता है। फिर संचारी भाव फूल के समान क्षण-क्षण फूलकर इन सबके संयोग से मकरंद रूप रस बनता है जो कि मधुप रूपी कवियों का जीवनाधार होता है।" इससे सिद्ध होता है कि रस स्थायी भाव की परिभाषा की परिपाक अवस्था है और वह हृदय में किसी-न-किसी रूप में हर समय वर्तमान रहती है।

अलंकार दो प्रकार के होते हैं, एक शब्दालंकार और दूसरे अर्थालंकार। शब्दालंकार का सम्बन्ध केवल शब्द तक सीमित रहता है, काव्य के अर्थ से उनका सम्बन्ध नहीं रहता। दूसरे प्रकार के अलंकार अर्थालंकार होते हैं

जिनका सम्बन्ध काव्य के अर्थ से रहता है। प्रथम प्रकार के अलंकार में ध्वनि की विशेषता रहती है और वह संगीत में बहुत सहायक होते हैं। दूसरे प्रकार के अलंकार काव्य में गाम्भीर्य लाते हैं और कवि के पाण्डित्य की कसौटी के रूप में भी हम उन्हें रख सकते हैं। कुछ लोगों का मत है कि अलंकारों के बिना भी कविता अच्छी बन सकती है, अतः ये अनावश्यक हैं परन्तु हम इससे सहमत नहीं। कविता में जहाँ अलंकारों का आधिक्य बुरा लगता है, वहाँ इनका अभाव भी अखरने लगता है। यत्र-तत्र अलंकारों के आ जाने से काव्य की रोचकता और सौन्दर्य में वृद्धि होती है। बिना अलंकारों के भी काव्य की शोभा नहीं। क्योंकि शृंगार सौन्दर्यवर्धक होता है और सौन्दर्य बिना काव्य-कला निरर्थक है।

रस नौ हैं 'शृंगार', 'हास्य', करुणा', 'रौद्र', 'वीर', 'भयानक', 'वीभत्स', 'अद्‌भुत' और 'शान्त' और इनके नौ ही स्थायी भाव हैं जो हृदय में हर समय वर्तमान रहते हैं। नाट्य-शास्त्र में आठ रस माने जाते हैं क्योंकि वहाँ 'शान्त रस' के लिए कोई स्थान नहीं। कुछ विद्वान् 'स्नेह' को स्थायी भाव मानकर 'वात्सल्य' को एक दसवाँ रस मानते हैं। कुछ विद्वान् 'अनुराग' को स्थायी भाव मानकर भक्ति को ग्यारहवाँ रस मानते हैं परन्तु परम्परागत प्रचलित रस नौ ही हैं, क्योंकि 'अनुराग' और 'स्नेह' को पण्डित 'रति' के अन्तर्गत लेकर भक्ति और वात्सल्य को भी शृंगार के ही अन्तर्गत ले लेते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य के लिए अलंकार और रस उसके बाह्य रूप और आत्मा के समान ही कला को जीवित रखने के लिए दोनों ही नितान्त आवश्यक हैं। रस-विहीन काव्य काव्य नहीं है और अलंकार-विहीन काव्य सुन्दर नहीं है। सुन्दर न होने पर भी काव्य अपने आसन से गिर जाता है और उसके पठन-पाठन में जो अलौकिक आनन्द आना चाहिए वह नहीं आ पाता। अन्त में रस और अलंकार के विषय को समाप्त करते हुए हम विद्यार्थियों को यह और बतला दें कि भरत-मुनि और विश्वनाथ जी ने रस को काव्य की आत्मा माना है और यही मत आज के विद्वान् भी मानते हैं। दण्डी, मम्मट आदि का अलंकार को काव्य की आत्मा मानने वाला आज के काव्यकारों के लिए मान्य नहीं है।

काव्य की कसौटी क्या है-54

कोई काव्य हीन है अथवा उत्कृष्ट इसकी कसौटी काव्य के गुण और दोष हैं। इसलिए उस कसौटी का निर्णय करने से पूर्व यह आवश्यक है कि काव्य के उन गुण और दोषों का निर्णय किया जाय कि जिनके आधार पर काव्य की

हीनता और उत्कृष्टता निर्धारित करनी है। आज के समालोचक और प्राचीन विचारकों के मत में अनेकानेक दृष्टिकोणांतर हो गये हैं। प्राचीनतम विचारक अथवा यों कहिए कि काव्याचार्य अलंकार को काव्य की कसौटी मानते थे। इस विचार के प्रवर्त्तकों के रूप में हम मम्मटाचार्य और आचार्य उद्भट को ले सकते हैं। उस समय अलंकार के अन्तर्गत केवल शब्दालंकार और अर्थालंकार ही नहीं आते थे वरन् काव्य के गुण, दोष, शैली इत्यादि सभी विचार इन चमत्कारवादी आचार्यों के विचार से अलंकार के ही अन्तर्गत आ जाते थे।

धीरे-धीरे अलंकार का यह स्थूल विचार खण्ड-खण्ड होकर रसवाद, रीतिवाद, वक्रोक्तिवाद, ध्वनिवाद इत्यादि के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ और आगामी आचार्यों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये। इन सब वादों के आचार्यों ने अपने-अपने वाद को काव्य की कसौटी माना है। परन्तु यदि हम विश्लेषणात्मक रूप से विचार करें तो उनमें से एक भी वाद काव्य की सर्वाङ्गीणता के विचार से सुन्दर काव्य की कसौटी नहीं बन सकता। यह सभी वाद काव्य के आंगिक निरीक्षण में ही सफल हो सकते हैं विषय की सम्पूर्ण-रूप से विवेचना नहीं कर सकते। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीय अर्थ' वाले काव्य को सुन्दर काव्य कहा है। विश्वनाथ ने 'रस' को काव्य की कसौटी माना है। आचार्य उद्भट ने 'अलंकार' को काव्य की आत्मा माना है। आचार्य कुन्तक के विचार से 'वक्रोक्ति'-प्रधान काव्य सर्वोत्तम काव्य है। आचार्य वामन ने 'रीति' को ही काव्य का सर्वोत्तम गुण कहा है। इस प्रकार प्राचीनतावलम्बियों ने काव्य की यह पाँच कसौटियां निर्धारित की हैं। साहित्य के मर्मज्ञों ने इन्हीं पाँच विचारों के मताधीन ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ओर रीति-सम्प्रदाय का निर्माण किया और यह पाँचों धाराएँ समय-समय पर अपनी-अपनी विशेषता के साथ हिन्दी-साहित्य में प्रवाहित होती आ रही हैं।

ऊपर दी गई पाँचों धाराओं के आचार्यों ने अपना मत निर्धारित करने में हठ से काम लिया है, समन्वय की भावना से नहीं। किसी भी विचार के निर्धारित करने में जब हठ से काम लिया जाएगा तो सत्य को तिलांजलि देनी होगी। यही कारण है कि किसी तथ्य-निरूपण में कभी भी हठ से काम नहीं लेना चाहिए। जब हम काव्य की कसौटी पर विचार करते हैं तो हमें विचारना चाहिए कि हमारा विचार किसी भी ऐसी वस्तु पर केन्द्रित न हो कि जिसका सम्बन्ध काव्य के किसी आंशिक रूप से हो। आज का विचारक काव्य के किसी गुण को काव्य की कसौटी न मानकर पाठक या रसिक-हृदय व्यक्ति के हृदय को काव्य की कसौटी मानता है। रसिक-हृदय रचना पढ़कर एकदम कह सकता है कि अमुक काव्य किस श्रेणी का है? जो रचना पाठक के हृदय को जितने निकट से छूने में सफल होती है वह रचना उतनी ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार सुसंस्कृत-रसिक पाठक या श्रोता का हृदय ही उत्तम काव्य की कसौटी

हुआ। सभी रसिक-हृदय व्यक्तियों में अन्तर होता है और फिर संसार के सभी व्यक्ति सुसंस्कृत या रसिक भी नहीं हो सकते। इसलिए वह कसौटी भी सबके लिए मान्य नहीं हो सकती।

वास्तव में काव्य के परखने के लिए किसी निश्चित कसौटी को निर्धारित करना एक समस्या है। काव्य-समीक्षा के लिए किसी निश्चित सिद्धान्त का निरूपण करना कठिन है। किसी भी काव्य को परखने के लिए ऊपर दिये गये वादों को भी ध्यान में रखना चाहिए। यह सत्य है कि उनमें से पूर्ण एक भी नहीं है परन्तु आंशिक रूप से सभी का अच्छे साहित्य में किसी न किसी रूप में समावेश रहा है। रीति वक्रोक्ति और अलंकार यह काव्य के गुण और शैलियाँ भी कही जा सकती हैं। गुण और शैली दोनों का ही काव्य में महत्त्व है। जिस सीमा तक इनका काव्य में महत्त्व है, उसी सीमा तक यह काव्य की कसौटियाँ भी हैं। यह तीनों ही काव्य के गुण हैं, सम्पूर्ण काव्य के नहीं, किसी-किसी काव्य में इनमें से एक की प्रधानता भी हो सकती है और किसी में दो की।

'रीति', 'वक्रोक्ति' और 'अंलकार' के बाद रह जाते हैं 'ध्वनि' और 'रस'। कुछ आचार्य 'ध्वनि' को काव्य मानते हैं और कुछ रस को परन्तु हम इन पाँचों के समन्वय को काव्य कहते हैं। 'ध्वनि' और 'रस' काव्य के प्रधान गुण हैं जिन्हें कि आचार्य आत्मा कहकर पुकारते हैं। काव्य में भाव, विभाव और संचारी भाव, यह सभी खोजने पड़ते हैं परन्तु यह आवश्यक नहीं कि अच्छे काव्य में यह सभी प्रचुर मात्रा में मिल सके। किसी काव्य में किसी विशेष गुण का आधिक्य होता है तो दूसरे में किसी दूसरे का।

ऊपर काव्य के अन्तर्गत जिन-जिन तत्त्वों का हमने विवेचन किया है उनमें बौद्धिक तत्त्व पर विचार नहीं किया गया। आज के युग में मनोविज्ञान का स्थान साहित्य में प्रधान है। केवल रस और ध्वनि के आधार पर कोई साहित्य सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकता। आज का समालोचक साहित्य के अन्य तत्त्वों पर विचार करने से पूर्व मनोवैज्ञानिक तत्त्व को खोजता है। 'रस' का सम्बन्ध हृदय से है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इस प्रकार मानव में हृदय और मस्तिष्क यही दो वस्तु प्रधान प्रतीत होती हैं, जिनका साहित्य से सम्बन्ध है। किसी काव्य में हृदय तत्त्व की प्रधानता रहती है तो किसी में बुद्धि-तत्त्व की। दोनों ही प्रकार के उच्च कोटि के साहित्य हो सकते हैं हिन्दी के भक्ति-साहित्य में हृदय-पक्ष प्रधान है तो संत साहित्य में बुद्धि-पक्ष। जिस साहित्य में दोनों पक्षों का सामंजस्य हो वह सबसे सुन्दर काव्य हो सकता है। इस प्रकार हमने काव्य का विवेचन करके उसके पाँच वादों पर विचार किया और अन्त में काव्य के हृदय-पक्ष और बुद्धि-पक्ष पर दृष्टि डाली। अब प्रश्न रह जाता है उत्तम काव्य की कसौटी के निर्धारित करने का। इसलिए काव्य की कसौटी पाठक का हृदय और उसकी बुद्धि ही ठहरते हैं। इन्हीं दो मानव के पक्षों पर उत्तम काव्य का मापदंड निर्धारित किया जा सकता है।

55-हिन्दू धर्म और उसके धर्म ग्रन्थ

वर्तमान हिन्दू-धर्म प्राचीन आर्यत्व का अवशेष है। जिस समय में आर्य आये तो यहाँ पर द्राविड़ लोग रहते थे। आर्यों ने उनमें कुछ को तो अपना दास बनाकर शूद्र नामकरण कर दिया और उनमें से कुछ दक्षिण भारत को भाग गये। उत्तर भारत पर आर्यों का धीरे-धीरे साम्राज्य स्थापित हो गया और आर्य-धर्म भारत का प्रधान धर्म बन गया।

आर्य ऋषि-मुनियों ने अपने धर्म-ग्रन्थों का निर्माण किया। वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, उपपुराण इत्यादि आर्यों के प्रधान ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये। इनके अतिरिक्त गीता, ब्राह्मण-ग्रन्थ, तंत्र-ग्रन्थ, शठ-दर्शन और उनकी टीकाएँ इत्यादि भी बहुत से ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में रामायण, महाभारत और पुराणों को छोड़कर शेष ग्रन्थों में कर्म-काण्ड और आध्यात्मिक चिन्तन दिया गया है।

मध्य युग में आकर यही आर्य-धर्म हिन्दू धर्म कहलाया और इसमें अनेकों प्रकार के विचारक जन्म लेकर आये। अनेकों वादों का हिन्दू धर्म में उदय हुआ। नये-नये आचार्यों ने अपने नये-नये दृष्टिकोण जनता के सामने रखे और धर्म भी विविध धाराओं में बहने लगा। एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत-वाद यह प्रधान प्रवृत्तियाँ धर्म के क्षेत्र में आ गईं। इस प्रकार आर्यों की प्राचीन और नवीन अनेकों धार्मिक प्रवृत्तियों के साथ अनेकों ग्रन्थ लिखे गये परन्तु जिन्हें हिन्दुओं के प्रतीक-धर्म-ग्रन्थ कह सकते हैं वह केवल रामायण, महाभारत और पुराण ही हैं। हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध केवल इन्ही ग्रन्थों से हैं।

हिन्दू शब्द आर्यों को मुसलमानों ने दिया, जिसका अर्थ 'काफिर' है। यह अपमानसूचक शब्द है परन्तु धीरे-धीरे रूढ़ि हो गया और व्यापक भी। इसी शब्द के आधार पर हमारा धर्म हिन्दू-धर्म हुआ। जिस समय से इस धर्म और संस्कृति के साथ हिन्दू शब्द का सम्मिलन हुआ है उस समय से इस धर्म का ढाँचा इतना सुदृढ़ बना दिया था कि घोर आपत्ति काल में भी धर्म की बराबर रक्षा होती रही और धर्म-वीरों ने प्राणों की आहुतियाँ समय-समय पर दे-देकर भी धर्म की रक्षा की। हिन्दू धर्म के लालों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए हँसने-हंसते बलिदान दिये हैं। गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे, बन्दा वैरागी, हकीकत-राय, स्वामी श्रद्धानन्द इत्यादि के अमर बलिदान हिन्दू धर्म के इतिहास में स्वर्ण अक्षरों से लिखे हुए हैं। उनकी अमर कहानियाँ आज भी धर्मपरायण शिक्षित नारियाँ अपने बच्चों को सुनाकर उनमें धार्मिक भावनाओं का समावेश करती हैं।

हिन्दू धर्म चार प्रधान वर्णों में विभाजित है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र। प्रारम्भ में इन चारों वर्णों का निर्माण जन्म के आधार पर न होकर कर्म के आधार पर हुआ था; परन्तु धीरे-धीरे धर्म में विचारकों का स्थान कर्म-काण्डी रूढ़िवादियों ने ले लिया और कर्म का स्थान भी जन्म ने लेना प्रारम्भ कर दिया। धीरे-धीरे इन चार वर्गों का भी विभाजन होना प्रारम्भ हो गया और हिन्दुओं में अनेकों जातियों का उदय हुआ। अनेकों प्रकार के ब्राह्मण बन गये, अनेकों प्रकार के वैश्य हो गये और इसी प्रकार शूद्रों में भी विभाजन हो गया। हिन्दू धर्म के साथ-ही-साथ हमें भारत में कुछ अर्ध-हिन्दू जातियाँ भी मिलती हैं जिन्हें हम भुलाकर नहीं चल सकते। उदाहरण के लिए सिख सम्प्रदाय और जैनियों को ही ले सकते हैं। इनके धर्म-ग्रन्थ पृथक् अवश्य हैं परन्तु रीति-रिवाजों में यह हिन्दुओं की भाँति गौ-रक्षा करना अपना धर्म समझते हैं, हिन्दू त्यौहारों को मानते हैं।

हिन्दू धर्म में जातियों का उदय हुआ। इससे समाज और धर्म छिन्न-भिन्न होता गया। जाति-विद्वेष की मात्रा बढ़ी और पारस्परिक घृणा को प्रश्रय मिला। जाति के उत्थान में यह सहायक न होकर बाधक हुई। अमानुषिक प्रवृत्तियाँ इन में जागृत हो गई और मानवता तथा सभ्यता का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। जाति-प्रथा का एक लाभ अवश्य हुआ कि इसने किसी-न-किसी रूप में आर्यत्व की शुद्ध रक्तता को स्थायी रखने में सहायता दी।

हिन्दू धर्म आज तक जीवित है तो किस आधार पर? केवल अपने धर्म-ग्रन्थों के आधार पर वह जीवित है। इन्हीं ग्रन्थों ने धर्म को जीवन प्रदान किया है और हिन्दू संस्कृति को धर्म की छाती के रूप में सुरक्षित रखा है। यों जितने भी ग्रन्थ हम ऊपर गिना चुके हैं सभी महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु यहाँ हम विशेष रूप से रामायण और महाभारत पर ही विचार करेंगे, क्योंकि संस्कृति-ग्रन्थ धीरे-धीरे केवल पंडितों का धन बन गये और साधारण जनता का उन तक पहुँचना असम्भव हो गया। जनता ने गीता, रामायण और महाभारत की कथाओं पर ही सन्तोष किया और जो इनसे बढ़े उन्होंने पुराणों तक अपनी पहुँच की। इससे अधिक नहीं।

रामायण—रामायण की रचना महाकवि वाल्मीकि ने की और गोस्वामी तुलसीदास ने उसको भाषा में लिखा। तुलसीकृत रामायण ने जनता में वह सम्मान प्राप्त किया जो सम्भवतः आर्यों के आदि-काल में वेदों ने प्राप्त किया होगा।आज रामचरितमानस हिन्दू धर्म का प्राण है। रामायण आपत्ति काल में सुदृढ़ रहना सिखाती है और कर्त्तव्य परायणता तो उसमें कूट-कूट कर भरी है। रामायण में राम-राज्य का इतना सुन्दर चित्र संसार के सामने रखा है कि आज के युग का महान् राजनीतिज्ञ गांधी भी उससे प्रभावित हुआ और उसने भारत का कल्याण भविष्य में राम-राज्यकी स्थापना में ही सोचा। रामायण,

व्यक्ति के लिए है, समाज के लिए है, धर्म के लिए है और देश के लिए है। रामायण में जितनी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं वह सभी व्यापक हैं, सब काल के लिए हैं। जीवन की साधारण प्रवृत्तियों में कभी कोई अन्तर नहीं होता।

महाभारत-गीता—गीता हिन्दू धर्म का वह महान् उपदेश है कि जिसका सम्मान न केवल भारतवर्ष में ही वरन् अन्य देशों में उसे बड़े चाव से पढ़ा जाता है। लोकमान्य तिलक ने गीता के ही आदेश पर चलकर भारत में असहयोग आन्दोलन को जन्म दिया और बाद में महात्मा गांधी ने उसे अपनाया। गीता का महान् उपदेश कवि दिनकर द्वारा लिखित—

अधिकार खोकर बैठ रहना यह महादुष्कर्म है।
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दंड देना धर्म है।

इसी बात को लेकर लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से टक्कर ली और भारत को स्वतन्त्र कराया। हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों में कितनी महान् शक्ति है इससे हम इसका अनुमान कर सकते हैं। हिन्दू-धर्म-ग्रन्थ हिन्दू धर्म और हिन्दू-संस्कृति के प्रतीक हैं, जीवन हैं, और इन्हीं के बल पर वह युग-युग तक अपने को स्थायी रख सकेगा।

56-हिन्दू धर्म और विज्ञान का परस्पर सम्बन्ध

धर्म और विज्ञान दोनों परस्पर विरोधी विचार हैं। धर्म का उद्गम श्रद्धा है तो विज्ञान का तर्क, एक अनुभूति-आश्रित है तो दूसरा बुद्धिगम्य। धर्म का जन्म हृदय में होता है तो विज्ञान का मस्तिष्क से। धर्म रूढ़ियों पर आश्रित है और विज्ञान प्रगतिवाद पर, नवीन दृष्टिकोण पर। एक प्राचीन है और दूसरा नवीन। दोनों में सामंजस्य स्थापित करना कठिन है परन्तु यह सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न ब्रह्म-समाज तथा आर्य-समाज के प्रवर्त्तकों ने किया। अब विचारणीय बात यह है कि क्या वास्तव में धर्म का विचार से कोई सम्बन्ध नहीं और विज्ञान श्रद्धा शून्य है? हृदयवाद के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं हिन्दू धर्म के मूल तत्त्वों पर जब हम विचार करके देखते हैं तो हमें पता चलता है कि हिन्दू धर्म श्रद्धाश्रित न होकर तर्क और सत्य पर आश्रित है। उपनिषदों में सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग पर ऋषियों ने विशेष बल दिया हैं।

धर्म का क्षेत्र दर्शन है। इस दर्शन में धर्म विचार करता है कि मानव और मानव का जीवन क्या है? अन्य जीव-जन्तुओं का जीवन क्या है? जीवन में परिवर्तन का क्या स्थान है, जीवन क्या है? और कैसे है? मृत्यु क्या है, तथा जीवित और मृतक में क्या अन्तर है? चेतना किसे कहते है? इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया दुख, सुख क्या सत्य है या असत्य? मन क्या है? यह संसार मिथ्या है या सत्य—यह सभी प्रश्न दार्शनिक के प्रश्न। हैं धर्म की भी मूल समस्याओं

को धर्म ने सुलझाया है और विज्ञान भी इन्हीं की वैज्ञानिक खोज में लगा हुआ है। अन्तर केवल दृष्टिकोण का है।

हिन्दू धर्म के अनुसार प्रकृति की शक्तियाँ प्रकाश, ताप, स्थल, जल, वायु इत्यादि देवता कहलाती हैं। इनकी शक्तियाँ महान् हैं। प्राण द्वारा मानव का इन महान् शक्तियों से सम्पर्क स्थापित होता है। आर्य-जाति ने इन महान् शक्तियों की उपासना के लिए ही सब कर्म-काण्ड की योजना की है। योगी प्राण-शक्ति का संग्रह करके नाशकारी विकार से आत्मा को मुक्त को करता है और उर्ध्ववीर्य बनकर अमृत तत्त्व अर्थात् अमरत्त्व को प्राप्त करता है। जीवन धर्माचार्यों और वैज्ञानिकों दोनों के लिए पहेली है, समस्या है। मृत्यु के सम्बन्ध में दोनों की परिभाषाएँ मिलती-जुलती ही हैं। ऊर्जित-प्राण होना जीवन है और अध-प्राण होना मृत्यु। यह विचार दोनों को मान्य है।

जहाँ दर्शन और विज्ञान की खोज समाप्त होकर यह कह देती है कि बस इससे अधिक कुछ नहीं, वहाँ से हिन्दू धर्म का प्रथम चरण प्रारम्भ होता है। धर्म जीवन में सहृदयता और आशा का पाठ पढ़ाता है। केवल निराश होकर बैठ रहने के लिए धर्म नहीं है। जीवन के रहस्य को सूक्ष्म रूप से समझने वाले जीवनदर्शी प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसीलिए धर्म में माया को प्राधान्य नहीं दिया, इसीलिए शंकराचार्य का यह उपदेश नहीं दिया कि जीवन मिथ्या है, भ्रम बुद-बुद के समान है, पहेली है क्योंकि ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् तो जीवन ही अकर्मण्य हो जाय। अंग्रेजी विचारक कवि भी इस विषय में कहता है—

"शोक भरे शब्दों में मुझ से कहो न जीवन सपना है।"

मानव को जीवन में श्रद्धा रखनी चाहिए। जीवन के प्रति अविश्वास रखकर मरने की अपेक्षा आत्मप्रतारणा के साथ जीना अच्छा है। आज पाश्चात्य वैज्ञानिक अपनी निरंतर खोज के पश्चात् कहते हैं कि संसार अनंत है, परन्तु हिन्दू धर्म ने इस ज्ञान को पहले ही जान लिया था। भगवान् के विराट रूप की कल्पना में संसार की अनंतता का आभास ऋषि-मुनियों ने दिया है। काकभुशुण्ड जी भगवान् राम के मुख में जाकर कहते हैं—

उदर माँझ जनु अण्डन राया। देखहुँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया।।
एक एक ब्रह्माण्ड महँ रहउ बरसु सत एक।
यह विधि मैं देखत फिरेऊँ अण्डकटाई अनेक।।

जीवन की अनश्वरता का जो निर्णय आज के वैज्ञानिक अपनी सम्पूर्ण खोजों के पश्चात् कर चुके हैं वह निर्णय हमारे धार्मिक ऋषि-मुनि न जाने कितने वर्ष पूर्व कर चुके हैं। इस अनन्त विश्व के एक साधारण अंश को मनुष्य ग्रहण करता है अपनी बुद्धि के बल से और यह भी सब नहीं कर सकते। शेषनाग पर विष्णु के शयन करने से आचार्यों का अर्थ है कि शेष अनन्त विश्व का प्रतीक होकर विष्णु को वर्तमान संसार के रूप में सँभाले हुए है।

इस प्रकार जीवन की सभी रहस्यात्मक प्रवृत्तियों पर हिन्दू धर्म के विचारकों ने विचार किया है, खोज की है, अध्ययन किया है और निरीक्षण करके जिन निर्णयों पर पहुँचे वहीं पर आज के वैज्ञानिक पहुँच रहे हैं। क्षेत्र दोनों के पृथक्-पृथक् नहीं, हाँ, साधन अवश्य दो हैं। वैज्ञानिक वास्तविक वस्तुओं के विश्लेषण और निरीक्षण द्वारा किसी निर्णय पर पहुँचता है और धर्माचार्य का साधन है उसकी अनुभूति, उसका आत्म-बल और उसकी तपस्या।

धर्म के क्षेत्र में किसी-न-किसी रूप में रूढ़िवाद का आना अनिवार्य है, परन्तु हिन्दू धर्म में तर्क और चिन्तन के लिए पूर्ण स्थान है। ऊपर हम कह चुके हैं कि ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज का निर्माण तर्क पर हुआ है। इन दोनों ही धाराओं पर वैदिक-काल का प्रभाव है। वेदों में जिस विषय को भी लिया गया है तर्क द्वारा ही उसका प्रतिपादन किया गया है; ब्रह्म-वाक्य बनाकर या अन्ध-विश्वास के साथ नहीं। हिन्दू धर्म अन्धविश्वास पर आश्रित न होने के कारण आज के वैज्ञानिक युग में भी सुगमतापूर्वक चल सकता है और इसे अपने को बदलती हुई परिस्थितयों में समुन्नत करने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करना होगा।

57-हिन्दू धर्म का राजनीति से सम्बन्ध

हिन्दू धर्म प्राचीन आर्य-धर्म का अवशेष है, अथवा रूपान्तर भी इसे कह सकते हैं। प्रारम्भ में आर्य-जाति ने जब अपने को चार वर्णों में विभाजित किया तो ब्राह्मण को मस्तिष्क का रूप दिया, क्षत्रिय बाहु, वैश्य उदर और शूद्र जंघाओं के रूप में ग्रहण किये गये। मानव शरीर में यह चारों ही भाग एक दूसरे के सहयोगी हैं और महत्त्व के विचार से कोई भी कम नहीं गिना जा सकता। परन्तु मस्तिष्क के संकेत पर क्योंकि सब को कार्य-संचालन करना होता है इसलिए प्रधानता मस्तिष्क की हुई, भुजायें क्योंकि रक्षा का भार अपने ऊपर लेती हैं इसलिए दूसरा स्थान उनका हुआ, इसी प्रकार तीसरा वैश्य और चौथा शूद्र हुआ।

जब तक वर्णाश्रम जातियों में बँटकर खण्ड-खण्ड नहीं हो गया तब तक यह ढाँचा ज्यों-का-त्यों चलता रहा। राजा का प्रधान मन्त्री ब्राह्मण होता था और देश की प्रायः सभी समस्याओं को सुलझाना इसी का कर्त्तव्य था। इसी के संकेत पर राजा कार्य करता था। राजा वीर और साहसी होता था। हिन्दू धर्म ने राजा, प्रजा, मन्त्री सभी के कामों को निर्धारित किया है और भारत में एक समय वह था जब धर्म का राज्य होता था।

यूरोप के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो पता चलता है कि यहाँ

राजाओं पर धार्मिक काल में पोप का प्रभुत्व था। वह धर्म-प्रधान युग था और राजनीति धर्म के अन्तर्गत रहती थी। परन्तु धीरे-धीरे यह प्रणाली लुप्त होती चली गई और निरंकुश राजाओं ने धर्म-कर्म सभी को तिलाञ्जलि देकर भोग विलास में जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी कठिन परिस्थितियों में धर्माचारियों ने कूट-नीति से भी कार्य लिया। आचार्य चाणक्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। नन्द-वंश धर्मान्ध हो चुका था। नन्द का सर्वनाश करके चन्द्रगुप्त को राजा बनाना चाणक्य का ही काम था। इस प्रकार इस काल में धर्म का राजनीति के क्षेत्र में बहुत बड़ा हाथ था।

भारत की राजनीति ने पलटा खाया। देश पराधीन हो गया। राजनीति एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। कहीं-कहीं पर कभी-कभी कोई चिंगारी-सी अवश्य चमक जाती थी परन्तु वह धर्म के विस्तार के लिए पर्याप्त क्षेत्र नहीं था। राजनीतिक पराधीनता के पश्चात् हिन्दू जनता पराश्रित हो गई, असहाय हो गई। ऐसी कठिन परिस्थिति में जब राजनीति जनता को आश्वासन नहीं दे सकी तो धर्माचारियों ने हिन्दू धर्म के बुझते हुए दीपक को स्नेह-घृत से भर दिया।

हिन्दू धर्म ने कर्त्तव्य सिखलाया, आत्म-बल दिया, बलिदान की शक्ति दी, जीवन की अनश्वरता का उपदेश दिया, आत्मा को अमर कहकर जनता को मृत्यु के भय से दूर किया। हिन्दुओं को दृढ़ करके कर्त्तव्य-परायण बनाया। संस्कृति की रक्षा का उपदेश दिया और आज के युग में हिन्दू धर्म का जो अवशेष दिखलाई दे रहा है यह सब उन्हीं भक्तिमार्गी आचार्यों की कृपा है जिन्होने इस कठिन काल में इस वृक्ष को अपना जीवन-दान देकर सूखने से बचाया।

आज के युग में धर्म धर्म के स्थान पर है और राजनीति राजनीति के स्थान पर। धर्म का सम्बन्ध आत्मा की शुद्धि से, आचरण की सभ्यता से और ईश्वर के चिन्तन से है और यह तीनों ही व्यक्तिगत विषय हैं, सामाजिक या राजनैतिक नहीं। वैसे सूक्ष्म रूप से व्यक्ति समाज का एक अङ्ग है, इसलिए व्यक्ति का विषय ही आज समाज का विषय है और प्रजातन्त्र के विधान में समाज की समस्या ही राष्ट्र की समस्या है, देश का विषय है, परन्तु सीधे रूप में धर्म राजनीति के क्षेत्र में नहीं आता। आज राजनीति को पृथक् रूप से अपना संचालन करना है और धर्म को पृथक् रूप से। प्राचीन काल में जिस प्रकार धर्म की राजनीति पर प्रधानता रहती थी उसी प्रकार आज राजनीति का बोल बाला है। धर्म, समाज, साहित्य सभी को राजनीति की ओर ताकना पड़ता है।

धर्म का महत्त्व इस प्रकार आज के युग में निश्चित रूप से कम होता जा रहा है। राज्य की ओर से प्रश्रय कम मिलता है और आज पाश्चात्य प्रभाव के कारण लोगों की आस्था भी धर्म में बहुत कम रह गई है। जहाँ तक ईश्वर का नाम और मन्दिर-दर्शन का सम्बन्ध है वहाँ तक तो बहुत से व्यक्ति मिल भी

जाते हैं परन्तु कर्म-काण्ड के लिए तो आज एक प्रतिशत भी व्यक्ति तैयार नहीं। जन्म, विवाह और मृत्यु बस तीन ही समय कर्म-काण्ड के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार आज की राजनीति में धर्म का कोई हाथ नहीं, कोई महत्त्व नहीं। इतना महत्त्व अवश्य है कि वर्तमान राजनीति के कर्णधार पूरे हिन्दू थे और हिन्दू-धर्म पर उन्हें पूरी आस्था थी। उन्होंने अपने राज्य-संचालन के जो मार्ग सोचे वह भी उन्होंने हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों के ही आधार पर विचारकर बनाए। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी को गीता पर महान् आस्था थी और उनके जीवन-कालीन राजनैतिक संघर्षों में गीता की प्रधान विचारावलि रही है। महात्मा गांधी के राम-राज्य की कल्पना भी उसकी धार्मिक कल्पना थी। परन्तु खेद है कि गाँधीजी की अकाल मृत्यु के कारण वह राम-राज्य की कल्पना फलीभूत न हो सकी।

58-हिन्दू धर्म के गुण और अवगुण

हिन्दू धर्म के गुण और अवगुणों पर विचार करने से पूर्व हमें यह जान लेना है कि वास्तव में हिन्दू धर्म क्या है? धर्म के विषय में वेदव्यास का मत है कि 'धर्म-शक्ति प्रजा और समाज को धारण करती है। अधर्म है अनाचार और उच्छृंखलता तथा धर्म है श्रेष्ठ सामाजिक आचार-विचार।' ऋग्वेद में भी सत्-पथ पर चलने के लिए आचार-सुधार की आवश्यकता बतलाई है। इस प्रकार धर्म आचारमूलक है, अनाचार मूलक नहीं। हिन्दू धर्म में मनु के विचार से धर्म-पालनके लिए ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण का चुकाना परमावश्यक है। ऋषि-ऋण के अन्तर्गत ज्ञान-प्राप्ति, देव-ऋण के अन्तर्गत हवन, पुण्य-कर्म इत्यादि और पितृ-ऋण के अन्तर्गत पिता के प्रति कर्त्तव्य-पालन आता है।

हिन्दू धर्म में जीवन को व्यवस्थित करने के लिए जिस प्रकार समाज को चार वर्णों में विभाजित किया है उसी प्रकार मानव-जीवन को भी चार आश्रमों में विभाजित किया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन चारों आश्रमों का पालन करना आवश्यक है। धर्म समाज की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा मानव इस लोक में अपने जीवन को सुधारता है। वास्तव में धर्म का सम्बन्ध मानव-जीवन से है।

हिन्दू-धर्म ने समाज और मानव-जीवन की व्यवस्थाएँ प्रारम्भ में निर्धारित कीं; उनके बन्धन ज्यों-के-त्यों बने हुए नहीं रह सके। समय और व्यक्ति के अन्तर से इन सब में अन्तर प्रारम्भ हो गये। वर्ण-व्यवस्था जातियों में बदलती चली गई और आश्रम-धर्मों का उचित पालन होना बन्द हो गया। संन्यासियों ने विवाह करने शुरू कर दिये और ब्रह्मचारियों ने विषय-भोग। इसका प्रभाव

समाज पर बुरा पड़ा। समाज और भी अव्यवस्थित होने लगा। आचार्यों ने इस प्रकार अनाचरण करने वाले व्यक्तियों के लिए सामाजिक दण्ड निर्धारित करके इन प्रवृतियों को रोकने के प्रयत्न किये। फलस्वरूप वर्णों से बहिष्कृत व्यक्तियों ने अपनी-अपनी जातियों का संगठन करना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार अनेकों जातियों के जन्म हुए। एक-एक वर्ण की अनेकानेक उप-शाखाएँ बनती चली गईं। इस जाति भिन्नता के कारण समाज का संगठन टूट गया। समाज की शक्ति क्षीण होती चली गई और इतने भेद और उपभेद पैदा हो गये कि संगठन का सूत्र एकदम समाप्त हो गया। यह विच्छेदात्मक प्रवृत्ति इतनी बलवती हुई कि इसका प्रभाव भारत में आने वाले मुसलमान-धर्म पर भी पड़े बिना न रहा। भारत के मुसलमानों में भी जातियाँ आज मिलती हैं। यह मुसलमान धर्म पर हिन्दू धर्म की गहरी छाप है। इस्लाम धर्म का संगठन भी भारत में आकर छिन्न-भिन्न हो गया।

हिन्दू धर्म की इस विच्छेदात्मक प्रवृत्ति का खंडन स्वामी दयानन्द ने किया और संगठन की एक बार भारत में ऐसी लहर चलाई कि सभी वर्णों को मिला कर ॐ के झंडे के नीचे खड़ा कर दिया। इस भावना को महात्मा गांधी ने अपने हरिजन आन्दोलन द्वारा विशाल रूप देकर राजनीति का अंग बना दिया और ऐसा व्यापक बना दिया कि वर्तमान राजनीति में उस संगठन की आवश्यकता ही नहीं रही। आज के प्रजातन्त्रवाद में एक पीड़ित को भी मत माँगने के लिए भंगी की झोंपड़ी पर जाना पड़ता है।

हिन्दू धर्म मध्य-युग में आकर एक प्रकार से कर्म-काण्ड प्रधान हो गया था। धर्म-विचारात्मकता की ओर से रूढ़िवाद की तरफ़ बढ़ रहा था। यह धर्म की स्वस्थ्यावस्था नहीं थी। धर्म पर कर्म-काण्ड की प्रधानता हो चुकी थी। मठों की स्थापना होने लगी थी और मठाधीशों की परिस्थिति राजा महाराजाओं जैसी होने लगी थी। इन मठाधीशों का जनता पर प्रभाव था, क्योंकि जनता धर्म-भावना-प्रधान थी। यही कारण था कि इन मठाधीशों की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। युग में भी हमें मुसलमान-मठाधीशों के ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं। निजामुद्दीन औलिया की प्रसिद्ध गाथा से इतिहास के विद्यार्थी सभी परिचित हैं। प्रारम्भ में यह मठ धर्म के केन्द्र थे, विद्या अध्ययन करने के लिए विश्वविख्यात विद्यालय थे, बड़े-बड़े विचारक और योगी यहाँ पर रहते थे। परन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक न चल सकी। मानव-जीवन में स्वार्थ और विलास की न्यूनताएँ कहीं बलवती होती हैं। इनके प्रभाव से परिस्थिति यहाँ तक गम्भीर बनी कि वही ज्ञान के केन्द्र, व्यभिचार, स्वार्थ और ऐश्वर्य के केन्द्र बन गये। कर्म-काण्ड का रूप बदलने लगा। यज्ञ पर जानवरों की बलि दी जाने लगी और कहते है कि कहीं-कहीं पर मानव की बलि भी दी जाती थी। अनार्य जातियों के कुछ देवी-देवताओं को भी हिन्दू धर्म ने अपने में मिला लिया और उनकी पूजा भी होने लगी। जैसे

काली की पूजा का विधान हमें वेदों में नहीं मिलता।

यह परिस्थिति अधिक दिन तक न रह सकी। जैन धर्म और बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हिन्दू धर्म की इन्हीं खराबियों के कारण हुआ। यह दोनों ही धर्म एक प्रकार से हिन्दू धर्म के रूपान्तर हैं, सुधार है। हिन्दू धर्म में इस काल के अन्दर जो अवगुण या दोष भी उत्पन्न हो गए थे वह हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों मे निहित नहीं थे। धर्म-सिद्धान्तों के निरूपण और उनके प्रयोग में दोष आ गये थे, उनके मूल में नहीं। जैन और बौद्ध धर्म के नवीन विचारकों ने हिन्दू धर्म के उन दोषों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया और आचरण की सत्यता पर बल देकर धर्म देकर धर्म के नवीन दृष्टिकोण का निर्माण किया। हिन्दू धर्म में कुछ प्रथाएँ ऐसी बनती चली गईं कि जिन्हें अंग्रेजी शासन काल में आकर सरकारी कानून द्वारा रोकने की आवश्यकता हुई। सती की प्रथा को हम इनके उदाहरण स्वरूप ले सकते हैं। ब्रह्म समाज ने इस प्रथा के विपरीत विद्रोह किया और फिर सरकार को अन्त में नियम द्वारा यह प्रथा बन्द करनी पड़ी। इस प्रकार अछूतों का मन्दिरों में जाना, कुओं पर चढ़ना इत्यादि पर आर्य समाज ने बल दिया, महात्मा गाँधी ने आन्दोलन किए और वर्तमान शासन-व्यवस्थाओं ने उन्हें मानकर कानून बना दिया।

हिन्दू धर्म के आर्य-काल में नारी का स्थान पुरुष से किसी प्रकार भी कम नहीं था। नारी का स्थान स्वार्थी आचार्यों ने बराबर गिराकर यहाँ तक बना दिया कि उसे विद्या और समाज के क्षेत्रों के बाहर निकालकर घर की भित्तियों में बन्द कर दिया। यह थी धर्म की गिरावट। अंग्रेजी शासन-काल में स्त्री समाज पर पाश्चात्य नारी-आन्दोलनों का प्रभाव हुआ। आर्य-समाज ने नारी-शिक्षा पर भी बल दिया और आज उनमें भी शिक्षा बढ़ती जा रही है। स्त्री-शिक्षा के लोप का जो प्रधान प्रभाव मालूम देता है वह मुसलमान शासन काल में मुसलमानी धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव है। इसका प्रभाव समाज पर बुरा पड़ा क्योंकि बच्चों का निर्माण जितना स्त्रियों के हाथ में है उतना पुरुषों के हाथ में नहीं और बच्चों पर समाज और देश का भविष्य आधारित है।

इस प्रकार हमने हिन्दू धर्म के गुण और अवगुणों पर संक्षिप्त रूप से विचार किया और देखा कि धर्म के अवगुणों का सम्बन्ध हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों से नहीं है। उनके व्यवहार और जीवन में प्रयोग से है। यदि आज भी हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को उनके मूल रूप में अपनाया जाय तो वह व्यक्ति और समाज के लिए लाभदायक सिद्ध होंगे। हिन्दू धर्म की मूल धारा हिन्दुओं के हृदयों में सतत प्रवाहित रही है और वह यही मूल आत्मा है जिसके बल पर आज तक हिन्दू धर्म जीवित रह सका है।

मध्य युग के भक्ति आन्दोलन-59

भारत में इस्लामी राज्य की स्थापना होनी थी कि हिन्दू जनता के हृदय से उत्साह, गर्व और गौरव जाता रहा। देव-मन्दिर गिराये जाने लगे और पूज्य-नीय स्थानों का अपमान हुआ। यह सब जनता ने अपनी आँखों से हृदय पर पत्थर रखकर देखा और सहन किया। हिन्दू-जीवन में घोर उदासीनता छा गई। धर्म के क्षेत्र में वज्रयानी सिद्ध-कापालिक और नाथ-पंथी जोगियों का जोर था। धर्म कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों धाराओं में प्रभावित हो रहा था। इस काल में इन तीनों के सामंजस्य की आवश्यकता थी। ज्ञान-क्षेत्र में कुछ विचारक आते हैं और कर्म तथा भक्ति का समावेश महाभारत-काल के पश्चात् पुराण-काल से मिलता है, कभी कुछ समुन्नत रूप में और कुछ दबे हुए रूप में।

वज्रयानी सिद्धान्तों का दृष्टिकोण आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण विधा-यक नहीं था। वह जनता को कार्य क्षेत्र से हटाने पर तुले थे। सं० 1073 में रामानुजाचार्य ने जिस सगुण-भक्ति का निरूपण किया, जनता ज्ञान-मार्गियों की अपेक्षा उसकी ओर अधिक प्रभावित होती जा रही थी। संवत् 1254-1333 में गुजरात में मध्वाचार्य ने द्वैतवादी वैष्णव-सम्प्रदाय चलाया। इसी काल में जयदेव और विद्यापति के गीतों से कृष्ण-भक्ति का जनता में प्रचार हुआ। 15 वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के शिष्य स्वामी रामानन्द ने विष्णु के राम-अवतार को लेकर भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय में राम-भक्ति शाखा का आविर्भाव हुआ। इसी काल में श्री वल्लभाचार्य ने कृष्ण की प्रेममूर्ति को लेकर कृष्ण-भक्ति शाखा का प्रचार किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक धाराओं का प्रवाह हिन्दू धर्म की मूल प्रवृत्तियाँ बनकर भारत के कोने-कोने में प्रवाहित हो चला।

एक ओर तो यह प्राचीन भक्ति-मार्ग सगुणोपासना के आधार पर तैयार हो रहा था, जिसमें भक्तों ने ब्रह्म के 'सत्' और 'आनन्द' स्वरूप का निरूपण किया और दूसरी ओर मुसलमानों के स्थायी रूप में भारत में बस जाने के कारण 'सामान्य-भक्ति-मार्ग' का विकास हुआ। वज्रयान और नाथ-सम्प्रदायों में शास्त्रज्ञ विद्वानों की कमी थी और विशेष रूप से इनका प्रभाव भी भारत की छोटी ही जातियों पर अधिक था। 'सामान्य-भक्ति-मार्ग' का सीधा सम्बन्ध भी इन्हीं धाराओं से जुड़ा। यह लोग पूजा-अर्चना को व्यर्थ मानते थे, केवल अन्त-र्मुख साधनाओं द्वारा ईश्वर इनके मत से प्राप्त था। इस धारा के साधु इंगला, पिंगला, सहस्र कमलदल इत्यादि के उल्टे-सीधे नाम लेकर मूर्ख जनता पर अपना प्रभाव सिद्ध बनकर जमाते थे। हिन्दू-मुसलमानों में यह भेद नहीं मानते थे। यह धारा हृदय-पक्ष-शून्य थी और इसका सम्मान अन्तर्साधना की ओर था।

इसी काल में महाराष्ट्र में मानव ने साधना तत्त्व के साथ रागात्मक

तत्त्व का समावेश करके उस भक्ति मार्ग का आभास दिया जिसे बाद में जाकर कबीरदास ने अपनाया। कबीर ने अपने निगुर्ण-पंथ में जहाँ एक ओर भारतीय वेदान्त को अपनाया वहाँ दूसरी ओर सूफी प्रेम-धारा को अपनाकर निर्गुण ब्रह्म का भक्ति-रूप खड़ा किया। इस प्रकार कबीर ने नाथ-पंथ के जनता पर पड़ने वाले शुष्क प्रभाव को नष्ट करके उसमें किसी हद तक सरसता का संचार किया। परन्तु खेद की बात यह थी कि सरसता के लिए कबीरपंथ में भी स्थान कम ही था। इस प्रकार इस पंथ की अन्तर्साधना में रागात्मक वृत्ति तो मिल गई परन्तु कर्म के क्षेत्र में वही पुरानी स्थिति बनी रही। ईश्वर के धर्म-स्वरूप में लोक-रंजन की भावना का आविष्कार न हो सका और जनता के जीवन में जो जागृति या सरसता आनी चाहिए थी, वह न आ सकी। "यह सामान्य-भक्ति-मार्ग एकेश्वरवाद का अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्म-वाद की ओर ढलता था और कभी पैगम्बरी खुदावाद की ओर।" —**रामचन्द्र शुक्ल**। यह सब होते हुए भी निर्गुणपंथियों ने अपने विचारों में सामंजस्य की भावना को विशेष स्थान दिया। एक ओर नाग-पंथ के योगियों से योग-भावना ग्रहण की तो दूसरी ओर नामदेव से भक्ति-भावना। रामानन्द जी से अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें लीं और साथ ही दूसरी ओर सूफी फ़कीरों से रागात्मकता, वैष्णव धर्मावलम्बियों से अहिंसावाद और प्रवृत्तिवाद ग्रहण किया। इस प्रकार वह न तो पूर्ण रूप से अद्वैतवादी ही हैं और न एकेश्वरवादी ही। दोनों का मिला-जुला रूप इसमें मिलता है। बहु देवोपासना, अवतारवाद और मूर्तिपूजा का इन भक्तों ने खण्डन किया है। खण्डात्मक प्रवृत्ति इनकी विशेष प्रवृत्ति थी जिसमें नमाज, रोजा, व्रत, कुरबानी यह सब व्यर्थ हो जाते हैं। ब्रह्म-माया, जीव, सृष्टि और आनन्दवाद की चर्चा इन लोगों ने पूरे ब्रह्म ज्ञानी बनकर की है। विशुद्ध-ईश्वर-प्रेम और सात्विक जीवन इनकी विशेषता थी।

सगुणोपासना को भक्तों ने ब्रह्म के सगुण औन निर्गुण दोनों ही रूपों में माना है। केवल भक्ति के क्षेत्र में उन्होंने सगुण रूप को ही प्रश्रय दिया है। सगुण भक्त अव्यक्त की ओर संकेत तो करते हैं, परन्तु उनके पीछे नहीं पड़ जाते।

इस प्रकार सगुण और निर्गुण दो भक्ति-धाराएँ विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक साथ साथ चलती रहीं। निर्गुण-धारा के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा थीं। प्रेमाश्रयी शाखा में सूफ़ी प्रेम-धर्म की प्रधानता थी। यह शाखा केवल साहित्यिक-क्षेत्र तक ही प्रधानता पा सकी। जनता में इसे कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। जिस प्रकार निर्गुणधारा के अन्तर्गत दो शाखाएँ थीं उसी प्रकार सगुण-भक्ति उपासकों के भी दो मार्ग थे। एक भक्ति-शाखा और दूसरा कृष्ण भक्ति-शाखा, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं। मध्य-युग में भक्ति के यही प्रधान आन्दोलन थे।

हिन्दू धर्म और पुराण-60

वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पुराण हिन्दू धर्म के प्रधान धार्मिक ग्रन्थ हैं। भारतीय धार्मिक चिन्तन इन्हीं प्रधान ग्रन्थों में प्रस्फुटित हुआ है। ब्राह्मणों ने पुराण के ही आधार पर हिन्दू धर्म का अवस्थान किया है। इन ग्रन्थों में हिन्दू धर्म की आत्मा है, हृदय है।

पुराणों में हमें इतिहास-चर्चा, शास्त्र, धर्म-विचार, लोक-कथाएँ तथा लोक भावनाएँ मिलती हैं। रामायण और महाभारत, शैली, विस्तार, भावना और प्रकार की दृष्टि से भिन्न हैं। परन्तु इनके धार्मिक मूल तत्त्वों के आधार से अभिन्न ही हैं। पुराणों में हमारे राजन्य और क्षत्रिय वर्ग का इतिहास छुपा रखा है। इतिहास सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर कलियुग के प्रारम्भ तक का है—एक दीर्घ काल का यह इतिहास आर्यों, अनार्यों और उन सभी जातियों का है जिन्होंने समय-समय पर आकर आक्रमण किए और फिर वह आर्यजाति में ही अन्तर्निहित हो गईं। सत्य यह है कि यह कल्पना और भावना-प्रधान ग्रन्थ ऐतिहासिक नाटकों अथवा उपन्यासों की भाँति पिछले चार-पाँच हज़ार वर्षों का भावात्मक इतिहास अपने में छुपाये हुए हैं परन्तु यह कहना असम्भव है कि इनमें कल्पना का अश कहाँ तक है।

पुराण हिन्दू-धर्म, हिन्दू-चर्चा और हिन्दू-संस्कृति की निधि है। संस्कृति के अन्तर्गत विशेष रूप से ब्राह्मण धर्म को समझाने के लिए पुराणों को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। पुराण वैष्णव धर्म के प्राण हैं। परन्तु खेद की बात यह है कि एक काल ऐसा आया जब विद्वानों ने पुराणों को सही अर्थों में न समझकर उनकी अभिव्यंजनाओं और रूपकों को जनता के सम्मुख इस प्रकार रखा कि विचारकों के लिए इसके अतिरिक्त कहने को और कुछ न रहा कि यह सब व्यर्थ के बकवासी ग्रन्थ हैं, कपोल कल्पित हैं। हमारा धर्म वेद और उपनिषदों पर आधारित है। पुराण हमारे धर्म-ग्रन्थ नहीं हैं। इस विचारधारा का प्रतिपादन भारत की जनता में 'ब्रह्म-समाज' और 'आर्यसमाज' ने किया और इतने प्रबल आन्दोलन किए कि एक बार तो वास्तव में पुराण जनता को निन्दनीय-से प्रतीत होने लगे।

पौराणिक धर्म भक्ति और भावना-प्रधान है बुद्धि-प्रधान नहीं। बुद्धि-प्रधान विचारधारा वाले व्यक्तियों ने खंडन-मंडन का आश्रय लिया और पैनी धार वाली छुरी से धर्म को छाँटना प्रारम्भ कर दिया। इसके फलस्वरूप अनैतिक चेतना और अनैतिक बुद्धि ने जन्म लिया और धर्म अनुभूति-प्रधान न रहकर बुद्धि-प्रधान बनने लगा इस विचारधारा पर ईसाई धर्म का भी प्रभाव था। अंग्रेजी शिक्षित व्यक्ति विज्ञान की नवीन खोजों से भी प्रभावित होते जा रहे थे। वैज्ञानिक दृष्टि से विकास-वाद की नींव पड़ चुकी थी और हृदय पर बुद्धि को प्रधानता

मिलनी समाज में भी प्रारम्भ हो गई थी । ऐसी परिस्थिति में भला फिर पुराणों को कौन पूछता । लोगों ने पुराणों के उस महानतम महत्त्व को भी भुला दिया कि जिसके कारण उनका आज अस्तित्व मात्र ही अवशेष रह गया था। मुसलमान-काल में यह पुराणों का ही बल था कि जिसने पराधीन पड़ी जनता के हृदयों को भी उत्साह और मंगल की भावना से निरन्तर भरा और उन्हें कर्त्तव्य-परायण बनाया ।

वेद, शास्त्रों और उपनिषदों तक ही आर्य-जाति की धर्म चिन्ता को सीमित करने वाले व्यक्ति न केवल हिन्दू धर्म के साथ ही अपकार करते हैं वरन् वह अपनी जाति, अपने इतिहास, अपने गौरव और प्राचीन ज्ञान के प्रति भी अन्याय कर रहे हैं । वेद, उपनिषदों के पश्चात् क्या आर्य जाति ने चिंतन करना बन्द कर दिया था ? और जो कुछ था क्या वह ढोंग था, गलत था, पाखंड था, मूर्खता थी, पतन था —ऐसा क्यों ? यह सब कुछ होने का कोई कारण तो चाहिए, ऐसा विचार करना भ्रम है । वेद और उपनिषदों में जहाँ एक अत्यन्त छोटे वर्ग की धर्म-चिन्ता है वहाँ पुराणों में जनसाधारण की धर्म-चेतना वर्तमान है । वेद और उपनिषदों ने प्रभावित किया है चिन्तकों को, विचारकों को, परन्तु महाभारत, रामायण और पुराणों का क्षेत्र उतना सीमित नहीं है, वह बहुत व्यापक है, विस्तृत है । पुराण भारत के जन-जन की वाणी है, हृदय है, विचार हैं, धर्म हैं और नित्य के जीवन की भावनामय अनुभूतियाँ हैं । इसके प्रमाणस्वरूप हम भारत के देव, मन्दिरों, कथोपाख्यानों और काव्य-चित्रों तथा मूर्तियों को ले सकते हैं । इन सभी पर पुराणों की गहरी छाप है ।

पुराणों को भावात्मक इतिहास मानना अधिक उचित होगा । सूर्य-वंश, चन्द्र-वंश, अग्नि-वंश, इसी प्रकार अनेकों वंशों की कथाएँ इनमें भरी पड़ी हैं । वंशों के उत्थान-पतन, अनेकों आर्य और अनार्य जातियों की महान् संघर्ष-गाथाएँ इनमें मिलती हैं । इन्हीं कथाओं के साथ-साथ देव-कथाओं को इनमें स्थान दिया गया है । विष्णु, शिव, उमा, कार्तिकेय इत्यादि अनार्यों के देवता थे और इन्द्र, वरुण इत्यादि आर्यों के । कालान्तर में अनार्यों के देवता विष्णु और शिव आर्य देवताओं में मिलकर जनता में मान्य हुए । पुराणों में देव-कथाएँ सुन्दर रोमांच की भाँति आती हैं । पुराणों में नीति को भी स्थान मिला है । व्रत-चर्य्या, रहन-सहन ,तीर्थ-यात्रा, कला-कौशल इत्यादि के विविध पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है । जन्म से लेकर मरण तक की सब जीवन से सम्बन्ध रखने वाली परि-स्थितियों पर पुराणों की व्याख्या मिलती है । उच्चतम आध्यात्मिक, माजिक और व्यवहारिक ज्ञान हमें पुराणों में मिलता है ।

भारत की दो-डेढ़ हज़ार वर्षों की कला, साहित्य वस्तु तथा मूर्ति-निर्माण इत्यादि सब कुछ पुराणों में ही तो मिलता है । पुराण हमारे उस काल का साहित्य है जिस काल का न इतिहास मिलता है और न कोई अन्य ग्रन्थ ही ।

प्राचीन काल से धर्म और साहित्य कभी दो वस्तु नहीं रहे । भक्ति-काल तक प्रथा ज्यों की त्यों चली आ रही है । तुलसीकृत रामायण यदि उत्तम काव्य है तो धर्म ग्रन्थ भी वह है । इसी प्रकार पुराण भी हमारे इतिहास हैं, आख्यान-काव्य हैं, धर्म ग्रन्थ हैं और साहित्य हैं । पुराणों में इन सभी का सामंजस्य है । संस्कृत कवि माघ, भास और कालीदास ने अपनी रचनाओं के मूल में पौराणिक आख्यानों को लिया है । मध्य-युग में लिखे गये सभी साहित्य पर पुराणों का गहरा प्रभाव है । रामायण और सूर-सागर दोंनों में पुराणों की कथाएँ लेकर कवियों ने काव्यों का निर्माण किया है । आज के युग में उदयशंकर के नृत्य, रवीन्द्र-स्कूल के चित्र पौराणिक नहीं तो और क्या हैं !

इस प्रकार हमने देखा कि पुराणों में सौन्दर्यँ-शास्त्र, काव्य, इतिहास, देव-कथाएँ, देवताओं का रोमांस, जीवन सम्बन्धी विचार, नीति-विचार यह सब मिलता है परन्तु इनके साथ-ही-साथ आध्यात्मिक चिन्तन भी उनमें कम नहीं है। जनता के धार्मिक विश्वासों को दृढ़ करने में जो कार्य पुराणों ने किया है वह अन्य ग्रन्थ नहीं कर पाए । विजातीय धर्मों से टक्कर लेकर जनता को अपने कार्य से विमुख न होने देना, यह पुराणों का ही काम था, चाहे इस अटल सत्य को आज के धार्मिक विचारक न समझ सकें।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म-61

छठी शताब्दी ई० पू० जब मगध के राजा अपने आस-पास के राज्यों पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती राज्य की स्थापना कर रहे थे उसी समय भारत में कुछ ऐसे सुधारक नेताओं ने जन्म लिया जिन्होंने धर्मचक्र का प्रवर्तन करके अपने धार्मिक साम्राज्यों का स्वप्न देखा । श्री महावीर और गौतम बुद्ध ऐसे सुधारक थे । इन्हीं दो महान् आत्माओं ने जैन-धर्म और बुद्ध-धर्म को जनता में फैलाया और हिन्दू-धर्म में पैदा हुई कुरीतियों के विपरीत शक्तिशाली आन्दोलन किया ।

आर्य लोग प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपों की कल्पना करके उनकी पूजा करते थे । देवताओं के रूप में उनकी आराधना होती थी । इन देवताओं की पूजा का यज्ञ प्रधान साधन था । यज्ञों का कर्म-काण्ड जो कि पहले बहुत सुगम था, धीरे-धीरे जटिल होता जा रहा था। सर्वप्रथम यज्ञों में पशुओं की बलि प्रारम्भ हुई । एक-दो-तीन और अन्त में यहाँ तक कि एक-एक यज्ञ में हजारों की संख्या में पशु-हिंसा होने लगी । यह बलि की प्रथा यहाँ तक बलवती हुई कि पशुओं से चलकर मानव तक आ पहुँची और बेचारे इधर-उधर से आने-जाने वालों को भी इन यज्ञों से भय लगने लगा ।

समाज की व्यवस्था बिगड़ रही थी । ऊँच-नीच का भेद-भाव सीमा लाँघ

कर घृणा के क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुका था। ब्राह्मण और क्षत्रियों ने समाज, धर्म और शासन की सब शक्तियाँ हस्तगत करके अपने को ऊँचा समझना प्रारम्भ कर दिया था। वर्णाश्रम धर्म-कर्म प्रधान न रहकर जन्म-प्रधान बन गया था। शूद्रों और दासों की एक ऐसी श्रेणी का जन्म हो गया था कि जिसे इन लोगों ने मानवता के साधारण अधिकारों से वंचित कर रखा था। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार नहीं रह गये थे। धर्म के क्षेत्र में ढोंग और पाखण्ड का बोल-बाला था और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण मिलकर जनता पर मनमाना अत्याचार कर रहे थे। ऐसे आपत्ति-काल में महावीर और गौतम बुद्ध ने हिन्दू धर्म में सुधार करने का सफल प्रयास किया।

महावीर—वैशाली गणराज्य में जिसकी राजधानी कुण्डग्राम थी, गण-मुख्य सिद्धार्थ के घर स्वामी महावीर ने जन्म लिया। इनका बाल्य और युवा-काल समृद्ध परिस्थिति में व्यतीत हुआ, परन्तु इनकी प्रकृति प्रारम्भ से ही सांसारिक भोग-विलास से परे थी, यह 'प्रेम' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहते थे। इसी लिए इन्होंने गृहस्थ-जीवन का परित्याग करके तपस्वी-जीवन अपनाया। बारह वर्ष तक घोर तपस्या की और तब ज्ञान की प्राप्ति हुई। इसके पश्चात् इन्होंने अपने शेष जीवन को अपने विचारों के प्रचार में लगा दिया। आपका धार्मिक आन्दोलन जैन धर्म कहलाया। इनकी मृत्यु 70 वर्ष की आयु में 457 ई० पूर्व हुई।

जैन धर्म—वर्धमान महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया उसके अनुसार मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति है। इसके लिए मनुष्य को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह (धन-संचय को परिमित करना) इन पाँच बातों का अनुसरण करना चाहिए। इन पाँच विषयों का भली भाँति पालन करते हुए प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन से दुराचार और अपवित्रता को निकाल देना चाहिए। सदाचरण और पवित्र जीवन से ही मानव को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। इस धर्म में अहिंसा और तपस्या पर विशेष बल दिया गया है। ईश्वर कोई पृथक् नहीं है, मनुष्य ही मोक्ष में पहुँचकर ईश्वर के स्थान को प्राप्त कर लेता है।

गौतम बुद्ध—गौतम बुद्ध का जन्म शाक्य गण में गणमुख्य शुद्धोधन के यहाँ हुआ था। इनका बाल-काल बड़े लाड़-प्यार में व्यतीत हुआ परन्तु वर्धमान महावीर के ही समान इनकी प्रवृत्ति भी प्रारम्भ से 'श्रेय' मार्ग की ही ओर थी। 29 वर्ष की आयु में यह घर का परित्याग करके निकल पड़े और सात वर्ष तक तत्त्व-ज्ञान की खोज में इधर-उधर भटकते फिरे। गौतम ने घोर तपस्याएँ कीं परन्तु तपस्या में उनकी आत्मा को शान्ति न मिली। इससे परेशान होकर वह वर्तमान बुद्ध गया के पास एक पीपल के वृक्ष के नीचे सात दिन तक ध्यान-मग्न पड़े रहे और वहीं पर उनकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति

का प्रकाश हुआ । साधना सफल हुई और वह ज्ञान-दशा को प्राप्त हुए। यहीं पर 'बोध' प्राप्त करके वह बुद्ध भगवान् बने ।

बौद्ध धर्म—गौतम बुद्ध ने समाज के ऊँच-नीच के भेद-भावों का बहुत विरोध किया । केवल जन्म के कारण वह किसी को ऊँचा व नीचा मानने के लिए उद्यत नहीं थे । वे सच्चे अर्थों में समाज-सुधारक थे उनकी दृष्टि में न कोई अछूत था और न कोई ब्राह्मण । उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी को अपना शिष्य बनाया और एक भाव से सबको दीक्षा दी । पशु-हिंसा का गौतम बुद्ध ने कट्टर विरोध किया । अहिंसा पर आपने विशेष बल दिया । केवल यज्ञों का ही उन्होंने विरोध नहीं किया वरन् पशुओं को किसी प्रकार भी कष्ट देना उनके सिद्धान्तों के विपरीत था । यज्ञ में उनका तनिक भी विश्वास नहीं था। वह चाहते थे चरित्र की शुद्धता और काम, क्रोध, तथा मोह पर मानव की विजय । यज्ञ का अनुष्ठान वह व्यर्थ समझते थे । कर्मकाण्ड का गौतम बुद्ध ने विरोध किया और आचरण की शुद्धता को अपने धर्म का प्रधान लक्ष्य बनाया। स्वर्ग और मोक्ष को भी आपने इसी लोक में माना है; किसी पृथक् लोक में नहीं । आपने उच्च बनने के लिए यह आठ साधन बतलाएँ हैं—(1) सत्य-चिंतन, (2) सत्य-संकल्प, (3) सत्य-भाषण, (4) सत्य-आचरण, (5) सत्य-रहन-सहन, (6) सत्य-प्रयत्न, (7) सत्य-ध्यान, और(8) सत्य-आनन्द । निर्वाण-पद प्राप्त करने को बुद्ध भगवान् ने जीवन का चरम लक्ष्य माना है । निर्वाण मानव की वह अवस्था है जब वह ज्ञान द्वारा अज्ञान को भगा देता है । जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से सहस्रों वर्षों का अन्धकार दूर हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान द्वारा मानव के मन की अविद्या का अन्धकार लुप्त हो जाता है ।

इस प्रकार हमने जैन-धर्म तथा बौद्ध धर्म पर दृष्टि डालकर देखा कि यह कोई नवीन धर्म नहीं थे और न ही इनका चिंतन प्राचीन हिन्दू धर्म से कुछ विपरीत ही था । इन्हें हिन्दू धर्म में हम प्रतिक्रिया (Reactlon) कह सकते हैं । इन सुधारकों ने दार्शनिक रहस्यों की छानबीन करके केवल उस काल में धर्म के अन्तर्गत जो बुराइयाँ आ चुकी थीं उन्हीं का खण्डन करके आत्मा और जीवन की पवित्रता पर बल दिया है । गौतम बुद्ध ने ईश्वर के विषय में चिन्तन पर बल नहीं दिया , क्योंकि उसके होने या न होने से आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

भारतीय समाज की प्रधान समस्याएँ-62

भारत का समाज धर्म और राजनीति दोनों से प्रभावित होता है । वास्तव में यदि हम संगठनों के प्राचीनतम रूपों पर विचार करें तो समाज मानव का

सर्वप्रथम संगठन प्रतीत होता है। जब बहुत से मानव एक स्थान पर एकत्रित होकर रहने लगे तो उनकी बाहरी रक्षा के साथ-साथ उसके नित्य जीवन से सम्बन्ध रखने वाले नियमों की भी आवश्यकता हुई। इन्हीं नियमों के आधार पर समाज का निर्माण हुआ। शासन-व्यवस्था का कार्य-भार हल्का करने के लिए एक नियमित और सुसंगठित समाज की आवश्यकता हुई।

धीरे-धीरे मानव ने अपने जीवन को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए समाज-व्यवस्था, राज-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्था का आधार लिया। प्रारम्भ में राज्य-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्थाओं ने प्रबल रूप धारण किया और समाज को गौण रूप दे दिया परन्तु सामाजिक संगठन मानव-जीवन के प्रति क्षण के कार्यक्रम से सम्बन्धित होने के कारण मानव-जीवन में गौण न हो सका और वह अपनी रूढ़ियों के आधार पर निरंतर अपने को बलवान बनाता चला गया। समाज, मानव-जीवन की आवश्यकता बन गई। जब तक भारत स्वतन्त्र रहा उस समय तक समाज बराबर गौण रूप में ही रहा परन्तु उसका आधार भी एक रूप से धर्म होता चला गया, समाज और धर्म दोनों ही मिल-कर एक-से प्रतीत होने लगे।

भारत जब पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा गया और राजनीतिक शक्ति का पूर्ण रूप से ह्रास हो गया तो धर्म का राजनीति से सम्बन्ध विच्छेद होकर केवल समाज से ही जुड़ गया और दोनों ने मिलकर एक लम्बे युग तक हिन्दू समाज को जीवित रखने में सहयोग दिया। सामाजिक नियमों ने राजनैतिक सुविधाओं में अपने बन्धनों को और दृढ़तर किया। और धर्म के आचार्यों ने समाज के ढाँचे को इतना सुदृढ़ बनाया कि इसके नियन्त्रण के लिए राज्य का मुँह न ताकना पड़े परन्तु इस सुदृढ़ व्यवस्था से धीरे-धीरे जीवन का ह्रास होने लगा और सामाजिक बन्धन लोहे की चारदीवारियों की भाँति ऐसे बन गये कि समाज की सुधार-व्यवस्थाएँ इत्यादि के लिए कोई स्थान शेष न रहा। इस अन्धकार-काल में धर्म और समाज के नाम पर अन्धविश्वास का उदय हुआ और बुद्धिवाद के लिए धर्म और समाज के क्षेत्र में कोई स्थान न रह गया। धर्म और समाज के झूठे पोंगापन्थियों ने अपना प्रभुत्व जमाकर समाज को अपने पाखंड के ऐसे चंगुल में फँसाया कि समाज का भविष्य अन्धकारपूर्ण हो गया।

समाज में इस काल की कठिन परिस्थितियों और अंधविश्वासों के कारण अनेकों बुराइयाँ पैदा होती चली गईं। मुसलमान-काल में जब शासकों के दुर्व्य-वहार से समाज तंग आ गया तो उसने बाल-विवाह की प्रथा निकाली। लड़का और लड़की पैदा हुए और उनका सम्बन्ध जोड़कर विवाह कर दिया। यह किया गया समाज की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए। परन्तु इसके फलस्वरूप समाज में एक नवीन कुरीति का प्रादुर्भाव हुआ और वह थी बाल-विधवाओं की समस्या।

मुसलमानों की पर्दा-प्रथा का भी भारतीय समाज पर प्रभाव पड़ा। स्त्रियों की सुरक्षा के लिए उन्हें भी पर्दे में रखने का सामाजिक नियम बनाया गया। इस प्रकार पर्दे की कुप्रथा का जन्म भारतीय समाज में हुआ। पर्दे के साथ-ही-साथ भारत की नारियों में से शिक्षा का भी लोप होता चला गया। जीवन में सुरक्षा न रहने के कारण नारी को इस प्रकार सुरक्षित रखने की आवश्यकता होने लगी जिस प्रकार धन, माल और आभूषणों को चोरों और डाकुओं से सुरक्षित रखा जाता है। ग्रामीण जनता में आज भी नारी को 'टूम' के नाम से सम्बोधित किया जाता है और 'टूम' ग्रामीण भाषा में आभूषणों को कहते हैं। इसी प्रकार सती की प्रथा, विधवा-विवाह, अनेकों जातियों के प्रतिबन्ध इत्यादि समाज के क्षेत्र में ऐसी बुराइयाँ उपस्थित हो गईं कि जिसके कारण मानव की प्रगति में पग-पग पर बाधाएँ उपस्थित होने लगीं और वह जड़ होकर रह गया।

इन बुराइयों का निवारण करने के लिए समाज में राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे सुधारक पैदा हुए जिन्होंने समाज से उस संकुचित रूढ़िवाद के विपरीत विद्रोह किया और स्वयं विष-पान करके समाज को अमृत प्रदान किया। उस काल से समाज ने फिर पनपना प्रारम्भ किया। महात्मा गाँधी ने भी समाज की महानतम् बुराई अछूत समस्या के विरुद्ध आन्दोलन किया और आज तो राज-नियमों द्वारा ही उनके अधिकारों को सुरक्षित कर दिया गया। समाज के माथे का यह कलंक अब मिट रहा है। धीरे-धीरे सम्भवतः मिट जायगा, क्योंकि समाज की वर्तमान प्रगति में अन्धविश्वासों और व्यर्थ के ढकोसलेबाजियों के लिए कोई स्थान नहीं है। मानव का दृष्टिकोण विस्तृत होता जा रहा है। सीमित वातावरण में आज का मानव नहीं पलना चाहता।

मानव अपने साधनों के साथ चलता है। ज्यों-ज्यों दृष्टिकोण के व्यापक बनाने के साधन विस्तृत होते जायेंगे त्यों-त्यों मानव का दृष्टिकोण, उसकी समस्याएँ उसके विचार, उसकी भावनाएँ, उसकी कल्पनाएँ और उसकी योजनाओं में भी विस्तार आ जायगा। आज के युग में समाज के साथ धर्म के बन्धन भी ढीले पड़ चुके हैं। आज राज्य-सत्ता प्राचीन राज्य-सत्ता न रहकर समाज की अपनी सत्ता बन गई है। इसलिए वह सत्ता भी जो-कुछ करेगी वह समाज को स्वस्थ बनाने के लिए ही करेगी। जब तक समाज स्वस्थ नहीं होगा उस समय तक राष्ट्र सुदृढ़, सुसंगठित और सुव्यवस्थित नहीं हो सकता जिसका कि अभाव देश, राष्ट्र और समाज तीनों के लिए हानिकारक है।

आज के समाज में धर्म का प्रधान स्थान नहीं रह गया है। धार्मिक शृंखलाओं में बाँधकर समाज को नहीं रखा जा सकता। आज के प्रगतिशील समाज में हिन्दू-मुसलमान, पारसी, ईसाई सभी एक मेज़ पर बैठकर खाना खा-पी सकते हैं। जहाँ तक खान-पान का सम्बन्ध है वहाँ तक सामाजिक शृंखलाएँ बहुत

ढीली पड़ चुकी हैं परन्तु जहाँ तक विवाह इत्यादि नाते-रिश्तों का सम्बन्ध है वहाँ अभी भी समाज बहुत पिछड़ा हुआ है । अन्तर्जातीय विवाह होने अवश्य प्रारम्भ हो गये हैं परन्तु अभी उनकी संख्या ना के ही बराबर है और जो हो भी जाते हैं उन्हें फिर समाज में अपना जीवन चलाने में काफ़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । शहरों में इस प्रकार के सम्बन्ध कुछ प्रचलित हुए हैं परन्तु भारत का अधिकांश जन-समूह ग्रामों में रहता है और वहाँ पर अभी यह प्रथा नाम-मात्र के लिए भी प्रचलित नही । यदि कोई इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करती भी है तो उसे **'भगा ले जाना'** कहकर गिरा हुआ काम समझा जाता है । समाज में उसे घृणित दृष्टि से देखा जाता है । ग्रामों में भी इतनी सामाजिक स्वच्छन्दता का आभास अवश्य मिलता है कि जातियों से जो व्यक्ति च्युत करके 'बीसे' से 'दस्से' कहलाने लगे थे उनमें आपस में सम्बन्ध अवश्य स्थापित होने लगे हैं ।

इस प्रकार आज समाज अपने सम्बन्धों को धीरे-धीरे नमस्कार कर रहा है और भारत में एक ऐसे समाज का निर्माण होने की सम्भावना है कि जिसका आधार धर्म पर न होकर राष्ट्र पर हो । मानवता के अमूल्य सिद्धान्तों के आधार पर आज के समाज का निर्माण होकर रहेगा । उसमें से ऊँच-नीच की भावना का अन्त होना अवश्यम्भावी है और वह होकर रहेगा । अपने-अपने कार्य-क्षेत्र के अनुसार समानता नर और नारी दोनों में एकरूपता के साथ आयगी । दोनों को स्वतन्त्रता रहेगी अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में । सामाजिक बन्धनों से दोनों ही मुक्त होंगे, धर्म उनके मार्ग में कोई रुकावट उपस्थित नहीं करेगा । स्त्री और पुरुष दोनों दो मतावलम्बी होने पर भी अपना सम्बन्ध सुगमतापूर्वक संचालित कर सकेंगे । भारत में विविध धर्मों का होना ही आज भारत के समाज की प्रधान समस्या है । इस समस्या का समाधान होने में समय लगेगा ।

63-भारतीय समाज और हिन्दी साहित्य

समाज पर साहित्य का क्या प्रभाव पड़ता है और साहित्य पर समाज का क्या प्रभाव पड़ता है इसकी निश्चित रूप-रेखा बनाना कठिन कार्य है । यह प्रभाव कितना पड़ता है, कैसे पड़ता है, किन परिस्थितियों में पड़ता है, किन परिस्थितियों में कम और किन में अधिक पड़ता है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं जिनका अनुसन्धान इतनी सुगमता से नहीं किया जा सकता; हाँ, वस्तुस्थिति की रूप-रेखा अवश्य बनाई जा सकती है ।

मानव-समूह का नाम समाज है और लेखक तथा पाठक दोनों ही समाज के प्राणी हैं । दोनों का समाज पर प्रभाव पड़ता है और समाज का भी दोनों पर

प्रभाव पड़ता है। लेखक जो कुछ भी लिखता है उसमें समाज का प्रतिबिम्ब पड़ता है और समाज के व्यक्ति लेखकों की जिन रचनाओं को अध्ययन अथवा मनोरंजन के लिए पढ़ते हैं उनका उन पर प्रभाव पड़ता है। इससे यह सत्य तो स्थिर हो जाता है कि दोनों का दोनों पर प्रभाव पड़ता है परन्तु यह आँकना कठिन है कि वह किस दशा में, किस मात्रा में और किन विचारों के अधीन पड़ता है।

भारतीय समाज और भौतिकता का प्रभाव उतना नहीं है जितना हृदयवाद का। हमारा समाज भाव-प्रवण है, उसमें हृदय-पक्ष प्रधान है और बुद्धि-पक्ष गौण। इसका प्रधान कारण यह है कि समाज का संचालन आदिकाल से धर्म-पक्ष के अधीन हुआ है, विज्ञान के अधीन नही। हृदय-पक्ष प्रधान होने के कारण भारतीय समाज पर काव्य के अन्य अंगों की अपेक्षा कविता का अधिक प्रभाव है। नाटक-साहित्य का भारतीय समाज के प्रारम्भिक युग में हमें प्राधान्य मिलता है परन्तु मध्य युग में आकर नाटक-साहित्य का लोप-सा ही हो गया। विलायती समाज पर भी कविता और नाटक-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है परन्तु वहाँ हृदय-पक्ष की अपेक्षा बुद्धि पक्ष प्रधान होने के कारण उपन्यास और कहा-नियों की ओर समाज का अधिक ध्यान है। विलायती समाज में भाव-प्रवणता का अभाव और बुद्धि-प्रवणता की तीव्रता मिलती है।

भारतीय समाज में प्राचीन काल से काव्य का महत्त्व रहा है और प्राचीन काव्यों को समाज ने धर्म-ग्रन्थ मानकर अपनाया है। गोस्वामी तुलसीदास की रामायण ने समाज पर जो प्रभाव डाला है वह कुरान शरीफ़, बाइबिल और वेदों से किसी प्रकार भी कम नहीं है। रामायण में एक आदर्श समाज का चित्रण होते हुए भी समाज का सच्चा चित्र उसमें वर्तमान है। समाज के गुणों के साथ अवगुणों का भी उसमें चित्रण है। बहु-विवाह और सती-प्रथा का रामायण में समावेश है, साथ ही निषादराज से रामचन्द्र का मिलन कराकर और भीलनी के झूठे बेर खिलाकर छुआ-छूत की भावना के प्रति विद्रोह प्रकट किया गया है। इस प्रकार समाज का साहित्य पर और साहित्य का समाज पर स्पष्ट प्रभाव मिलता है। भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही साहित्य की प्रतिष्ठा है। वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, महाभारत, रामायण सभी काव्य हैं। इन सभी में राजनैतिक और धार्मिक प्रभावों के साथ-साथ समाज का भी प्रभाव दिखलाई देता है। इन सभी ग्रन्थों में कविता की प्रधानता होने के कारण हृदय-पक्ष की ही प्रधानता मिलती है। वेदों में हृदय-पक्ष के साथ ही साथ बुद्धिवाद की भी कमी नहीं है। वेदों में तर्क को भी पर्याप्त स्थान दिया गया है। भारतीय जनता धर्म-प्रधान है इसलिए इन धर्म-प्रधान काव्यों का समाज पर आज भी कम प्रभाव नहीं है।

किसी भी काव्य का समाज पर प्रभाव दो कारणों से पड़ता है। एक तो उसके काव्य-तत्त्व के कारण और दूसरे उसके विषय के कारण। काव्य का

विषय उपयोगिता और भावना के आधार पर प्रभावशाली होता है । कुछ काव्य उपयोगिता-प्रधान होते हैं और कुछ भावना-प्रधान । दोनों में कौन-सा उच्च श्रेणी में रखा जा सकता है यह कहना कठिन है परन्तु मानव और समाज दोनों से प्रभावित होता है; कम और अधिक की मात्रा समय और परिस्थिति के अनुसार होती है। प्राचीन काव्यों में धर्म-भावना की प्रधानता हमारे मनीषियों ने रखी है और इसी भावना का समाज पर प्रभावांकन हुआ है । पुराण रस और चमत्कार दोनों की प्रधानता के कारण समाज में व्यापक स्थान पा गये । इनके काव्य-तत्त्व और धर्म-भावना दोनों ने समाज को व्यापक रूप से प्रभावित किया है और समाज ने उन्हें आत्मसात किया है । प्राचीन ग्रन्थों ने समाज को क्या नहीं दिया है ? राम-जैसा कर्त्तव्यपरायण राजा दिया है जो अपनी प्रजा के लिए सीता-जैसी स्त्री का परित्याग कर सकता है; दशरथ-जैसा पिता दिया है जो पुत्र स्नेह में प्राण त्याग कर सकता है; राम-जैसा पुत्र दिया है जो पिता की आज्ञा-पालन करने के लिए चौदह वर्ष का बनवास ग्रहण करता है; भरत और लक्ष्मण-जैसे भाई दिये हैं जो बड़े भाई की सेवा पिता के समान करने को जीवन भर उद्यत रहे; हनुमान-जैसे सेवक दिए हैं; कृष्ण-सुदामा-जैसे मित्र दिए हैं; वाल्मीकि जैसे तत्त्वज्ञानी ऋषि दिए हैं, परशुराम-जैसे क्रोधी दिए हैं; सीता-जैसी सती दी है; कृष्ण-जैसे नीति-परायण दिए हैं और युधिष्ठिर-जैसे सत्यवादी दिए है । इन उच्चादर्शों के साथ-ही-साथ समाज की कमियों को भी काव्यकारों ने अपने काव्यों में रखकर उनको मानव-समाज के लिए हितकर बनाया है । मंथरा की कुटिलता; कैकयी की डाह, महाभारत में जुए में स्त्री तक को दाँव पर रख देना; युधिष्ठिर-जैसे सत्यवादी का भी नीति के अन्तर्गत झूठ बोलना; दुर्योधन का लोभ; दानी हरिश्चन्द्र का दास की भाँति बिकना इत्यादि मानव और समाज की कमियों को भी प्राचीन साहित्य में उचित स्थान मिला है । ये घटनाएँ मानव-जीवन की न्यूनता से साहित्य में आकर साहित्य के सौन्दर्य में वृद्धि ही करती हैं कुछ कमी नहीं ।

साहित्य ने समाज को राम-भक्ति दी है, कृष्ण-भक्ति दी है, अवतारवाद दिया है या इसके विपरीत यह भी कह सकते हैं कि राम-भक्ति, कृष्णभक्ति और अवतारवाद ने समाज को राम और कृष्ण-भक्ति का सुन्दर और सरस साहित्य दिया है । मध्य-युग के भक्ति-साहित्य ने समाज को आश्वासन दिया है, साहस दिया है, धैर्य दिया है, निर्भीकता दी है और दी है मंगलमय कामना । समाज के नैराश्य में आशा का उदय किया है । वीर-गाथा-काल के साहित्य ने समाज का उत्साह बढ़ाया है । ज्ञान दिया है । साहित्य के रसोद्रेक और उसकी रसानुभूति का समाज पर निरन्तर प्रभाव पड़ा है, और पड़ रहा है परन्तु सामाजिक चित्रणों से जो साहित्यकार पाठक को उसके अपने जीवन के बीच ले जाकर खड़ा कर देता है, उसमें पाठक अपनापन पाकर जिस आनन्द की अनुभूति करता

है वह आनन्द उसे उत्कृष्ट रसोद्रेक में भी प्राप्त नहीं हो सकता। साहित्य कठोर-से-कठोर हृदय को कोमल बना देता है। वह चट्टान से रसस्रोत बहा सकता है और कोमल-से-कोमल हृदय को कठोर बना देता है। साहित्य के पास रस है, अलंकार है। अनुभूति है, ज्ञान-तत्त्व है, कल्पना है, हृदय-पक्ष है, सगुण और सदोष भाषा है, क्या नहीं है साहित्य के पास। मानव और अमानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाली हर प्रकार की रचना साहित्य के क्षेत्र में आती है, इतना व्यापक है साहित्य का क्षेत्र। क्षेत्र व्यापक होने के साथ-ही-साथ समाज पर साहित्य का प्रभाव भी व्यापक है।

साहित्य भी दो प्रकार का होता है—व्यक्तिगत साहित्य और समाजगत साहित्य, समाजगत साहित्य का तो आधार ही समाज है, जहाँ लेखक चलता ही समाज को लेकर है परन्तु व्यक्तिगत अथवा व्यक्तिप्रधान साहित्य भी समाज से बाहर की कोई केवल कल्पना की आधारभूत रचना नहीं हो सकती। मानव समाज का एक अणु है इसलिए वह समाज से पृथक् अपना अस्तित्त्व स्थापित ही नहीं कर सकता। उसे पग-पग पर समाज की आवश्यकता होती है और उसी के सम्मिलन में उसके जीवन और साहित्य की पूर्ति है।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य और समाज का बहुत घनिष्टतम सम्बन्ध है। प्राचीन साहित्य प्राचीन समाज का प्रतिबिम्ब है और आगामी समाज की रूप-रेखा है। उसी प्रकार आज का साहित्य वर्तमान का प्रतिबिम्ब है और भविष्य की रूपरेखा है। व्यक्ति और समाज के निर्माण में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ है और उसी प्रकार साहित्य के निर्माण में व्यक्ति और समाज का। साहित्य हमारे प्राचीन समाज का वह कोष है कि जिसे समाज धरोहर के रूप में वर्तमान समाज को दे गया है और यह समाज आने वाले समाज को दे जाय।

हिन्दू समाज में वर्णाश्रम धर्म-64

यदि हम वर्णाश्रम-धर्म के प्राचीनतम इतिहास पर दृष्टि डालें तो हमें ज्ञान होता है कि वर्णों की व्यवस्था एक ऐसे काल में की गई थी जब वैसा करना अनिवार्य था। नित्य प्रति के संघर्ष आर्यों और अनार्यों के बीच चलते थे। समाज विस्तृत होता जा रहा था। इसलिए समाज का समस्त कार्य-भार अव्यवस्थित रूप से नहीं सँभाला जा सकता था। आर्यजाति ने उस काल में वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था करके मानव-जीवन को चार प्रधान भागों में विभाजित कर दिया—(1) विद्या का पठन-पाठन, (2) समाज की रक्षा, (3) धन और अन्न उपार्जन, तथा (4) इन तीनों काम करने वालों की सेवा करना।

इस प्रकार समाज विभाजित होकर अपने-अपने कार्य में जुट गये और कुछ ही दिनों में आर्यजाति ने आशातीत उन्नति की। जीवन के सभी कार्यों का संचालन भली-भाँति होने लगा और मानव-समाज में कोई भी ऐसा व्यक्ति न रहा जिसका कि कुछ कर्त्तव्य न हो। यदि वह विद्या की ओर संलग्न है तो वह ब्राह्मण है, यदि वीर पराक्रमी है तो वह क्षत्रिय है, यदि धनोपार्जन में रुचि रखता है तो वह वैश्य है और यदि इन तीनों कार्यों में कुछ नहीं कर सकता तो वह सेवा-भार तो अपने ऊपर ले ही सकता है। इसी प्रकार व्यवस्थित होकर आर्य समाज ने राज-व्यवस्था, कला-कौशल, उद्योग-धंधे, व्यापार इत्यादि सभी क्षेत्रों में संसार का प्रतिनिधित्व किया।

इस वर्ण-व्यवस्था का सबसे बड़ा गुण आर्य समाज के संचालकों ने यह रखा था कि इसका आधार जन्म पर न होकर कर्म पर था। वर्णों का विभाजन कर्मों के आधार पर होता था। एक शूद्र विद्याध्ययन करके ब्राह्मण बन सकता था और ब्राह्मण बुरे काम करके शूद्र हो सकता था। प्राचीन साहित्य में ऐसे दृष्टान्त हैं कि जहाँ शिकारी ज्ञान प्राप्त करके महामुनि हो गये हैं और रावण जैसे ब्राह्मण आचार्य राक्षस कहलाए है। वर्ण-व्यवस्था का यह मूल सिद्धान्त धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होता चला गया और इसी के ह्रास के साथ-साथ वर्णाश्रम-धर्म का महत्त्व भी नष्ट होने लगा।

शक्ति पाकर शक्ति खोना कोई नहीं चाहता, या फिर वह शक्ति निर्बल होकर देनी पड़ती है अथवा उनसे छीन ली जाती है। ब्राह्मण-जाति के हाथों में शक्ति आई और उन्होंने अपनी सन्तान को मायाजाल में फँसाकर वर्णाश्रम-धर्म के मूल सिद्धान्तों को भुला दिया। ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण कहलाय चाहे उसके आचरण कैसे भी क्यों न हों। मानव-मानव में स्वार्थ के वशीभूत होकर घृणा और विद्वेष की भावना का प्राबल्य हुआ। अपनी-अपनी शक्ति को सुसंगठित रखने के लिए वर्णों की सीमाओं को रूढ़िवादों के आधार पर बाँध दिया गया। वर्ण शब्द का एक प्रकार से लोप-सा दिखाई देने लगा और इसके स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया। मानव-समाज को जातियों में विभाजित किया जाने लगा और ज्यों-ज्यों मानव-समाज का विस्तार हुआ त्यों-त्यों जातियों की संख्या भी बढ़ने लगी। इस प्रकार संख्याओं का बढ़ना स्वाभाविक ही था क्योंकि व्यवस्था गुणों से हटकर जन्म पर आधारित हो चुकी थी, और जन्म की व्यवस्था को सीमित नहीं किया जा सकता था।

गुणों की व्यवस्था समाप्त होकर जन्म की व्यवस्था होने पर समाज अंग-प्रत्यंगों के विभाजन में आ जाने से समाज का जो सबसे बड़ा अहित हुआ वह यह था कि मानव के विकास तथा उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो गया। जाति-बन्धन के प्रतिबन्धों ने मानव के बुद्धिवाद, अनुभूति और विकासवाद तीनों का गला घोट दिया और जनता का साम्राज्य मानव पर छा गया। धन-सम्पत्ति

की भाँति बुद्धि, गुण-आचरण, यश और पाण्डित्य भी बपौती के रूप में समाज के व्यक्तियों को प्राप्त होने और उनके लिए करने को कुछ अवशेष ही न रहा। ब्राह्मण का पुत्र पण्डित है और वैश्य का सेठ, क्षत्रिय-पुत्र वीर है और शूद्र-पुत्र दास। इससे अधिक बढ़ने के लिए किसी को कोई सुविधा न थी। यहाँ तक कि धर्म के पाखंडों ने अपना जाल फैलाया कि शूद्र यदि वेद-मन्त्र अकस्मात् भी सुन ले तो उसके कानों में गर्म करवाकर सीसा भरवा दिया गया। इस वर्णाश्रम धर्म की यहाँ तक दुर्गति हुई।

इसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म और जैन धर्म का विकास हुआ। यह वर्णाश्रम धर्म ही एक प्रकार से ब्राह्मण-धर्म कहलाता है। और इसी के आचरणों के विरुद्ध बौद्ध धर्म और जैन धर्म ने विद्रोह किया। यह सब विद्रोह हुए, अनेकों बवण्डर उठे। विधर्मियों के आक्रमण हुए, शताब्दियों तक भारतीय सत्ता पदाक्रांत होती रही परन्तु ब्राह्मण धर्म की शृंखलाएँ ढीली नहीं पड़ी। यह सत्य है कि शृंखलाओं ने प्रगतिवाद को धक्का पहुँचाया परन्तु मध्य-युग में भक्ति के रूप में हृदयवाद को इतने विशाल रूप में जन्म दिया कि हिन्दू-समाज के चारों वर्णों के नैराश्य को अपनी भावना की धारा में प्रवाहित कर दिया। इस धारा ने भारतीय पुराने वर्णाश्रम-धर्म पर कुठाराघात नहीं किया परन्तु धर्म-क्षेत्र में सब वर्णों को स्वाधीनता दे डाली। रामायण पढ़ने का एक शूद्र को उतना ही अधिकार प्राप्त हो गया जितना कि एक ब्राह्मण को। भक्ति की इस धारा ने भारतीय समाज के विचारों में भी एक क्राँति को जन्म दिया और उनका उस काल में विद्रोह भी कम नहीं हुआ। भाषा में ग्रन्थों का होना और फिर इसे सभी वर्णों को उन्हें पढ़ने का समानाधिकार देना बपौती के रूप में धर्म के ठेकेदारों के मार्ग में कठिन बाधा बनकर खड़ा हो गया। समाज में उनकी पोल खुलने लगी और लोगों की श्रद्धा भी धीरे-धीरे उन पर से उठने लगी। आराम से बैठकर मठों में हलवा-पूड़ी खाने वाले विलासी महन्तों और साधुओं के लिए परीक्षा का समय आ गया। इस प्रकार कर्म के क्षेत्र में चारों वर्णों को स्वाधीनता मिली। परन्तु फिर भी शूद्रों को मन्दिरों में जाने का अधिकार नहीं था। उन्हें अपने मन्दिर पृथक् बनवाने पड़े।

समाज की प्रगति फिर भी न रुक सकी। धार्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता मिलने पर भी समाज का व्यापक क्षेत्र अधूरा-सा रह गया जहाँ वर्णों को अभी तक इसी प्रकार गलत समझा जा रहा था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज द्वारा पुरातन आर्य-प्रणाली के अनुसार फिर से हिन्दू-जनता के सम्मुख वर्ण-व्यवस्था के गूढ़ सिद्धाँतों को रखा और देश भर में एक बड़ा भारी सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन खड़ा किया। शूद्रों को आर्यसमाज का सदस्य बनाकर ब्राह्मणों के साथ बिठलाया और महात्मा गांधी ने उस रहे-सहे कलंक को भारत के मस्तक से धोने का प्रयत्न किया परन्तु फिर भी उस प्राचीन वर्ण-

व्यवस्था का बिगड़ा हुआ रूप जो भारत की असंख्य जातियों में व्यापक हो चुका है, वह आज भी ज्यों-का-त्यों वर्तमान है। बड़े-बड़े विद्वानों में आज जातीयता की संकुचित भावना मिलती है। गुप्ता गुप्ता को, शर्मा शर्मा को, सिख सिख को—इसी प्रकार जीवन में सब सम्प्रदाय अपने-अपने लोगों को सहायता देकर योग्य व्यक्तियों के मार्ग में बाधक बनते हैं। जातीयता की भावना ने इस संकीर्ण मनोवृत्ति को जन्म दिया। और वह भारतीय समाज के उत्थान में रुकावट है। वर्णाश्रम-धर्म आज भी सिद्धान्त रूप में बुरा नहीं। व्यवहार-रूप में भारत के लिए हानिकारक सिद्ध हुआ है और हो रहा है परन्तु आज के समाज में यह भावना अधिक दिन तक न ठहर सकेगी। मानववाद के अटल सिद्धान्त के सम्मुख इस संकुचित भावना का लोप हो जाना होगा और वर्णों का विभाजन होगा अवश्य, परन्तु यह प्राचीन आर्य-काल की ही भाँति गुणों के ही आधार पर करना होगा।

65-हिन्दू समाज और नारी

हिन्दू-समाज प्राचीन आर्यों का ही वर्तमान रूप है। वैदिककाल के साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो भारतीय नारी को वहाँ खड़ा हुआ पाते हैं जहाँ संसार के इतिहास में कहीं पर भी नारी को स्थान नहीं मिला। आर्य-सभ्यता में नारी को पुरुष की 'अर्द्धाङ्गनी' माना है। पुरुष नारी के बिना उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार एक व्यक्ति अपना आधा अंग नष्ट हो जाने पर होता है। आर्य-सभ्यता में यज्ञ का विशेष महत्त्व है। यज्ञ में यदि पुरुषों के साथ स्त्री न बैठे तो यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकता। जब महाराज रामचन्द्र ने अश्वमेघ यज्ञ किया तो उन्होंने सीता की स्वर्ण-मूर्ति को अपने साथ स्थापित किया था।

मनु नारी के विषय में लिखते हैं, 'जिस घर में स्त्रियों का पूजन होता है उस घर में देवता निवास करते हैं। जिस घर में स्त्रियों का अनादर होता है उस घर में होने वाली सब क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं।' 'स्त्री अनेकों कल्याणों की भाजन है, वह पूजा के योग्य है। स्त्री घर की ज्योति है। प्रजापति ने प्रजोत्पति के लिए स्त्री को बनाया है। स्त्री गृह की साक्षात् लक्ष्मी है।' स्त्री को जाया, माता, धात्री, कहकर हिन्दू-ग्रन्थों ने सम्मानित किया है। संतति को जन्म देना, उसका पालन-पोषण करना और प्रतिदिन की लोकयात्रा का संचालन करना ही नारी का प्रधान कर्त्तव्य है। नारी को माता के रूप में सर्वमान्य माना गया है।

मानव-जीवन के दो प्रधान कार्य-क्षेत्र हैं और वे दोनों ही एक-दूसरे से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पहिला कार्य-क्षेत्र घर है जिसे अंग्रेज़ी में होम (Homd) कहा

गया है। अंग्रेज़ी कवियों ने होम को मीठा घर (Sweet home) कहकर पुकारा है। दूसरा कार्य-क्षेत्र घर से बाहर का है जिसमें पुरुष घर को चलाने के साधन जुटाता है। इसे अधिक स्पष्ट शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि घर कल है जिसके संचालन के लिए पुरुष बाहर से विद्युत (धन इत्यादि) जुटाता है और स्त्री एक कुशल कल-संचालिका की भाँति विद्युत की शक्ति से उस गृह-रूपी कल को संचालित करती है। इस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों का ही महत्त्व गृह को चलाने में एक दूसरे से अधिक है। समाज के ये दोनों ही पुर्जे हैं, जिनमें से किसी को भी टकराने या सिर पर चढ़ाने से समाज का महान् अहित हो जाता है।

हिन्दू धर्म ने दोनों को बराबर का स्थान देकर दोनों को सम्मानित किया है परन्तु अन्य धर्मों में ऐसा नहीं मिलता। जब तक आर्य-जाति भारत में शासक बनकर रही नारी का समाज में यही आसन रहा और वह इसी प्रकार धर्म के और समाज के कार्यों में सम्मान प्राप्त करती रही। धीरे-धीरे आर्य-जाति को अन्य जातियों के सम्पर्क में आना पड़ा। अनेकों जातियों ने भारत पर आक्रमण किया और उसमें से बहुत-सी भारत में ही बसकर यहीं की जातियों में विलीन हो गईं। अनेकों आईं और अनेकों गईं परन्तु वह आर्य जाति के ढाँचे को हिलाने में समर्थ न हो सकीं। परन्तु अन्त में मुसलमानों ने भारत पर आक्रमण किया और इस समय तक भारत में आर्यों की हर प्रकार की व्यवस्था का ह्रास हो चुका था। न कोई सामाजिक व्यवस्था ही अवशेष थी और न कोई धार्मिक ही। राजनैनिक व्यवस्था का तो सर्वनाश हो ही चुका था। ऐसी परिस्थितियों में वह भारत में आये और उनका साम्राज्य स्थापित हो गया। जब शासक रूप में मुसलमान भारत में सुदृढ़ हो गये तो उनकी सभ्यता का भारतीय सभ्यता पर प्रभाव पड़ा और स्त्री जाति में पर्दे की प्रथा का प्रादुर्भाव हुआ। पर्दे का आना था कि नारी-जीवन की अनेकों स्वतन्त्रताओं का एक दम ह्रास हो गया और धीरे-धीरे नारी घरों की चहारदीवारी में बन्द करके रखने वाली एक पुड़िया ही बन गई। यह वह काफूर की पुड़िया थी कि जिसे खोलने पर पड़ जाने का भय प्रतीत होने लगा और पुरुष नारी के प्रति सशंकित हो गया।

इस काल से पूर्व ही नारी की स्वतन्त्रता का भारत में लोप हो चुका था। ब्राह्मण-धर्म में ही मठाधीशों के काल में नारी का पद पुरुष से नीचा गिना जाने जाने लगा था। नारी-जीवन की स्वतन्त्रताओं पर भी आक्षेप होने लगे और यहाँ तक हुआ कि आचार्य नारियों से शास्त्रार्थ करने में भी अपनी मान-हानि समझते थे। बौद्धकाल में नारी स्वातंत्र्य का एक बार फिर से उदय हो गया था और भारत से पुरुषों के साथ नारी भिक्षुणियाँ भी विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गई थी। इनका ब्राह्मणों ने उस काल में घोर का खंडन किया, और जनता में उनके प्रति घोर निन्दा का वातावरण उपस्थित करने का प्रयत्न किया परन्तु वह उस काल में अधिक सफल न हो सके। बौद्ध धर्म की लहर भी भारत में

व्यापक न बन सकी और अन्त में निर्गुण और सगुण व्यक्ति के रूप में उसी ब्राह्मण धर्म का उदय हुआ। इस ब्राह्मण धर्म में नारी का स्थान सामान्य था।

गोस्वामी तुलसीदास जी के विषय में यह कहा जाता है कि इन्होंने 'ढोल, गँवार, शूद्र अरु नारी, यह सब ताड़न के अधिकारी' लिखकर नारी जाति का बहुत अपमान किया है। परन्तु यह इस प्रकार का विचार करने वाले व्यक्तियों की विचार-संकीर्णता-मात्र ही है। गोस्वामी तुलसीदास ने ही तो सीता के महान् चरित्र का चित्रण किया है। मानस में सीता का चित्रण करने वाला भक्त कवि नारी के प्रति अश्रद्धा रखे यह भला किस प्रकार सम्भव हो सकता है? भक्ति-काल में हिन्दू-समाज ने मीरा जैसी कवयित्रियों को जन्म दिया। यह काल मुसलमानों का शासन-काल था, इसलिए मुसलमानी प्रभाव के अन्तर्गत भारतीय नारी को जो यातनाएँ और असम्मान सहन करना पड़ा वह अवश्यम्भावी था परन्तु फिर भी हिन्दू समाज सुधारकों ने बराबर नारी के हित और उसके उत्थान पर ध्यान दिया है। राजनैतिक परिवर्तन और धार्मिक रूढ़िवाद के कारण जब-जब जो-जो दोष समाज के संगठन और नारी के प्रति भावना में उत्पन्न हुए तब-तब सुधारकों ने उन्हें संशोधित किया है। गौतम बुद्ध, राजा रायमोहन राय और स्वामी श्रद्धानन्द के नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं।

पश्चिमी देशों में स्त्री और पुरुष के अधिकारों को लेकर जो आन्दोलन खड़े हुए उनसे वहाँ के गृह-जीवन का मिठास जाता रहा। भारतीय गृह-जीवन की यह विशेषता रही है कि अनेकों दोष और सामाजिक अवगुण समाज में आ जाने पर भी पश्चिम की वह लहर अंग्रेजी शासन-काल में भी भारतीय गृह-जीवन को प्रभावित नहीं कर सकी। पश्चिमी विद्या के साथ-साथ नारी में तितली जीवन का प्रादुर्भाव अवश्य हुआ परन्तु यह भावना व्यापक न बन सकी। भारतीय नारी में धर्म की आस्था है और वह आस्था इतनी प्रवल है कि नारी स्वतन्त्रता का जादू उस पर नहीं चल सका। इस प्रकार भारतीय नारी के जीवन में जो भावनात्मक रस है वह तर्कवाद के चक्कर में पड़कर सूख नहीं गया और भारतीय गृह आज भी 'स्वीट' बना हुआ है। अंग्रेजी कवि की कल्पना भारतीय हिन्दू-धर्म के गृह में अक्षराक्षर सत्य है। भारतीय नारी का गौरव अपने में मातृत्व की वह मान-भावना सुरक्षित रखता है कि जिसमें विलायती स्वतन्त्रता, सौन्दर्य, शृंगार, विज्ञान, तर्क और लचक सब समाप्त हो जाती है। हिन्दू-संस्कृति में नारी भोग का साधन न होकर मानव-निर्माण का कठोर सत्य है और नारी में से मातृत्व का विनाश हो जाने पर नारी अपनी समस्त प्रतिष्ठा को खो देती है। मानव-समाज में तो क्या नारी-समाज में भी वह सम्मान को प्राप्त नहीं हो सकती। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान एकाकी है, उत्तम है, स्नेह, ममता और प्रेम का प्रतीक है—वह मानव-जीवन का रस है, अमृत है और प्राण है।

बहु-विवाह, बाल-विवाह और विधवा-विवाह-66

विवाह एक सामाजिक बन्धन है जो मानव-जीवन को व्यवस्थित और सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज ने बनाया है। विवाह के साथ धार्मिक आस्था और राजनैतिक नियमों के मिल जाने से इसका ढाँचा कुछ ऐसा बन गया है जिसकी व्यवस्था भी काफी विस्तृत है। विवाह द्वारा एक पुरुष और एक नारी का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित होता है।

आर्य-काल में एक पुरुष एक ही स्त्री के साथ विवाह करता था परन्तु धीरे-धीरे बहु विवाह की प्रथा प्रचलित हो चली थी। आरम्भ में तो दूसरा विवाह किन्हीं ऐसे कारणों के वश होता था जिसमें परिवार के नष्ट होने का भय हो अर्थात् सन्तान उत्पत्ति के लिए और फिर बाद में यह प्रचलित प्रणाली के रूप में ही समाज ने अपना लिया। यशस्वी योद्धाओं और वैभवशाली व्यक्तियों ने अपने आनन्द उपभोग के लिए भी एक से अधिक विवाह करने प्रारम्भ कर दिये जिनके परिणामस्वरूप राम को वन जाना पड़ा, भीष्म को आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ा और इसी प्रकार की अनेकों घटनायें भारतीय इतिहास और प्राचीन ग्रन्थों में मिल सकती हैं।

दूसरा विवाह मानव की कमज़ोरियों का प्रतीक है। यह किन कारणोंवश होता है यह ऊपर दिया जा चुका है। इन दो कारणों के अतिरिक्त पहली स्त्री के मर जाने पर भी दूसरा विवाह पुरुष का हो जाता है। इस प्रकार का विवाह केवल पुरुषों के लिए वर्जित नहीं है नारी के लिए ही वर्जित है। नारी एक विवाह के पश्चात् दूसरे विवाह का स्वप्न भी नहीं देख सकती। हिन्दू-शास्त्रों ने नारी को बहु विवाह की आज्ञा नहीं दी। नारी को सती बनाकर अग्नि-कुंड में स्वाहा कर देना उन्होंने पसन्द किया परन्तु दूसरा विवाह करके अपने शेष जीवन को व्यतीत करना पसन्द नहीं किया।

बहु विवाह से मानवता के सिद्धान्त को ठेस लगी और नारी-जाति का अपमान हुआ। यह अपमान की भावना व्यापक रूप से हिन्दू-समाज में फैलती चली गई और इसके कारण अनेकों कुप्रथाओं ने समाज में जन्म लिया। सबसे प्रधान वस्तु जो सामने आई वह थी सौत की डाह। यह भावना हिन्दू-समाज में विशेष रूप से पाई जाती है। यहाँ पर चाहे किसी की स्त्री जीवनपर्यन्त बीमार ही क्यों न बनी रहे परन्तु वह कभी भी यह पसन्द नहीं करेगी कि उसका पति दूसरा विवाह कर ले, किसी अन्य स्त्री को प्रेम करने लगे अथवा अपने दैनिक जीवन में साथी बना सके। चीन के सामाजिक नियमों में स्त्री पुरुष के लिए अपनी विवशता में दूसरी स्त्री खोजकर ले आती है और इस प्रकार वह अपने पति के जीवन को शुष्क नहीं होने देती।

कुछ जातियों में बहु विवाह समाज के लिए लाभदायक भी सिद्ध होता है।

भारत में कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनमें स्त्रियाँ पुरुषों के साथ खेतों में काम करती हैं और घर-गृहस्थ के भी सब कामों को संभालती हैं। ऐसी जाति के व्यक्ति दो-तीन विवाह कर लेते हैं और फिर उनकी सहायता से अपने गृह-कार्य को सुचारु रूप से चला लेते हैं। अपने कार्य-संचालन के लिए उसे ऐसे साझीदार मिल जाते हैं कि वह सुगमता से अपना कार्य-भार संभाल सकता है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। इस प्रकार का संचालन भी कोई बिरला ही कर पाता है अन्यथा जीवन में ऐसी फूट जड़ जमा लेती है कि जीवन ही नरक-तुल्य हो जाता है। बहु विवाह के कारण महाराजा दशरथ को अपने प्राण त्याग देने पड़े थे। बहु-विवाह समाज की वह बड़ी कुरीति है कि जिसका जन्म आवश्यकता के कारण होकर बाद में उसे भोग-विलास और ऐश्वर्य के लिए उपयोग किया गया।

समाज ने करवट नहीं बदली। कुरीतियाँ कम होने के स्थान पर बराबर बढ़ती ही चली गईं। बहु विवाह के पश्चात् बाल-विवाह की समस्या इस क्षेत्र में आई। बाल-विवाह की समस्या का मूल कारण मुसलमानी शासन-व्यवस्था की उच्छृंखलता थी। जब हिन्दू-लड़कियों पर दिन-दहाड़े छापे मारे जाने लगे तो उनके माता-पिताओं ने उनकी धर्म-रक्षा के लिए बाल-विवाह की प्रथा निकाली। इस प्रथा के अनुसार लड़के और लड़कियों के पैदा होने के साथ ही सम्बन्ध स्थापित कर दिये जाते थे और इस प्रकार उन्हें उस भय से मुक्त किया जाता था। यह प्रथा हिन्दू-समाज के लिए भी हानिकारक सिद्ध हुई। जिस समस्या का हल समझकर इस प्रथा का प्रचार किया गया वह समस्या तो सुलझ न सकी हाँ एक बाल-विधवाओं की नई समस्या समाज के सम्मुख आकर खड़ी हो गई। बालक नन्हें कोमल पुष्पों के समान होते हैं। न जाने कितने खिलते हैं और पूर्ण होने से पूर्व ही कुम्हलाकर समाप्त हो जाते हैं। यही दशा इन बाल-विवाहों की भी है।

हिन्दू-समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी और बंगाल में सती-प्रथा के नाम पर नारी-जाति के साथ घोर अत्याचार होने लगे। कुरीतियों की परि-स्थिति यहाँ तक गम्भीर बनी कि हिन्दू स्त्री को अपने मृतक पति की देह के साथ बाँधकर बल पूर्वक चिताओं पर जलवाया जाने लगा। बंगाल के समाज-सुधारक ब्राह्म-समाज ने इसके विपरीत विद्रोह किया और अंग्रेजों ने भी नियम बनाकर इस प्रथा को रोका।

आर्यसमाज ने विधवा-समस्या को सुलझाने में सहयोग दिया और भारत के कोने-कोने में सुव्यवस्थित विधवा-आश्रम खोल डाले। इन विधवा-आश्रमों ने हिन्दू-समाज का महान् हित किया और अनेकों घरों से तंग आकर भागी हुई विधवाओं को अपने अंक में प्रश्रय दिया। इसके फलस्वरूप अनेकों विधवाओं के जीवन नष्ट होने से बच गये और समाज द्वारा वह अपने दुबारा विवाह करा

कर आजीवन सुख-चैन की भागी बन गई। आर्यसमाज का यह कार्य हिन्दू-समाज के हित में विशेष उल्लेखनीय है परन्तु खेद है कि स्वार्थी व्यक्तियों ने इस क्षेत्र को भी नहीं छोड़ा और इन विधवा-आश्रमों में यहाँ तक बुराइयाँ आईं कि वहाँ पर विधवाएँ बिकने लगीं। प्रारम्भ में तो उससे विवाह करने वालों से उन पर आश्रम द्वारा किया गया व्यय ही माँगा गया परन्तु धीरे-धीरे इसकी मात्रा बढ़ने लगी। फिर भी आर्यसमाज ने इस सामाजिक समस्या को सुझाने में क्रियात्मक कार्य किया।

आज का समाज जागृति की ओर बढ़ रहा है। सरकारी नियमों द्वारा बहु-विवाह पर प्रतिबन्ध लगता जा रहा है। बाल-विवाह के विपरीत पहले ही 'शारदा बिल' पास हो चुका है परन्तु विधवा-विवाह आज भी पहिले की भाँति सामाजिक समस्या है। यह समस्या सर्वदा समाज को ही सुलझानी होगी क्योंकि सरकार नियम द्वारा विधवा को विवाह करने की आज्ञा-मात्र ही दे सकती है, विवाह करने पर बाध्य नहीं कर सकती।

मुस्लिम युग और भारत-67

मुस्लिम-युग पर विचार करने के लिए हम इस युग को दो भागों में विभाजित करते हैं। एक मुगल-काल और दूसरा इससे पूर्व का काल। मुगल-साम्राज्य काल से पूर्व-काल में हम अरब-आक्रमण-काल को न लेकर केवल दिल्ली के सुल्तानों के समय पर ही विचार करेंगे। दिल्ली के पठान सुल्तानों का प्रारम्भिक काल तो अपने को व्यवस्थित करने में ही व्यतीत हुआ, परन्तु जब उनका शासन व्यवस्थित हो गया तो उनका ध्यान राज्य-व्यवस्था की अन्य आवश्यकताओं की ओर भी गया।

इस काल का न्याय काज़ियों द्वारा होता था और सुल्तान पूर्णरूप से निरंकुश थे। हिन्दुओं की दशा अच्छी नहीं थी, उनके धर्म का स्थान-स्थान पर अपमान होता था और उनका धन भी सुरक्षित नहीं था। हिन्दुओं को जज़िया इत्यादि कर देने होते थे जो आज की सभ्यता में मानवता से गिरे हुए कहे जायेंगे। परन्तु इस काल में बहुत से हिन्दू राजे भी थे और उनके छोटे-छोटे राज्यों में सभ्यता और उसके पुजारी सुरक्षित और सुखी थे।

पठान काल में वास्तु-कला की भारत में पर्याप्त उन्नति हुई। कुतुबमीनार, अल्तमश का मकबरा और जौनपुर की मस्जिद इत्यादि उस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। यह सभी इस काल की वास्तु-कला के प्रतीक हैं। इन इमारतों के निर्माण में भारतीयव ास्तु-कला और पठान वास्तु-कला का सम्मि ण मिलता है। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत में इतने बड़े भवन निर्माण करने के लिए

भारतीय वास्तु-कला के विशेषज्ञों की सहायता लेना आवश्यक था और वह सहायता पठान सुल्तानों ने पर्याप्त मात्रा में ली जिसके फलस्वरूप उनमें भारतीय कला की आत्मा मिलती है।

इस काल में अमीर खुसरो जैसे कवि ने जन्म लिया जिसका स्थान आज भी हिन्दी-साहित्य के में महत्त्वपूर्ण इतिहास है। उसमें उर्दू भाषा का उदय हुआ जो आज पनपते-पनपते एक महत्त्वपूर्ण भाषा बनकर पाकिस्तान की राष्ट्र-भाषा बन गई है। स्वामी रामानुजाचार्य के शिष्य रामानन्द जी का प्रादुर्भाव भी इसी काल में हुआ और इसी काल ने कबीर जैसे सन्त कवि और विचारक को जन्म दिया। धार्मिक क्षेत्र में गुरु नानक के प्रादुर्भाव का भी यही काल है और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने भी इसी काल में जन्म लिया। इस प्रकार हमने देखा कि इस काल में उस भक्ति-सम्प्रदाय का जन्म हुआ जिसने आगे चलकर भारत की जनता के डूबते हुए हृदयों को भक्ति का आश्रय देकर जीवन प्रदान किया, प्राण-दान दिया।

इस काल के शासन का भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। समाज को मुसलमानी प्रभाव से बचाने के लिए समाज के नियामकों ने जातियों के बन्धनों को बहुत कड़ाई के साथ जकड़ दिया। इसके फलस्वरूप दिन-प्रतिदिन जातियों की संख्या बढ़ने लगी और मानव-जीवन की प्रगति रुक गई। स्त्रियों में पर्दे की प्रथा का उदय हुआ और उन्हें समाज में खुले रूप से आने के अधिकारों से वंचित कर दिया गया। भारत में मुसलमान-धर्म का भी प्रभाव बढ़ा और बहुत से भारतीयों ने इस्लाम-धर्म को अपना लिया। इस्लाम-धर्म को सहर्ष किसी ने नहीं अपनाया बल्कि उसका प्रसार जहाँ तक भी हुआ तलवार की धार पर ही हुआ है।

पठान-काल के पश्चात् भारत में मुगल-शासन आता है। यह शासन काल अनेकों दृष्टिकोण से बहुत महत्त्वपूर्ण है। मुगल-शासकों में धार्मिक सहन-शीलता, मानवता, कला-प्रियता इत्यादि की कमी न थी। यह लोग पठान शासकों की अपेक्षा अधिक शिक्षित और सभ्य थे। मुगल-शासकों में अकबर जैसे शासक भी हुए, जिन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को मिलाकर 'दीने इलाही' जैसे नवीन धर्म चलाने का भी प्रयत्न किया। जहाँगीर, जैसे शासक भी हुए, जिन्होंने वीर हकीकतराय के माता-पिता से उनकी दुःख-भरी कहानी सुनकर काजी को उसके परिवार सहित सरिता में डुबवा दिया। परन्तु साथ ही औरंजेब-जैसे शासक भी हुए जिन्होंने मन्दिर तुड़वाकर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाईं और ब्राह्मणों के यज्ञोपवीत से हमाम गर्म करवाकर स्नान किया। इस प्रकार यह काल दोनों प्रकार की भावनाओं से पूर्ण रहा है, परन्तु जहाँ अकबर की धार्मिक सहिष्हुता ने मुसलमानी शासन की नींव को पुष्ट किया, वहाँ औरंगजेब की कट्टर मुसलमानी नीति ने उसे खोखला कर डाला। अकबर ने जजिया जैसे करों से हिन्दुओं को

मुक्त करके उनके हृदयों पर विजय प्राप्त की। और औरंगज़ेब ने मन्दिरों को गिराकर शिवाजी-जैसे अपने शत्रु बना लिये।

मुगल-शासन-काल में भारत की राज्य-व्यवस्था बहुत सुदृढ़ थी और अकबर का साम्राज्य चारों ओर फैला हुआ था। प्रजा भी काफ़ी सुखी थी और देश ने कला-कौशल में पर्याप्त उन्नति की। वास्तु-कला के विचार से यह काल भारतीय मुसलमान काल का स्वर्ण-काल है। ताजमहल संसार का प्रसिद्ध भवन इसी काल में निर्मित हुआ। इसके अतिरिक्त देहली और आगरे के किले, दिल्ली का जामा मस्जिद और फतहपुर-सीकरी के विशाल भवन, लाहौर में जहाँगीर का मकबरा इत्यादि इस काल की प्रसिद्ध इमारतें हैं। इन इमारतों पर भारत को गर्व है और वास्तव में इनकी बहुत-सी विशेषताएँ आज के वैज्ञानिक युग में भी जादू-सी प्रतीत होती हैं।

तानसेन-जैसे गायक, भक्त तुलसीदास और सूर-जैसे भक्त कवि, अबुल फजल और फैजी-जैसे इतिहासज्ञ, राजा टोडरमल जैसे अर्थशास्त्र के पंडित, राजा मानसिंह जैसे योद्धा, राजा बीरबल-जैसे चतुर मतदाता इसी काल की देन हैं। भारत के राजनैतिक, आर्थिक, साँस्कृतिक धार्मिक और साहत्यिक इतिहासों में इन व्यक्तियों ने अपना-अपना सुदृढ़ स्थान स्थापित किया हुआ है। इस काल में ऊँची से ऊँची कोटि के विद्वानों ने जन्म लिया है और ऊँचे से ऊँचे सुधारकों ने। विधर्मी व्यवस्था होने पर भी धर्म-सुधारकों के मार्ग में अधिक रुकावटें नहीं आईं। शासक पहले की भाँति निरंकुश थे। इसलिए कभी-कभी जब वह अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाते थे तो समाज का अहित भी होने लगता था परन्तु उस काल में यह निरंकुशता संसार भर में व्यापक थी। केवल भारत में ही नहीं बल्कि धर्म के नाम पर यूरोप में भी निरंकुशता शासकों द्वारा रक्तपात करने में कमी नहीं छोड़ी जाती थी। विधर्मियों के झुण्ड-के-झुण्ड अग्नि-कुण्डों में स्वाहा कर दिये जाते थे। भारत में औरंगजेब के समय में कुछ-कुछ इस प्रकार की व्यवस्था मिलती है परन्तु समस्त मुसलमान-शासन-काल में नहीं।

मुसलमान शासक भारत में आये और भारत के हो गये। जब हम मुसलमान शासकों पर दृष्टि डालकर अंग्रेज शासकों पर दृष्टि डालते हैं तो हमें केवल यही अन्तर मिलता है। मुसलमानों से पूर्व जो-जो भी जातियाँ भारत में आईं वे यहाँ की सभ्यता में घुल-मिलकर अपना सभी कुछ खो बैठीं परन्तु मुसलमानों ने ऐसा नहीं किया। इन्होंने भारत की सभ्यता को तलवार की धार पर रखकर काटना चाहा परन्तु कटना इन्हें स्वयं ही पड़ा। जो धर्मावलम्बी बन भी गये उनमें भी जाट-मुसलमान, राजपूत-मुसलमान, जुलाहे-मुसलमान इत्यादि वर्ग बन गये और मुसलमानी सिद्धान्त जड़-मूल से ही नष्ट होकर भारतीय वर्ग-वाद के पीछे चल पड़ा। मुसलमानी रिवाजों पर प्रभाव अवश्य पड़ा परन्तु उसकी बाहरी रूपरेखा पर, अन्तरात्मा पर नहीं। उसकी अन्तरात्मा ज्यों-की-त्यों बनी रही।

मुसलमानी शासक चाहे अपने को हिन्दुओं से कुछ ऊँचा समझते थे परन्तु फिर भी वह अपने को भारत का शासक समझते हुए जो कुछ वे करते वह भारत के ही लिए करते थे। भारत की धन-सम्पत्ति इससे बाहर नहीं जाने पाती थी और भारत निर्धन होने से बचा रहा। परन्तु अंग्रेजी शासन-काल में भारत की सम्पत्ति भारत से बाहर जाने लगी जिसका प्रभाव भारत की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा पड़ा।

इस प्रकार हमने तुलनात्मक रूप से देखा कि आर्थिक विचार से मुसलमानी शासन-काल अंग्रेजी शासन-काल से कहीं अच्छा था, क्योंकि उस काल में भारत की धन-सम्पत्ति सुरक्षित थी और उस काल में भारत ने जो कुछ भी उन्नति की और जो कुछ भी उपार्जन किया वह भारत में ही रहा। मुसलमानों ने भारत में जो कुछ भी किया अपना समझकर ही किया।

68-अंग्रेजी शासन काल की भारत को देन

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये, ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की, धीरे-धीरे अपना आधिपत्य बढ़ाया और सन् 1857 के पश्चात् समस्त भारत के शासक बन बैठे। अंग्रेजी शासन-काल में भारत की आर्थिक दशा बिगड़ी, यहाँ की सम्पत्ति अनेकों रास्तों से देश से बाहर ले जाई गई परन्तु यह ले जाने की व्यवस्था महमूद गज़नवी-जैसी नहीं थी। भारत की जनता पर अंग्रेजों ने जादू कर दिया, भारत का जूता और भारत के सिर, और जितने दिन भी भारत में रहे बहुत ठाठ के साथ शासन किया। इस शासन-काल में अनेकों बुराइयाँ होते हुए भी इस शासन ने भारत को बहुत कुछ दिया है। भारत को अंग्रेजी शासन-काल ने क्या-क्या दिया है इसकी व्यापक व्याख्या न करके यहाँ संक्षिप्त रूप में विचार करेंगे।

सामाजिक सुधार—हिन्दू समाज में सती-प्रथा प्रचलित थी। अंग्रेजी शासन-काल में सरकारी नियम द्वारा इस कुरीति को सफलतापूर्वक रोककर मानव-जाति के मस्तक से इस कलंक को दूर किया गया। इसी काल में शारदा-बिल पास करके समाज को बाल-विवाह की कुरीति से मुक्त किया। इन दो बातों के अतिरिक्त इस काल में वैज्ञानिक प्रगति के कारण मानव जीवन प्रगतिशील बन गया और समाज के वे प्राचीन बन्धन जिनमें समाज शताब्दियों से जकड़ा पड़ा था आप-से-आप खुलते गये। समाज के सिर से छुआछूत का भूत उतरने लगा। उदाहरण-स्वरूप रेलों में यात्रा करने वाले व्यक्ति मार्ग में मोल लेकर खाना खाने लगे, स्टेशनों के नलों का पानी पीने लगे और स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थी जाति-पाँति के भेद-भावों से मुक्त होकर एक साथ भोजन करने लगे। होटल का

प्रचार बढ़ा और शाकाहारी तथा माँसाहरी भी एक ही रसोई का बना हुआ भोजन खाने लगे। इस प्रकार समाज अपनी रूढ़िवादिता को स्थिर न रख सका और प्रगतिशील बनकर उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ। समाज ने अपने को धार्मिक प्रतिबन्धों से बहुत कुछ अंशों में मुक्त कर लिया और यहाँ तक कि विवाह-सम्बन्ध भी अदालतों में होने प्रारम्भ हो गये परन्तु यह प्रथा अभी अधिक प्रचलित नहीं हो सकी है। विजातीय विवाहों की ओर भी समाज ने पग बढ़ाया परन्तु इस क्षेत्र में भी अभी अधिक प्रगति नहीं हुई। फिर भी प्रत्येक दिशा में प्राचीन शृंखलाएँ टूटीं और नवीन प्रगतियों का उदय उसमें हुआ है। प्रत्येक दिशा में ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज ने भी सामाजिक सुधार किये हैं और वह बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस काल में स्त्री-शिक्षा का भी प्रचार हुआ और उन्हें समाज में भी स्वाधीनता प्राप्त हुई।

धर्म स्थान—अंग्रेजी शासन ने भारतीय धर्मों को राजनैतिक क्षेत्र में प्रयोग करके हिन्दू और मुसलमानों की शक्ति को नियंत्रित रखा। यों साधारणतया किसी विशेष धर्म के साथ किसी विशेष प्रकार का पक्षपात नहीं किया परन्तु जब जहाँ पर जिसकी प्रबलता देखी तब वहीं पर दूसरे पक्ष को बल देकर अपनी प्रधानता बनाये रखी। धर्म के नाम पर सम-भाव प्रदर्शित करते हुए भी धार्मिक कटुता को मिटाने का वास्तविक प्रयत्न कभी भी अंग्रेजी शासन ने नहीं किया। परन्तु इसी काल में ख़िलाफ़त और काँग्रेस ने जन्म लिया। दोनों आन्दोलनों ने भारत में बहुत प्रबल रूप धारण किया और धार्मिक कटुता को मिटाने का सफल प्रयत्न किया। अंग्रेज़ी शासन काल में हिन्दू और मुसलमानों का आपसी वैमनस्य दूर नहीं हुआ। साथ ही भारत में ईसाई धर्म के प्रचार को प्रर्याप्त प्रोत्साहन मिला। ईसाई धर्म का प्रचार भी भारत में हुआ परन्तु भारत के धार्मिक रूढ़िवाद के सम्मुख वह प्रचार उच्च वर्गों में सफलतापूर्वक नहीं हो सका। अंग्रेजी शासनकाल की यह विशेषता है कि मुसलमान-शासन-काल की भाँति इस काल में शासक-वर्ग ने धर्म-प्रचार में तलवार का प्रयोग न करके प्रेम और सद्भावना का प्रयोग किया। ईसाई पादरियों ने बच्चों के लिए स्कूल खोले, औषधालय खोले, गिर्जे बनवाये, दीनों की सहायता और इसी प्रकार अनेकों प्रकार से भारतीय जनता के हृदय में घर करने का प्रयत्न किया।

वैज्ञानिक विस्तार—संसार की वैज्ञानिक प्रगति से अंग्रेजी शासकों ने भारत को पिछड़ा हुआ नहीं रहने दिया। जब योरप में रेलों का आबिष्कार हुआ तो भारत में भी रेलें चालू की गईं। यह सत्य है कि प्रारम्भ में वह रेलवे-विभाग केवल सैनिक-सुविधा के लिए चालू किया गया था परन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग जनता के लिए किया गया और इससे भारत के व्यापार ने समुचित उन्नति की। भारत में मोटरें आईं, हवाई जहाज आये, रेडियो आया, तार और बेतार के तार का प्रयोग हुआ। यह अंग्रेजी शासन-काल की देन हैं जिन्होंने भारत में भी

एक वैज्ञानिक प्रगति का संचार किया। प्रचीनता में नवीनता का प्रादुर्भाव हुआ और मानव-जीवन में एक नवीन स्फूर्ति आई। इस वैज्ञानिक विकास से मानव के ज्ञान का भी विकास हुआ और इन तीव्र गति से चलने वाले यन्त्रों की सहायता से संसार मानव के लिए गम्य हो गया। मानव-ज्ञान का विकास हुआ और भारत ने अनेकों विद्याओं में उन्नति और प्रगति की।

ललित-कला-विकास—अंग्रेजी शासन-काल में भारतीय ललित-कला के क्षेत्र में पर्याप्त विकास हुआ। भवन-कला के क्षेत्र में जो विकास मुगल-काल में दिखाई देता है, वह अंग्रेजी शासन-काल में नही हुआ। मूर्ति-कला क्षेत्र में भी अधिक विकास नही दिखाई देता। संगीत कला का विकास रेडियो के आविष्कार के कारण पर्याप्त मात्रा में मिलता है। संगीत आज जीवन की आवश्यकता बन गया है और सभ्य समाज में तो इसका विशेष स्थान है। चित्र-कला का भी इस काल में बहुत विकास हुआ है। सिनेमा के आविष्कार ने चित्र-कला को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। इस काल में भारत में बहुत से चित्रकारों ने जन्म लिया है और इस काल के राजे-महाराजाओं ने उसे बहुत अपनाया। इस काल में जो सबसे अधिक उन्नति हुई वह काव्यकला की है। काव्य-कला में नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी इत्यादि सभी क्षेत्रों में उन्नति हुई है और एक-से-एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा गया। काव्य का क्षेत्र भी पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है।

शिक्षा—अंग्रेजी शासन-काल में शिक्षा का प्रचार बढ़ा। जगह-जगह विद्यालय खुले और उनमें अनेकों प्रकार की शिक्षा के केन्द्र खुले। डॉक्टरी, साइंस, कॉमर्स, खेती-बाड़ी, टैक्नीकल, कानून, गणित, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल इत्यादि अनेकों दिशाओं में शिक्षा देने के लिए विद्यालय खुले और सरकार ने उन्हें पूरी-पूरी सहायता दी। सैनिक स्कूल भी खोले गये और उनमें भी बहुत लाभदायक शिक्षा दी जाती थी। इंजीनियरिंग के स्कूलों में भवन-निर्माण के भी केन्द्र स्थापित हुए जिनमें पढ़कर बहुत से विद्यार्थी निपुण बनकर भारत के लिए लाभदायक सिद्ध हुए। इस प्रकार शिक्षा के अनेकों क्षेत्रों में इस काल में उन्नति हुई परन्तु जिस दिशा में विशेष शिक्षा दी गई थी वह थी भारत के नवयुवकों को अंग्रेजी क्लर्क बनाने की शिक्षा। यह थी भारत को एक प्रकार से दास बनाने की शिक्षा, उसके फलस्वरूप भारत आज के युग तक दास बना रहा।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शासन-काल में भारत के राजनैतिक रूप ने भी प्रगति की, कांग्रेस के नेतृत्व में भारत आगे बढ़ा और उसने स्वाधीनता को समझा। भारत के जो व्यक्ति विलायत में गये और वहाँ जाकर उन्होंने भारत की पराधीनता को अनुभव किया, उसके फलस्वरूप भारत में भी जागृति का संचार हुआ। भारत में प्रजातन्त्र का आगमन अंग्रेजी शासन की ही देन है। अंग्रेजी ने जहां भारत से धनसम्पत्ति का हरण किया है वहाँ भारत को दिया भी

बहुत कुछ है । भारत के वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक विकास में बाधा डालकर और उन्हें समुन्नत करने में सहयोग दिया है । अंग्रेजी शासकों का दृष्टिकोण सर्वदा ही प्रगतिवादी और सुधारवादी रहा है । भारत में शासक बनकर भी उन्होंने कभी भारत की धार्मिक भावनाओं को नहीं ठुकराया, कभी भारतीय समाज का भारत में अनादर नहीं किया और भारत की उन्नति में यथायोग्य सहयोग ही दिया है । सहयोग की मात्रा इनमें मुसलमान शासकों की अपेक्षा अधिक रही । इस शासन का सबसे बड़ा अवगुण यही रहा है कि इसकी बागडोर का संचालन इंगलैण्ड में बैठकर किया गया । यदि उसकी बागडोर का संचालन भारत में ही बैठकर किया गया होता तो सम्भवत: भारत का स्वतंत्रता-संग्राम अमरीका के स्वतन्त्रता-संग्राम से किसी भी प्रकार भिन्न न होता और सम्भवत: भारत की स्वतन्त्रता उन परिस्थितियों में आज के भारत में रहने वाले अंग्रेजों के नागरिक अधिकार अधिक सुरक्षित और स्थायी होते । कुछ काल तक आपस में जो कटुता आई सम्भवत: वह भी न आती और जो इतने दिन तक हिन्दू-मुसलमानों में आपसी द्वेष बना रहा वह भी न रहता । यह भी सम्भव था कि उन परिस्थितियों में भारत को विभाजित भी न होना पड़ता और इस प्रकार अंग्रेजों को अपना बिस्तर-बोरिया लेकर जाने की आवश्यकता न होती ।

एकतन्त्र और प्रजातन्त्र शासन-69

सम्भवत: शासन-व्यवस्था का सबसे प्राचीनतम रूप एकतन्त्र शासन ही है । पहिले-पहल राज्य-संचालन का यह ढंग राजा में दैवी शक्ति का आरोप करके किया गया था । संस्कृत-शास्त्रों में राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना है । प्रारम्भ में अराजकता को रोकने के लिए 'राजा' में जितनी भी शक्तियाँ होती हैं उन सभी को एकत्रित किया गया हैं और इस प्रकार राष्ट्र को बलवान बनाकर मानव के हित की भावना को जन्म मिला । भारत के एकतन्त्र शासन का क्या प्राचीनतम रूप है उसकी कल्पना हम 'राम-राज्य' में कर सकते हैं परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारत में प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था थी ही नहीं । सिकन्दर महान् के आक्रमण-काल में वैशाली प्रजातन्त्र-राज्य था जिसमें राज-पुत्रों का निर्वाचन होता था । इसके अतिरिक्त हिन्दू-शास्त्रों के विधानों के अनुसार प्राचीनतम राज्य-व्यवस्था एकतन्त्र रूप में अवश्य मिलती है परन्तु राजा स्वेच्छाचारी नहीं होते थे और यदि राजा स्वेच्छाचारी हो जाता था तो प्रजा को अधिकार होता था कि उसे पदच्युत कर सके ।

वर्तमान युग में एकतन्त्र का अर्थ समझा जाता है स्वेच्छाचारी एकतन्त्र सत्ता

अर्थात् डिक्टेटरशिप, और प्रजातन्त्र का अर्थ है प्रजा के मत पर अवलम्बित राज्य-सत्ता। ये दोनों ही विचारधाराएँ वर्तमान युग की हैं और इनका उदय भारत से न होकर यूरोप से हुआ है। संसार के इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि संसार में सदैव ही शक्ति के लिए संघर्ष बना रहा है। यूरोप में एक काल तक धार्मिक पादरियों और सामन्तों के बीच संघर्ष चलता रहा। युरोप में धर्म-शक्ति का धीरे-धीरे ह्रास हुआ और अपने-अपने देश, अपने-अपने राजे शक्तिशाली बने। धर्म-भावना के पश्चात् साम्राज्यवाद की भावना ने बल पकड़ा और बलशाली राजाओं ने अपने यश और गौरव के लिए अन्य देशों पर आक्रमण किया और अपनी निरंकुश शक्ति के बल से अन्य देशों की मानवता को पैरों-तले रौंद डाला।

शक्ति और माया कभी स्थायी नहीं रह सकती। जिस प्रकार पोप के करों से यह शक्ति राजाओं पर आकर प्रजा के दलन का साधन बनी उसी प्रकार से इस शक्ति के अपहरण की भावना उत्पन्न हुई। क्रोमवेल जैसे नेताओं ने राजाओं के विरुद्ध विद्रोह के झंडे ऊँचे किये। रक्त की सरिताएँ प्रवाहित हो चलीं और जनता के नेताओं ने, एक दिन वह आया कि इस शक्ति को राजाओं के हाथों से छीन लिया। इस काल में यूरोप ही नहीं एशिया तक भी दो पक्षों में विभक्त हो गया, एक प्रजातन्त्रवादी और दूसरा एकतन्त्रवादी। प्रजातन्त्र के नाम पर दो महायुद्ध हो चुके हैं। सीजर हो, हिटलर हो या मुसोलिनी, सबने शक्ति-अपहरण का ही प्रयत्न किया है विजय आज तक प्रजातन्त्र की ही होती आ रही है। जनता की स्वतन्त्रप्रियता की प्रबल इच्छा को दबाना स्वेच्छाचारी एक-तन्त्रवादियों के लिए सम्भव नहीं हो सका है।

प्रजातन्त्र में शासन-शक्ति का संचालन प्रजा के चुने हुए व्यक्तियों द्वारा होता है। इसका जन्म इंगलैण्ड से हुआ और धीरे-धीरे संसार भर में फैलता गया। इब्राहीम लिंकन ने इस शासन-व्यवस्था को "Gevernment of the people, by the peolpe, and for the people कहा है "अर्थात् जनता का शासन, जनता द्वारा शासित और जनता के लिए शासित"। यह शासन नरेशों और तानाशाही के विपरीत विद्रोह था, क्रांति थी। भारत के आर्य-काल में यूनान में एथेन्स (Athens) का और स्पार्टा (Sparta) के प्राचीनतम राज-तन्त्रों में प्रजातन्त्र का प्रारम्भिक रूप मिलता है। इसका कुछ आभास हम ऊपर भी दे चुके हैं परन्तु उस काल में पार्लियामेंट का तो नाम-मात्र भी नहीं था। यह इंगलैण्ड की अपनी प्रणाली है जो वहाँ के इतिहास में किसी-न-किसी रूप में राज्य-शक्ति के ऊपर अंकुश के रूप में बनी हुई थी। स्टुअर्ट काल में (Divine right of Kingship) राजा के दैवी अधिकार के विरुद्ध क्रामवेल का सफल विद्रोह हुआ।

क्रामवैल के विद्रोह से राज्यसत्ता का तो ह्रास हुआ परन्तु क्रामवैल 'डिक्टेटर'

का जन्म हो गया। इस प्रकार हम क्रामवैल को संसार के इतिहास में सर्वप्रथय डिक्टेटर मानते हैं। इसके पश्चात् जागृति (Renissance) का युग आया ओर जनता प्रगति की ओर बढ़ी। इंगलैण्ड की पार्लियामेंट में ह्विग और टोरी दो दल बने जिन्होंने प्रजातन्त्र के विचार को और बल दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में पर्लियामेंट में सुधारों की माँग की गई और जेबी हल्के (Pocket boroughs) शाही हल्के (King boroughs) तथा उजड़े हुए हल्के (Rotten boroughs) के विरुद्ध एक जोरदार आवाज़ उठाई। सन् 1832, 1868, 1872, 1884, 1911 और 1918 में अनेकों सुधार हुए जिनके फलस्वरूप स्त्रियों को भी मत देने का अधिकार मिल गया। अन्त में पार्लियामेंट में लेबर कंजरवेटिव पार्टी का जन्म हुआ और प्रजातन्त्र धीरे धीरे अपनी वर्तमान परिस्थिति तक पहुँच गया।

प्रजातन्त्र का प्रसार धीरे-धीरे विश्व भर में होना प्रारम्भ हो गया। अमेरिका, फ्रांस और आज भारत में भी प्रजातन्त्र शासन है। चीन का प्रजातन्त्र समाप्त हो चुका। प्रजातन्त्र में लोकसभा की बहुमत पार्टी का नेता प्रधान मन्त्री होता है और वही अपना मन्त्रिमण्डल बनाकर शासन-व्यवस्था करता है। इंगलैंड में नरेश अभी तक वर्तमान है परन्तु भारत और अमेरिका में नरेश नहीं हैं। उनके स्थान पर प्रेज़ीडेण्ड होता है। यदि किसी समय अल्पमत वाली पार्टी का नेता बहुमत में आ जाय तो बहुमत वाली सरकार के विरुद्ध अविश्वास (Vote of nonconfidence) का प्रस्ताव रख सकता है। अंग्रेज़ी लोक-सभा में छोटे पिट (The younger Pitt) के कहने पर नरेश को ऐसा करना पड़ा था। इस प्रकार के शासन में शक्ति सर्वदा जनता के हाथों में रहती है। वह जब चाहे तब किसी भी पार्टी को शासन-सत्ता सौंप सकती है और जब चाहे उसे ले सकती है। उसी पार्टी को अपना मत देकर अधिक-से-अधिक संख्या में उसके सदस्य निर्वाचित करके लोक-सभा में भेज देती है। इससे बहुमत पार्टी को हर समय जनता का ध्यान रखकर कार्य करना होता है। प्रजातन्त्र-शासन-व्यवस्था में धनी और निर्धन, स्त्री और पुरुष पर वयस्क व्यक्ति को मताधिकार होता है। नागरिकता के अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। इस शासन-व्यवस्था में अदालतों को स्वतन्त्र रखा जाता है। उनको सरकारी प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयत्न किया जाता है।

आज संसार में एकतन्त्र-शासन की प्रधानता नहीं है। गत महायुद्ध से पूर्व एकतन्त्र और प्रजातन्त्र शासन संसार में समान स्थान रखते थे। जापान, इटली तथा जर्मनी में एकतन्त्र सत्ता थी और इंग्लैण्ड तथा अमेरिका इत्यादि में प्रजातन्त्र सत्ता। गत महायुद्ध ने एकतन्त्रवाद को बहुत-कुछ अंशों में समाप्त-सा ही कर दिया। आज के युग में प्रजातन्त्र और कम्यूनिज्म का बोलबाला है। समस्त संसार दो दलों में विभाजित है। संसार की प्रधान शक्तियों ने दो अखाड़े लगाये

हुए हैं। आपस में खुल कर मुठभेड़ करने का अवसर अभी तक नहीं आया है। तन्त्रवाद में आज दो पृथक्-पृथक् वर्ग हैं, एक पूँजीवादी वर्ग और दूसरा मध्य वर्ग। भारत को हम पूँजीवादी देशों में नहीं गिन सकते। भारत की दशा इस समय बहुत विचित्र है। कांग्रेस सरकार के आचरण पूँजीवादियों जैसे है। परन्तु यह प्रदर्शित नहीं करना चाहती। भारत में कम्यूनिज्म, साम्यवाद और हिन्दू-मुसलमानियत की समस्याएँ आज वर्तमान हैं। ऐसी परिस्थिति में भारत प्रजातन्त्र शासन की व्यवस्था को चला रहा है। अब देखना यह है कि यदि इस युग में कोई दूसरा महायुद्ध हुआ तो उसमें विजय किसकी होगी ? महायुद्ध की सम्भावना कम नहीं है। संसार पर आज भी महायुद्ध के बादल चारों ओर से घिरे हुए हैं। प्रजातन्त्र का भविष्य क्या होगा इसके विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसकी प्रगति में एक ऐसी व्यवस्था अवश्य है जिसका एकदम अन्त हो जाना सम्भव नहीं है। कोरिया-युद्ध विश्वव्यापी युद्ध में बदल सकता है।

70-गांधीवाद और साम्यवाद

आज का युग वादों का युग है, जिसमें गांधीवाद, प्रजातंत्रवाद, साम्यवाद, मार्क्सवाद, पूँजीवाद, कम्यूनिज्मवाद, एकतंत्रवाद इत्यादि धाराओं में संसार की शासन-व्यवस्थाएँ चल रही हैं। जिस प्रकार संसार के प्राचीन इतिहास में धार्मिक संघर्षों के कारण मानव सुख-चैन से नहीं सो सकता था और मध्ययुग में साम्राज्यवादियों की उथल-पुथल ने विश्व-शान्ति को संकट में डाल दिया था, उसी प्रकार आज के युग में भी वादों का संघर्ष चल रहा है। धर्म की व्यवस्था संघर्ष के लिए न होकर शान्ति के लिए हुई थी परन्तु परिणामस्वरूप कितना रक्तपात संसार में हुआ उन सबका उल्लेख करना यहाँ कठिन है। ठीक उसी प्रकार आज यह वाद भी अपने-अपने मूल में मानव-जीवन की शान्ति के ही उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति का सिद्धान्त लेकर चलने का प्रदर्शन करते हैं परन्तु उसका फल पारस्परिक विषमता, द्वेष, कलह और संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नहीं दे रहा।

इन वादों का जन्म कुछ देश और कालों की परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ है। दो वाद न तो एक देश में पनपे ही हैं और यदि दो वादों ने एक देश में जन्म भी लिया है तो काल और परिस्थितियों का परिवर्तन होना अनिवार्य है। जब-जब इन वादों ने किसी देश में जन्म लिया है तो उस समय उनका जन्म किसी भी प्राचीन व्यवस्था में सुधार के रूप में ही हुआ है। यह वाद सुधारात्मक होने से उस देश के नेताओं ने यह समझ लिया कि बस क्योंकि उस वाद ने उनके देश की समस्याओं का हल निकाल दिया इसलिए वही वाद समस्त संसार की

समस्याओं का हल है, उसी मार्ग पर चलकर संसार को शांति प्राप्त हो सकती है। बस, यहीं से शान्ति के स्थान पर संघर्ष की भावना का उदय होता है। आज संसार में जो कुछ भी संघर्षात्मक वातावरण मिल रहा है वह केवल इसलिए कि दो वादों में पारस्परिक तनाव है और प्रत्येक वाद अपने को संसार भर की समस्याओं का हल समझता है। रूस कम्यूनिज्म को मानव-समाज के लिए हितकर समझकर संसार भर में प्रचारित और प्रसारित करना चाहता है और अंग्रेज तथा अमरीकन प्रजातन्त्रवाद को मानव-समाज की समस्याओं का हल समझते हैं।

भारत की परिस्थिति इन तीनों देशों से भिन्न रही है। अमरीका अंग्रेजी के प्रभाव से मुक्त होकर प्रगति की ओर अग्रसर हुआ और रूस को अपने ही जोर से संघर्ष लेना पड़ा, परन्तु भारत को विदेशी शासन से संघर्ष लेना था और उस संघर्ष में उसने जिस नीति को अपनाया उसे आज के राजनीतिज्ञ गांधीवाद के नाम से पुकारते है। गांधीवाद में महात्मा गांधी के विचार और उनके सिद्धान्तों का दिग्दर्शन है। गांधीवाद के मूल में अहिंसा की भावना मिलती है और इसी अहिंसा के आधार पर गांधी जी ने अपने वाद का निर्माण किया है। अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही महात्मा गांधी ने संसार की प्रबलतम शक्ति से टक्कर ली। वह राजनीति में मन, कर्म और वचन की अहिंसा का समावेश करना चाहते थे और यही उन्होंने जीवनभर किया। उनकी राजनीति में छल के लिए स्थान नहीं था, कूटनीति के लिए स्थान नहीं था। उनका मत था कि हिंसा मानव को कायरता की ओर ले जाती है और अहिंसा प्रबलता की ओर, आत्म-शक्ति की ओर। उनका दृढ़ विश्वास था कि स्वराज्य केवल अहिंसा की आत्मिक शक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

गांधीवाद का प्रधान गुण यह है कि वह बुराई करने वाले का शत्रु नहीं वह उस मूल बुराई का शत्रु है। पापों को पाप से मुक्त करके गांधीवाद उसे सही मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता है। अंग्रेजों से संघर्ष लेते हुए भी अंग्रेज-जाति के प्रति महात्मा गांधी के मन में कभी कटुता नहीं आई। गांधीवाद में विश्व-प्रेम की भावना निहित है। अहिंसापूर्वक असहयोग करना ही गाँधीवाद का प्रधान अस्त्र है। जिसके सम्मुख न तो तोप चल सकती है न किसी प्रकार की शारीरिक और भौतिक शक्ति।

गांधीवाद में राजनैतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का समन्वय मिलता है, बस यही इस वाद की विशेषता है। आज संसार में जितने भी वाद प्रचलित हैं वह आध्यात्मिक तत्त्व से मुक्त होकर कोरे राजनीति के क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके हैं। आत्मा से उनका सम्बन्ध विच्छेद होकर केवल बाह्य संसार तक ही सीमित हो गया है। भगवान् से प्रेरित होकर आत्मा की शुद्धि करना गांधीवाद के लिए नितान्त आवश्यक है। गांधीवाद में साम्प्रदायिकता के लिए कोई

स्थान नहीं। इसी समस्या का हल करने में महात्मा गांधी ने अपने जीवन का बलिदान दे दिया।

गांधीवाद में घरेलू धंधों का पक्षपात और बड़ी-बड़ी कलों के प्रति उदासीनता मिलती है। गांधी जी का मत था कि मशीनें मानव को बेकारी की ओर घसीटती हैं। गांधी जी ने कहा भी है, "लाखों जीवित मशीनों को बेकार बनाकर निर्जीव मशीनों का प्रयोग करना मानव-जाति के प्रति अनर्थ करना है।' इसलिए गांधी जी ने चर्खा संघ की स्थापना करके खद्दर को प्रोत्साहन दिया। गांधी जो हस्त-कला और ग्रामोन्नति के पक्षपाती थे वह भारत की आर्थिक उन्नति के मूल में ग्रामोद्योग को मानते थे।

गांधीवाद में साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरोधी भावना प्रबल रूप से मिलती है। गांधी जी पूँजीपतियों द्वारा भोग-विलास और जनता के धन का अपव्यय करना सहन नहीं कर सकते थे। इस प्रकार के आचरण को वह 'चोरी' कहते थे। गांधीवाद पूँजीवाद को मिटाना नहीं चाहता था परन्तु उनको केवल कोषाध्यक्ष के रूप में देखना चाहता था।

शिक्षा के क्षेत्र में गांधीवाद के अन्तर्गत मौलिक शिक्षा (Basic Educaition) आती है। मौलिक शिक्षा द्वारा गांधी जी भारत से अविद्या और दरिद्रता को भगाना चाहते थे। साथ ही गांधीवाद में छुआ-छूत और पारस्परिक घृणा के लिए कहीं पर स्थान नहीं है। गांधी जी ने हरिजन आन्दोलन किया और उसके द्वारा हिन्दू-जाति को खण्ड-खण्ड होने से बचाया। गांधीवाद ने पाश्चात्य-सभ्यता का विरोध और भारतीय-सभ्यता के मूल में भारत और भारतीय समाज की मुक्ति का समावेश किया है। गांधीवाद में राजनीति, धर्म, समाज सभी कुछ आ जाते हैं। भारत के सभी क्षेत्रों पर गांधीवाद का प्रभाव हुआ है।

साम्यवाद या मार्क्सवाद किसी-न-किसी रूप में आज संसार भर में फैला हुआ है। इटली, जर्मनी और जापान में इसका घोर विरोध हुआ परन्तु इसकी प्रगति को वह न रोक सके। साम्यवाद समाजवाद की तीव्र प्रगति का दूसरा नाम है। भारत में भी आज का इसका प्रभाव स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। सम्भावना गांधीवाद में भी मिलती है, परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि गांधीवाद का मूल स्रोत अहिंसा से जन्म लेकर चलता है। और साम्यवाद में बोलशेविज्म और हिंसा को भी अपनाया जा सकता है। समाजवाद में शासक का कर्त्तव्य है कि राष्ट्र की सम्पत्ति का सम विभाजन करे और राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ-न-कुछ काम पर लगाये। साम्यावद में व्यक्ति का राष्ट्र में एकीभाव होना आवश्यक है। साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुकूल कार्य दिया जाता है। इस व्यवस्था में कोई निठल्ला नहीं बैठ सकता। राष्ट्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने राष्ट्र के किसी भी व्यक्ति को भूखा, नंगा या किसी अभाव को अनुभव करता हुआ न देखे। कार्ल मार्क्स ने सर्वप्रथम पूँजीवाद

के विरुद्ध इस वाद को जन्म दिया। मार्क्स ने संसार भर के श्रमजीवी समुदायों को संगठित करने का प्रयत्न किया। साम्यवाद पूँजीपतियों और निठल्लों का कट्टर शत्रु है और हड़ताल इसका प्रधान अस्त्र है। साम्यवाद के इस हड़ताल वाले प्रधान अस्त्र को कुछ अवसरों पर गांधीवाद ने भी अपनाया है और उससे गांधीवादी आन्दोलनों को बल भी मिलता है। भारत में साम्यवादी नेताओं ने गांधीवादी अस्त्रों को भी अपनाया है और उसके द्वारा अपने आन्दोलनों में बल प्राप्त किया है। इस वाद का प्रधान प्रचार संसार में लेनिन और ट्राटस्की द्वारा किया गया। पूँजीपति सत्ताओं ने इस शक्ति को रोकने का भरसक प्रयत्न किया है परन्तु वह इसे रोकने में बराबर असफल रही हैं ओर वही संघर्ष आज भी चल रहा है। साम्यवाद की समस्या मानव-जीवन के मूल में निहित है इस-लिए इसका हल इतनी सुगमता से नहीं हो सकता। यूरोप में रूस के अतिरिक्त अन्य देशों में साम्यवाद का प्रचार हुआ। प्रारम्भ में इटली में मुसोलिनी और चीन में च्यांगकाई शेक ने इसे कुचल दिया परन्तु आज चीन में साम्यवाद का आधिपत्य है। फ्रांस में 1939 में महायुद्ध के पश्चात् साम्यवाद का लीडर मानशरव्लम एक बार वहाँ का शासक बन गया।

कुछ व्यक्ति साम्यवाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनका मत है कि साम्यवाद के मूल में ईर्ष्या और द्वेष की भावना निहित है। प्रतिशोध लेने के लिए यह पागल मनोवृत्ति से काम लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि साम्यवाद श्रेणी-युद्ध को जन्म देकर मानव-संघर्ष की ओर असर करता है। गांधीवाद संघर्ष से मानव को खींचकर शान्ति की ओर ले जाता है, तृप्ति की ओर ले जाता है और साम्यवाद मानव में आवश्यकताओं का उदय करके उसे संघर्ष-मूलक बनाता है। साम्यवाद मानव की स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के मार्ग में बाधक बन जाता है। मानव मानव न रहकर एक मशीन का पुर्जा बन जाता है और अपनी स्वतंत्र सत्ता का सर्वनाश करके रोटी और कपड़े के ही चक्कर में फँस जाता है। वहाँ आत्मा निष्ठुर हो जाती है, मस्तिष्क स्वार्थी हो जाता है और बल द्वारा अपहरण की भावना से प्रेरित होकर मानव युद्ध और संघर्ष की ओर अग्रसर हो जाता है। साम्यवाद की भावना अपने पूर्ण विकास पर पहुँचकर एकतंत्रवाद का ही दूसरा रूप बन जाती है। इस प्रकार गांधीवाद और साम्य-वाद के मूल तत्त्वों में आकाश-पाताल का अन्तर है। यहाँ दोनों के मूल तत्त्वों का स्पष्टीकरण हमने इसलिए किया है कि विद्यार्थी दोनों को न समझ कर एकता की भावना का कभी-कभी समावेश दोनों में करने लगते हैं। गाँधीवाद बुद्धि-पक्ष के साथ हृदय-पक्ष का सामंजस्य करके चलता है और साम्यवाद कोरा बुद्धि-पक्ष वादी है। गांधीवाद में प्राचीन के प्रति सद्भावना, सहानुभूति और सम्मान है तथा साम्यवाद में प्राचीनता के प्रति घृणा, असम्मान और उपेक्षा है। साम्यवादी कलवादी है और गाँधीवाद मानववादी; बस यही दोनों का मूल

अन्तर है। आने वाले भविष्य में जनता की रुचि साम्यवाद की ओर है, इसमें कोई सन्देह नहीं परन्तु भारत की वर्तमान परिस्थितियों में साम्यवाद कहाँ तक उसकी समस्याओं का हल निकाल सकता है यह प्रश्न विचारणीय है। पराधीनता के गहन गर्त से भारत को उबारकर जो वाद वर्तमान परिस्थिति तक लाया है वही भारत की समस्याओं का सही हल खोज सकता है क्योंकि भारत-राष्ट्र की गिरावटों के मूल तत्त्वों को उसी ने भली प्रकार अध्ययन किया और समझा है।